

स्थापित : १९२६

वीर सेवा मन्दिर

२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मन्दिर उत्तर भारत का अग्रणी जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व एवं दर्शन शोध संस्थान है जो १९२६ से अनवरत अपने पुनीत उद्देश्यों की सम्पूति में संलग्न रहा है। इसके पावन उद्देश्य इस प्रकार हैं :—

- ☐ जैन-जैनेतर पुरातत्त्व सामग्री का संग्रह, संकलन और प्रकाशन।
- ☐ प्राचीन जैन-जैनेतर ग्रन्थों का उद्धार।
- ☐ लोक हितार्थ नव साहित्य का सृजन, प्रकटीकरण और प्रचार।
- ☐ 'अनेकान्त' पत्रादि द्वारा जनता के आचार-विचार को ऊँचा उठाने का प्रयत्न।
- ☐ जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक अनुसंधानादि कार्यों का प्रसाधन और उनके प्रोत्तेजनार्थ वृत्तियों का विधान तथा पुरस्कारादि का आयोजन।

विविध उपयोगी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी एवं अंग्रेजी प्रकाशनों; जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक शोध-अनुसंधान; सुविशाल एवं निरन्तर प्रवर्धमान ग्रन्थागार; जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास एवं पुरातत्त्व के समर्थ अग्रदूत 'अनेकान्त' के निरन्तर प्रकाशन एवं अन्य अनेकानेक विविध साहित्यिक और सांस्कृतिक गति-विधियों द्वारा वीर सेवा मन्दिर गत ४८ वर्ष से निरन्तर ध्वजारत रहा है एवं उत्तरोत्तर विकासमान है।

यह संस्था अपने विविध क्रिया-कलापों में हर प्रकार से आपका महत्वपूर्ण सहयोग एवं पूर्ण प्रोत्साहन पाने की अधिकारिणी है। अतः आपसे सानुरोध निवेदन है कि :—

१. वीर सेवा मन्दिर के सदस्य बनकर धर्म प्रभावनात्मक कार्यक्रमों में सक्रिय योगदान करें।
२. वीर सेवा मन्दिर के प्रकाशनों को स्वयं अपने उपयोग के लिए तथा विविध मांगलिक अवसरों पर अपने प्रियजनों को भेंट में देने के लिए खरीदें।
३. त्रैमासिक शोध पत्रिका 'अनेकान्त' के ग्राहक बनकर जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास एवं पुरातत्त्व के शोध-अनुसंधान में योग दें।
४. विविध धार्मिक, सांस्कृतिक पर्वों एवं दानादि के अवसरों पर महत् उद्देश्यों की पूर्ति में वीर सेवा मन्दिर की आर्थिक सहायता करें।

—गोकुल प्रसाद जैन, सचिव :

प्राचीन जैन साहित्य
की

समृद्ध परम्परा

प्राचीन जैन साहित्य का क्षेत्र प्रति विस्तृत है। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश कन्नड़, तमिल, गुजराती, मराठी हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं में निबद्ध इस साहित्य की अजस्र धारा प्रति प्राचीन काल से अद्यावधि अविच्छिन्न रूप से ब्रह्मिणी चली आ रही है। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों का साहित्य प्रायः भिन्न है।

महावीर से पूर्व का साहित्य

चौदह 'पूर्व', उत्पादपूर्व आदि। महावीर से पश्चात् का साहित्य आचाराङ्ग आदि बाहर अंग। 'दृष्टिवाद' नाम के बारहवें अंग में चौदह पूर्वों का समावेश था किन्तु उसकी परम्परा समाप्त हो गयी।

अर्धमागधी जैनगम

इनकी संख्या ४५ है—११ अंग, १२ उपांग, ६ छेद-सूत्र, ४ मूल सूत्र, १० प्रवीर्णक एवं २ जूलिका सूत्र। इन सब पर जब जो रचनाएँ लिखी गईं वे हैं—निर्युक्ति, माष्य, जूलिणी और टीका।

शौरसेनी जैनगम

उपर्युक्त जैनगम श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित है। दिगम्बर परम्परा का मूलगम 'षट्खण्डागम' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी रचना आचार्य धरसेन के शिष्य आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने की। दिगम्बर आम्नाय के अनुसार समस्त जैनगम चार भागों में विभक्त है—प्रथमानुयोग (पुराण-कथा), करणानुयोग (उद्योतिष-गणित), चरणानुयोग (आचारशास्त्र) तथा द्रव्यानुयोग। इन चारों अनुयोगों का अपार साहित्य उपलब्ध है।

तत्पश्चात् आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व से जैन साहित्य का आधुनिक युग प्रारम्भ होता है।

□

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक-मण्डल उत्तरदायी नहीं है।

—सम्पादक

श्रीम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३१
किरण १

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण संवत् २५०४, वि० सं० २०३४

{ जनवरी-मार्च
१९७८

श्री महावीर-स्तवन

प्रशान्तं दर्शनं यस्य सर्वभूताऽभयप्रदम् । मांगल्यं च प्रशस्तं च शिवस्तेन विभाव्यते ॥
जगन्नेकावस्थं युगपदखिलाऽनन्विषयं, यदे तत्प्रत्यक्षं तव न च भवान् कस्यचिदपि ।
अनेनैवाऽचिन्त्य-प्रकृति-रस-सिद्धेस्तु विदुषां, समीक्ष्येतद्द्वारं तवगुण कथोक्तावयमपि ॥
नाऽर्थान् विवित्ससि न वेत्स्यसि ना, ऽप्यवेत्सीनं ज्ञातवानसि न तेऽच्युत ! वेद्यमस्ति ।
त्रैकाल्य-नित्य-विषमं युगपच्च विश्वं, पश्यस्यचिन्त्य-चरिताय नमोऽस्तु तुभ्यम् ॥

दूरामाप्तं यदचिन्त्य-भूतिज्ञानं त्वया जन्मजराऽन्तकृतं ।

तेनाऽसि लोकानभिभूय सर्वान्सर्वज्ञ ! लोकोत्तमतामुपेतः ॥

क्रियां च संज्ञान-वियोग-निष्फलां क्रियाविहीनं च विबोधसंपदम् ।

निरस्यता क्लेशसमूह-शान्तये त्वया शिवाया लिखितेन पद्धतिः ॥

य एष षड्जीव-निकाय-विस्तरः परैरनालीढ पथस्त्वयोदितः ।

अनेक सर्वज्ञ-परीक्षण-क्षमास्त्वयि प्रसादोदय सोत्सवाः स्थिताः ॥

—सिद्धसेनाचार्यः

अर्थ—जिनकी प्रशान्त मूर्ति के दर्शन मात्र से समस्त प्राणी अभय प्राप्त करते हैं, वह भगवान् प्रशस्त मंगलरूप एवं कल्याणमयी शोभायमान हैं ।

अखिल विश्व के अनन्त विषय और उनकी समस्त पर्यायों जिसके प्रत्यक्ष हैं, अन्य किसी को नहीं, और प्रकृति-रस-सिद्धविद्वानों के लिए भी जो अचिन्त्य है, ऐसे उक्त सर्वज्ञद्वार की समीक्षा करके मैं आपका गुणगान करने को उत्सुक हुआ हूँ ।

विश्व के त्रिकालवर्ती समस्त साकार-निराकार, व्यक्त-अव्यक्त, सूक्ष्म-स्थूल, दृष्ट-अदृष्ट, ज्ञात-अज्ञात, व्यवहित-अव्यवहित आदि षडार्थ अपनी अनेक अनन्त पर्यायों सहित आप को युगपत् प्रत्यक्ष हैं, हे भगवान् अच्युत ! आपको नमस्कार हो !

हे सर्वान्सर्वज्ञ ! कठिनाई से प्राप्त होने वाले अचिन्त्य तत्त्वज्ञान द्वारा आपने जन्म-जरा-मृत्यु को जीत कर लोक को अभिभूत किया और लोकोत्तमता प्राप्त की ।

हे प्रभु ! आपके सन्मार्ग में सम्यग्ज्ञानरहित क्रिया को तथा क्रियाविहीन ज्ञान को क्लेश समूह की शान्ति और शिवप्राप्ति के अर्थ निष्फल बताया है ।

हे वीर जिन ! छः काय के जीवों का जो विस्तार आपने प्रतिपादित किया है, वंसा कोई अन्य नहीं कर सका । अतएव जो लोग सर्वज्ञत्व की परीक्षा करने में समर्थ हैं, वे बड़े प्रसन्न चित्त से आपके भक्त बने हैं ।

□□□

मध्यप्रदेश की जैन तीर्थस्थली : मक्सी पार्श्वनाथ

□ डा० सुरेन्द्रकुमार शर्मा, उज्जैन

भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान है, और हर धर्म में तीर्थ यात्रा की महत्ता प्रतिपादित की गई है। तीर्थ यात्रा से अनुयायी वर्ग में भक्ति भाव का प्रादुर्भाव होता है और आत्मा की शांति प्राप्त होती है। ये किसी प्राकृतिक सुषमा की महत्ता के कारण शांत स्थान में निमित्त होते हैं। “तीर्थ” शब्द “तृ” धातु से निकला हुआ है, अर्थात् जिसके द्वारा अथवा जिसके आधार से तरा जाय। जिन-सेनकृत “आदि-पुराण” में आता है कि जो इस असार ससार समुद्र से पार करे उसे तीर्थ कहते हैं। महा जिनन्द्र का आरूपान श्रवण किया जाता है। जैन धर्म में तीर्थ स्थान उस स्थान को कहते हैं जहाँ तीर्थंकरों ने गर्भ, जन्म, अभिनिष्क्रमण, केवल-ज्ञान और निर्वाण कल्याण में से कोई कल्याणक हुआ हो अथवा किसी तपस्वी मुनि को केवलज्ञान या निर्वाण प्राप्त हुआ हो।

दिगम्बर समाज में तीन प्रकार के तीर्थ क्षेत्र प्रसिद्ध हैं :—

(१) सिद्ध क्षेत्र (जहाँ निर्वाण प्राप्त किया गया हो)

(२) कल्याणक क्षेत्र।

(३) अतिशय क्षेत्र।

प्रथम कोटि में वे क्षेत्र आते हैं जहाँ तीर्थंकर या किसी तपस्वी मुनिराज का निर्वाण हुआ हो जैसे कैलाश, जवा, पावा, ऊज्यंत और सम्भेद शिखर।

दूसरे में हैं जहाँ किसी तीर्थंकर का गर्भ, जल, अभिनिष्क्रमण और केवल-ज्ञान कल्याणक हुआ है।

तीसरे अतिशय क्षेत्र है जहाँ किसी मन्दिर में या मूर्ति में कोई चमत्कार दिखाई दे, तो वह अतिशय क्षेत्र कहा जाता है।

तीर्थ क्षेत्र की यात्रा से पापों का क्षय और पुण्य का संचय होता है, आत्मशुद्धि होती है और बीतराग मुनियों के पावन चरित्र का श्रवण करके उसे हम अपने जीवन में उतारने का संकल्प लेते हैं।

जैन धर्म में तीर्थ स्थान पर मूर्तियों की प्रतिष्ठा एवं उनका पूजन अति प्राचीन काल से प्रचलित है। तीर्थों पर मन्दिरों का निर्माण किया जाता है एवं मूर्तियों की प्रतिष्ठा की जाती है।

मध्यप्रदेश में जैन पुरातत्त्व का अक्षय भंडार

मध्यप्रदेश भारत वर्ष के मध्य में स्थित, क्षेत्रफल की दृष्टि से सबसे बड़ा प्रदेश है। इसमें अति प्राचीन जनपद अवन्ती प्रदेश है और इसकी राजधानी उज्जयिनी थी। इसे ही सातवीं शताब्दी से ‘मालवा’ कहने लगे। प्राचीन काल से ही अवन्ती प्रदेश में नदी-तटों, वनों के सुरम्य वातावरण में बीतराग योगी आत्मा के उत्थान के लिए ध्यानलीन रहा करते थे—पावागिरि, सिद्धवरकूट, चूलगिरि, उज्जयिनी ऐसे ही प्राकृतिक सुषमा के प्रमुख तीर्थ हैं।

मालवा प्रदेश में अतिशय क्षेत्र तो प्रसिद्ध है ही, परन्तु कला, पुरातत्त्व एवं इतिहास की दृष्टि से भी अनेक स्थल महत्त्वपूर्ण हैं। तीर्थंकरों की प्रतिमाओं, मानस्तंभ, मन्दिर, प्रकोष्ठ, जैन ग्रन्थ व जैन चित्रों से ऐसे स्थल अपने आप में तीर्थों जैसे महत्त्वपूर्ण स्थल हो गये हैं। उज्जैन में तो जैन धर्म का विकास मौर्य युग (ईसा पूर्व २०० वर्ष) से ही हो गया था। कसराबद, महेश्वर, सामेर, उज्जैन, मक्सी, कायथा, उन्हेल, झारड़ा, खाचरोद, पानबिहार, हासामपुरा, बदनावर, इन्दौर व सोडंग, करेड़ी, सखेड़ी, पचौर, जामनेर, अंदार, छाष्टा, साजापुर, गुजालपुर, भागर आदि ऐसे स्थान हैं जहाँ जैन पुरातत्त्व प्रभूत मात्रा में है व जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएं, धातुयंत्र, मन्दिर अवशेष एवं हस्तलिखित ग्रन्थ सुरक्षित हैं।

गुना, बदनायर, ईसागढ़, छाष्टा, सुसनेर, उदरसी, पचौर आदि स्थानों की सुन्दर तीर्थंकर प्रतिमाएं दिगम्बर जैन पुरातत्त्व संग्रहालय, जयसिंहपुरा, उज्जैन में सुरक्षित हैं। यह संग्रहालय भारत के जैन संग्रहालयों में प्रमुख

१. डा० वि० श्री वाकणकर : मालवा के जैन पुरावशेष, श्री महावीर स्मारिका, पृ० ३४-४०

(देखिए लेखक द्वारा लिखित दिगम्बर जैन मूर्ति संग्रहालय, जयसिंहपुरा का परिचय, पृ० १०)

है, क्योंकि जैन पुरातत्त्व की दृष्टि से मध्यप्रदेश प्रमुख है; और किसी भी प्रदेश में जैन पुरातत्त्व इतनी प्रचुरता से नहीं मिलता है। यहाँ का जैन पुरातत्त्व प्रचुरता की दृष्टि से ही नहीं, ऐतिहासिक और कला की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण माना जाता है। डॉ० वाकणकर ने मालवा से प्राप्त लगभग साढ़े तीन सौ जैन अभिलेख नये खोजे हैं^१। इसके अतिरिक्त, जैन तीर्थंकर मूर्तियों, शासन देवी-देवताओं की मूर्तियों, मन्दिर, स्तंभ व हस्तलिखित ग्रन्थ व दुर्लभ जैन चित्रकला के प्रमाण इस मालव प्रदेश में असंख्य भरे हुए हैं।

मालवा में जैन धर्म का प्रारम्भिक विकास ईसा पूर्व ३री शताब्दी में हो गया था, यद्यपि वह बौद्ध धर्म की भांति उन्नत न था। श्रीमती स्टीवेन्सन का मत है कि महावीर भगवान ने अपने समय में उज्जैन में कठोर तपस्या की थी। इसमें रुद्र ने बाधा पहुँचाई थी^२। जैन परम्पराओं में चंड प्रचीत को जैन धर्मानुयायी कहा गया है और उसने जीवन्त स्वामी की महावीर प्रतिमा उज्जैन, विदिशा व दशपुर में स्थापित की थी।

मालवा में अशोक के पौत्र संप्रति ने जैन धर्म का अत्यधिक प्रचार एवं प्रसार किया। इस शासक ने जैन धर्मार्थ अग्र्यं सुहृत्ति से दीक्षा ग्रहण की थी। संप्रति ने मालवा में अनेक जैन मन्दिर बनवाये और मूर्तियों की प्रतिष्ठा की। उसने अनेक सघों को प्रश्रय दिया व तीर्थों में निर्माण कार्य किया। महेश्वर के निकट कसराबद उत्खनन से ई० पू० दूसरी शताब्दी का 'निषटस बिहारे दीये' एक पात्र पर लिखा मिला है, जिससे कतिपय इतिहासकार यह कहते हैं कि यह प्रमाणित है कि मालवा में मौर्यकाल में जैन निर्ग्रन्थ साधु निवास करते थे।^३ (के.सी. जैन : मालवा अदि एजेड, पृ० ७८)। बाद के शुंग सातवाहनकाल में सिद्ध सेन दिवाकर ने मालवा में जैन धर्म का प्रसार किया। गुप्त काल में जैन धर्म का केन्द्र विदिशा बना और यहाँ पर जैन तीर्थंकर प्रतिमाओं की स्थापना की गई। यहाँ से ४थी-५वीं शताब्दी की जैन तीर्थंकर प्रतिमायें रामगुप्त

द्वारा निमित मिली हैं।

मध्यप्रदेश में मध्यकाल की जैन मूर्तियाँ प्रचुर संख्या में मिलती हैं। यहाँ के अनेक क्षेत्रों की स्थापना इसी काल में हुई। यह मालवा में परमार नरेशों का शासन-काल था जो लगभग ५०० वर्षों तक रहा, अर्थात् ६५० ई० से १५५० ई० तक रहा। इस काल में प्रमुख नरेश मुंज, भोज, उदयसिंह, भजयपाल देव प्रमुख थे। इन सहिष्णु नरेशों ने जैन धर्म के उत्थान में अभूतपूर्व योगदान प्रदान किया।

परमार काल में मालवा में जैन धर्म का पर्याप्त समुन्नत विकास हुआ। इसी काल में यहाँ का डग-मग पुरातत्त्व जैन धर्म मंडित हुआ। यद्यपि परमार नरेश ब्राह्मण धर्म के अनुसरणकर्ता थे, परन्तु उन्होंने जैन धर्म के उत्थान व प्रसार में अभूतपूर्व योग प्रदान किया। परमार नरेशों ने जैन विद्वानों को राज्याश्रय दिया। उज्जैन व चारा नगरी जैन आचार्यों के स्थायी स्थान बने और जैन आचार्यों ने बहुत बड़ी संख्या में जनता को जैन धर्म की ओर आकर्षित किया। अनेकों जैन मन्दिर इस काल में बने और उनमें मूर्तियों की स्थापना की गई। इसी काल में अनेक जैन तीर्थों की नींव पड़ी और जैन आचार्यों ने पूर्ण परम्परा से प्रसिद्ध चले आते हुए स्थानों की महत्ता बताई व वहाँ पर तीर्थों का समारम्भ हुआ।

परमार नरेश वाकपति मुंज ने जैन आचार्य अमित-गति, महाक्षेत्र, धनपाल व धनेश्वर को राज्याश्रय प्रदान किया। परमार नरेश भोजदेव ने प्रभाचन्द्र भूति को सम्मान प्रदान किया और धनपाल ने "तिलकमंजरी" ग्रन्थ रचा। सूर्याचार्य व देवभद्र ऐसे जैन आचार्य थे जिनका भोज के दरबार में आदर किया जाता था। साथ ही नयनन्दि, जिनवर सूरि अन्य जैन कवि थे, जिन्हें आदर प्राप्त था।

मक्सी पाखंडनाथ का मन्दिर उज्जैन से ३८ कि० मी० और इन्दौर से ७२ कि० मी० उत्तर दिशा में स्थित है। यह एक अमत्कारी जैन तीर्थ है जहाँ पर किवदति [शेष पृष्ठ १२ पर]

१. जैन सेमिनार १९७६ में पठित अपना घोषपत्र।

२. स्टीवेन्सन : दि हार्ट आफ जैनियम, पृ० ३३।

३. इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भाग २५, पृ० २२।

मध्ययुग का एक अध्यात्मियां नाटक

□ डा० प्रेमसागर जैन

कवि बनारसीदास ने 'नाटक समयसार' की रचना की थी। वे अपने युग के प्रख्यात साहित्यकार थे। यद्यपि उनका जन्म एक व्यापारी कुल में हुआ था, किन्तु वे अपने भावाकुल अन्तर मानस का क्या करते, जो सदैव कविता के रूप में प्रस्फुटित रहने के लिए व्याकुल रहता था। उन्होंने पन्द्रह वर्ष की आयु में ही एक 'नवरस रचना' लिख डाली, जिसमें एक हजार दोहे-चोपाइयाँ थी। इस रचना में भजे ही 'आसिखी का विसैस वरनन' था, किन्तु काव्य-कला की दृष्टि से वह एक अछछा काव्य था। इसका प्रमाण है। एक दिन, जब बनारसीदास ने उस कृति को गोमती में बहा दिया तो सहृदय मित्र हा-हा करते हुए घर लौटे। बनारसीदास की दूसरी कृति 'नाममाला' एक छोटा-सा शब्दकोश है। इसमें १७५ दोहे हैं। उसका मुख्य आधार घनञ्जय की नाममाला है। किन्तु, इसमें केवल संस्कृत का ही नहीं, अपितु प्राकृत और हिन्दी का भी समावेश है। अतः यह एक मौलिक कृति है। हिन्दी में इतना सरस शब्दकोश अन्य नहीं है। आगरे के दीवान जगजीवन ने वि० सं० १७०१ में बनारसीदास की ६५ मुक्तक रचनाओं को एक ग्रन्थ के रूप में संकलित कर दिया था। उसका नाम रखा था 'बनारसी विलास'। यह ग्रन्थ बम्बई और जयपुर से प्रकाशित हो चुका है। बनारसीदास का 'आत्मचरित' अर्धकथानक के नाम से प्रसिद्ध है। बनारसीदास चतुर्वेदी ने उसे हिन्दी का पहला आत्मचरित माना है और इस दृष्टि से वह हिन्दी साहित्य की एक महत्वपूर्ण धरोहर है। 'नाटक समयसार' बनारसीदास की सशक्त रचना है। सशक्त इसलिए कि उस युग की 'अध्यात्ममूला भक्ति' में वह अनुपम है। उसका कोई सानो नहीं, तुलना नहीं। अभिव्यक्ति परिमाजित है, तो स्वाभाविक भी। इसका निर्माण आगरे में वि० सं० १६६३, आश्विन सुदी १३, रविवार के दिन हुआ था। उस समय

बादशाह शाहजहाँ का राज्य था। इस कृति में ३१० सोरठा-दोहे, २४५ सर्वव्या-इकतीसा, ८६ चोपाइयाँ, ३७ तेईसा-सर्वव्या, २० छप्पय, ७ अडिल्ल और ४ कुण्डलियाँ हैं।

नाटक समयसार का पूर्वाधार

'नाटक समयसार' का मूलाधार था आचार्य कुन्दकुन्द का 'समयसार पाहुड'। आचार्य कुन्दकुन्द विक्रम सवत् की पहली शती में हुए हैं। उनके रचे हुए तीन ग्रन्थ—समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। जैन परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् की भाँति ही पूजे जाते हैं। श्री देवसेन ने वि० सं० १९०० में अपने दर्शनसार नाम के ग्रन्थ में लिखा है कि यदि कुन्दकुन्दाचार्य ने ज्ञान न दिया होता तो आगे के मुनिजन सम्यक् पथ को विस्मरण कर जाते। श्रुतसागर सूरिकृत 'षट्प्राभूत' की टीका के अन्त में उनको 'कलिकाल सर्वज्ञ' कहा गया है। चन्द्रगिरि और विन्ध्यगिरि के शिलालेखों में उनकी अत्यधिक प्रशंसा की गई है। 'समयसार' अध्यात्म का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। अपने स्वभाव और गुण-पर्यायों में स्थिर रहने को 'समय' कहते हैं। जैन माध्यतानुसार छः द्रव्य 'समय' सज्ञा से अभिहित होते हैं, क्योंकि वे सदैव अपने गुण-पर्यायों में स्थिर रहते हैं। इनमें भी आत्मद्रव्य जायक होने के कारण मारभूत है। उसका मुख्यतया विवेचन करने से इस ग्रन्थ को समयसार कहते हैं। इसमें प्राकृत भाषा में लिखी गई ४१५ गाथाएँ हैं। इसका प्रकाशन बम्बई, बनारस और मारीठ आदि कई स्थानों से हो चुका है।

इन प्राकृत गाथाओं पर आचार्य अमृतचन्द्र ने वि० सं० की ६वीं शती में 'आत्मस्थिति' नाम की संस्कृत टीका कलशों के रूप में लिखी। आचार्य अमृतचन्द्र प्रसिद्ध टीकाकार थे। उन्होंने केवल समयसार की ही नहीं, अपितु पंचास्तिकाय और तत्त्वसार की भी टीकाएँ लिखी हैं।

टीका की विशेषता है कि उसका मूल ग्रन्थ के साथ पूर्ण तादात्म्य होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि भ्रमृतचन्द्र ने आचार्य कुन्दकुन्द की प्रतिमा में धुसकर ही इस टीका का निर्माण किया हो। आचार्य भ्रमृतचन्द्र विद्वान् थे और कवि भी, कवि प्रतिभा उनमें जन्मजात थी, किन्तु आत्मख्याति टीका, टीका है, अतः उसे अपने मूल ग्रन्थ समयसार पाहुड का सही प्रतिनिधित्व करना चाहिए था, वह उसने किया है। शायद इसी कारण उसमें दार्शनिकता ही मुख्य है। उसमें कवि का भावसकुलता का समन्वय नहीं हो सका। आचार्य भ्रमृतचन्द्र ने जिन ग्रन्थों का निर्माण किया है, वे भी दार्शनिक ही हैं। 'तत्त्वसार' और 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' उनकी मौलिक कृतियाँ हैं।

विक्रम संवत् की १७वीं शती में ५० राजमल्ल ने 'समयसार' पर 'बालबोधिनी' नाम की टीका लिखी, जो हिन्दी गद्य में थी। ये ढूँढाहड़ प्रदेश के बरौटनगर के रहने वाले थे। अतः उनकी मातृभाषा ढूँढारी हिन्दी है। हिन्दी गद्य के इतिहास में उनका गौरवपूर्ण स्थान है।

५० राजमल्ल की विद्वत्ता की ख्याति चतुर्दिक् व्याप्त थी। वे संस्कृत और प्राकृत के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनका व्यक्तित्व भी आकर्षक और समुन्नत था। विद्वत्ता के समन्वय ने उसे और भी निखार दिया था। किन्तु, अर्धकथानक में लिखा है कि इस टीका को पढ़कर बनारसीदास को 'आत्मा' के विषय में भ्रम हुआ था। इसका अर्थ यह हुआ कि ५० राजमल्ल जो 'समयसार' का सही अर्थ नहीं समझ सके। सच तो यह है कि समयसार एक ऐसा ग्रन्थ है जिसका मूल समझ लेना आवश्यक है। बिना उसके पाठक उलझ जाता है। हो सकता है, ५० राजमल्ल भी कही मूल में ही भूल कर गये हों।

बनारसीदास के नाटक समयसार पर उपर्युक्त तीनों आचार्यों का प्रभाव है।

नाटक समयसार और उसकी मौलिकता

'नाटक समयसार' को भ्रमृतचन्द्र के संस्कृत कलशो का अनुवाद नहीं कहा जा सकता, उसमें पर्याप्त मौलिकता भी है। भ्रमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका में केवल २७७ कलशे हैं, जबकि नाटक समयसार में ७२७ पद्य हैं। अतः का १४वाँ 'गुणस्थान अधिकार' तो बिल्कुल स्वतन्त्र रूप

में लिखा गया है। प्रारम्भ और अन्त के १०० पद्यों का भी आत्मख्याति टीका से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिनका सम्बन्ध है, वे भी नवीन हैं। उनमें 'कलश' का अभिप्राय तो प्रसङ्ग लिखा गया है; किन्तु विविध दृष्टान्तों, उपमा और उत्प्रेक्षाओं से ऐसा रस उत्पन्न हुआ है, जिसके समझ कलश फीका जँचता है। एक दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। भ्रमृतचन्द्र ने एक कलश में लिखा है—

नाश्रुते विषयसेवनेऽपि यस्त्वं फलं विषयसेवनस्य ना।
ज्ञान वैभव विरागता बलात्सेवकोऽपि तदसोऽसेवकः ॥

इस पर लिखा गया नाटक समयसार का पद्य इस प्रकार है—

जैसे निशिवासर कमल रहे पंक ही में,
पंकज कहाँ पं न वाके ढिग पंक है।
जैसे मन्त्रवादी विषधर सो गहावें गात,
मन्त्र की शक्ति वाके बिना विष डंक है।
जैसे जीभ गहे चिकनाई रहे रूखे भ्रग,
पानी में कनक जैसे काई से घटक है।
तैसे ज्ञानवान नाना भाँति करतूत ठानै,
किरिया ते भिन्न माने मोते निकलक है ॥”

स्पष्ट ही है कि उपर्युक्त शब्दों के चयन, पंक्तियों के गठन, प्रसाद गुण और दृष्टान्तालंकरण की सहायता से “ज्ञानवान् नाना कार्यों को करता हुआ भी उनसे पृथक् रहता है”, यह दार्शनिक सिद्धान्त सजीव हो उठा है। सच तो यह है कि समयसार और उसकी टीकाएँ दर्शन से सम्बन्धित हैं, जबकि बनारसीदास का नाटक समयसार साहित्य का ग्रन्थ है। उसमें कवि की भावुकता प्रमुख है, जबकि समयसार में दार्शनिक का पाण्डित्य। दर्शन के रूखे सिद्धान्तों का भावोन्मेष वह ही कर सकता है जिसने उन्हें पचाकर आत्मसात् कर लिया हो। कवि बनारसीदास ने अपनी आध्यात्मिक गोष्ठी में समयसार का अली भाँति अध्ययन, पारायण और मनन किया था। इसमें उन्होंने वषों खपा दिये थे। बीच में गलन अर्थ समझने के कारण उन्हें कुछ भ्रम हो गया था, परिणामवशात् वे और उनके चार साथी एक बन्द कोठरी में नभ होकर मुनि बनन का अभ्यास करते थे। बाद में पाण्डे रूपचन्द्रसे, जिनकी समूची शिक्षा बनारस में हुई थी, गोमटसार सुनकर उन्हें

वास्तविक ज्ञान हुआ और समयसार का सही अर्थ समझ सके। किन्तु, केवल अर्थ समझना और उसकी अनुभूति करना दो भिन्न बातें हैं। अनुभूति तभी हो सकती है, जबकि अर्थ को साक्षात् किया गया हो, अर्थात् अनुभूति के लिए केवल ज्ञाता ही नहीं, द्रष्टा होना भी आवश्यक है। कवि बनारसीदास ने आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की गाथाओं का अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका के माध्यम से अध्ययन किया, आध्यात्मिक गोष्ठी में मनन किया और एकान्त में साक्षात् किया। इनके समन्वय से जागृत हुई अनुभूति ने 'नाटक समयसार' को जन्म दिया। बनारसीदास की दृष्टि में सच्ची अनुभूति ही सच्चा ब्रह्म है। तज्जन्य आनन्द परमानन्द ही है, उससे कम नहीं। वह कामधेनु और चित्रवेलि के समान है। उसका स्वाद पंचामृत भोजन-जैसा है। नाटक समयसार में यह पंचामृत भोजन पग-पग पर उपलब्ध है। 'देह विनाशवान् है, उसकी ऊपरी चमक-दमक धोका देती है', दर्शन के इस मरुस्थल में से फूटने वाला एक निर्मल जल का स्रोत देखिए—

“रेत की-सी गढ़ी किधौ मढ़ी है मसान की-सी,
अन्दर अन्दरी जैसी कन्दरा है मेल की।
ऊपर की चमक-दमक पटभूखन की घोखे,
लागे भली जैसी कली है कनैल की।
अंगुन की ओड़ी महाओड़ी मोह की कनौडी,
माया की मसूरति है मूरति है मेल की।
ऐसी देह याहि के सनेह याकी सगति सो,
ह्वै रही हमारी मति कोलू के-से बैल की ॥”
समयसार की 'नाटक' संज्ञा

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'गमयसार' आध्यात्म का ग्रन्थ था, उसमें आचार्य कुन्दकुन्द के दार्शनिक विचार मुख्य हैं, भाव नहीं। उन्होंने समयसार को नाटक संज्ञा से अभिहित नहीं किया। सर्वप्रथम आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार को 'नाटक' कहा। किन्तु, केवल कह देने मात्र से कोई ग्रन्थ नाटक नहीं बन जाता। उसमें भावोन्मेष की आवश्यकता बनी ही रहती है। वह आत्म-ख्याति टीका में नहीं हो सका। बनारसीदास ने समयसार की 'नाटक' संज्ञा को सार्थक किया और इसी कारण उन्होंने

इसका नाम ही 'नाटक समयसार' रखा।

नाटक समयसारमें सात तत्त्व-जीव, बन्ध, अजीव, आस्रव, संबर्, निर्जरा और मोक्ष अभिनय करते हैं। इनमें प्रधान होने के कारण जीव नायक है और अजीव प्रतिनायक। उनके प्रतिस्पर्द्धा अभिनयों ने चित्रमयता को जन्म दिया है। जीव को अजीव के कारण ही विविध रूपों में नृत्य करना पड़ता है। आत्मा के स्वभाव और विभाव को नाटकीय ढंग से उपस्थित करने के कारण इसको 'नाटक समयसार' कहते हैं। यह एक आध्यात्मिक रूपक है। एक स्थान पर आत्म-रूपी नर्तक मत्तारूपी रंगभूमि पर ज्ञान का स्वांग बना कर नृत्य करता है। पूर्वबन्ध का नाश उसकी गायन विद्या है, नवीनबन्ध का सवर ताल तोड़ना है, निःशक्ति आदि आठ अंग उसके सहचारी हैं, समता का आलाप स्वरो का उच्चारण है, निर्जरा की ध्वनि ध्यान का मृदंग है। वह गायन और नृत्य में लीन होकर आनन्द में सराबोर है—

“पूर्वबन्ध नासं सो तो संगीत कला प्रकास
नवबन्ध रुधि ताल तोरत उछरिकै।
निसकित आदि अष्ट अंग संग सखा जोरि
समता अलापचारी करै सुर भरिकै ॥
निरजरा नाद गाजै ध्यान मिरदग बाजै
छकयो महानन्द मै समाधि रोभि करिकै।
सत्तारंगभूमि मै मुक्त भयो तिरुं काल
नाचै सुदृढ दिष्टि नट ग्यान स्वांग धरिकै ॥”

आत्मा ज्ञानरूप है और ज्ञान तो समुद्र ही है। जब वह मिथ्यात्व की गाठ को फोड़कर उमगता है, तो त्रिलोक में व्याप्त हो जाता है। इसी को दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि जब आत्मा मिथ्यात्व की तोड़कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो ब्रह्म बन कर घर-घर में जा विराजता है। इसी को कवि ने एक रूपक के द्वारा प्रस्तुत किया है। रूपक में आत्मा को पातुरी बनाया गया है। वह वस्त्र और आभूषणों से सजकर, रात के समय नाट्य-शाला में, पट को आड़ा करके आती है, तो किसी को दिखाई नहीं देती, किन्तु जब दोनों ओर के शमादान ठीक करके परदा हटाया जाता है तो सभी के सब लोग उसकी भली भाँति देख लेते हैं। यह ही दशा आत्मा की है—

जैसे कीऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरण
आवति अखारे निसि आड़ी पट करिक ।
हुहुं ओर दीवटि सवारि पट दूरि कीज
सकल सभा के लोग देखे दृष्टि धरिक ॥
तैसें जानसागर मिथ्यानि ग्रंथि भेदि करि
उमग्यो प्रगट रह्यो तिहु लोक भरिके ।
ऐसो उपदेस सुनि चाहिए जगत जीव
सुदृता संभारें जग जाल सों निसरि के ॥

जीव एक नट है और वह वटवृक्ष के समान है । वट-
वृक्ष में अनेक फल होते हैं, प्रत्येक फल में बहुत से बीज
तथा प्रत्येक बीज में वटवृक्ष मौजूद रहता है । बीज में वट
और वट में बीज की परस्पर चलती रहती है । उसकी
अनंतता कम नहीं होती । इसी प्रकार, जीव रूपी नट की
एक सत्ता में अनन्त गुण, पर्यायों और कलाएँ हैं । वह एक
विलक्षण नट है—

जैसे वटवृक्ष एक, तामें फल है अनेक
फल-फल बहु बीज, बीज-बीज वट है ।
बट माहि फल, फल माहि बीज तामें बट
बीज जो विचार, तो अनन्तता अघट है ॥
तैसे एक सत्ता में, अनन्त गुण परजाय
परजै में अनन्त-नृत्य, तामें अनन्त ठट है ।
ठट में अनन्तकला, कला में अनन्त रूप
रूपमें अनन्त सत्ता, ऐसो जीव नट है ॥

इस ससाररूपी रंगशाला में यह चेतन जो विविध
भक्ति के नृत्य करता है, वह अचेतन की संगति से ही ।
तात्पर्य है कि अचेतन ही उसे ससार के आवागमन में भट-
काता है । यदि अचेतन का साथ छूट जाय तो चेतन का
नृत्य भी बन्द हो जाये । इसी को कवि ने निर्या है—

बोलत विचारत न बोले न विचारे कछु
भेखको न भाजन पे भेखका धरत है ।
ऐसो प्रभु चेतन अचेतन की संगति सो
उलट पलट नटवाजी सी करत है ॥

जब चेतन अचेतन की संगति छाड़ देता है, तो वह
उस नाटक का केवल दर्शक-भर रह जाता है, जो भ्रम पूर्ण,
विशाल एवं महा अविवेकपूर्ण अखाड़े में अनादिकाल से

दिखाया जा रहा है । यह अखाड़ा जीव के घट में ही बना
है । वह एक प्रकार की नाट्यशाला है । उसमें पुद्गल
नृत्य करता है और वेष बदल-बदल कर कौतुक दिखाता
है । चिन्मूरति जो मोह से भिन्न और जड़ से जुदा हो
चुका है, इस नाटक का देखने वाला है, अर्थात् चेतन
मोह और जड़ से पृथक् होकर शुद्ध हो जाता है, अतः
वह सांसारिक कृत्यों को केवल देखता भर है, उनमें सलग्न
नहीं होता । बनारसीदास का कथन है—

या घट में भ्रमरूप अनादि, विशाल महा अविवेक अखारी ।
तामहि और स्वरूप न दीसत, पुद्गल नृत्य करै प्रति भारी ॥
फेरत भेष दिखावत कौतुक, सौजि लिये वरनादि पसारी ।
मोह सों भिन्न जुदो जड़ सो चिन्मूरति नाटक देखन हारी ॥

कोई नट जब रंगमंच पर अभिनय करता है, तो
उसकी अभिनयोपयुक्त वेशभूषा होती है । वह अपनी
वास्तविकता भूलकर उसी को सच्ची मान बैठता है ।
नाटक की तन्मयता से उभरते ही उसे अपने वास्तविक
रूप का ज्ञान होता है । ठीक यह ही हाल चेतन का है ।
वह घट में बने रंगमंच पर अनेक विभावों को धारण
करता है । विभाव का अर्थ है कृत्रिम भाव । जब मुद्रुष्टि
खोलकर वह अपने पद को देखता है तो उसे अपनी वास्त-
विकता का ज्ञान हो जाता है । चेतनरूपी नट का यह
कौतुक—

ज्यो नट एक धरें बहु भेख, कला प्रगटें बहु कौतुक देख
आपु लखें अपनी करतूति, वहे नट भिन्न विलोकित भेख ।
थो घट में नट चेतन राव, विभाव उ दसा धरि रूप विसेख
खोलि मुद्रुष्टि लखें अपनी पद, दु विचारि दसा नाह लेख ॥

चेतन मूर्त है, वह अचेतन के घाँके में सर्वद फँसा
रहता है । अचेत-चेतन को या तो भटकाता है अथवा मोह
की नीद में मुला देता, अपना रूप नहीं देखन देता है । नाटक
समयसार में चेतन की सुपुत्तावस्था का एक चित्र अंकित
किया गया है । वह काया की चित्रमारी में माया के द्वारा
निमित्त सेज पर सो रहा है । उस सेज पर कल्पना
(तडपन) की चादर बिछी है । माह के भकारों से उसके
नेत्र ढँप गये हैं । कर्मों का बनवान उदय हो श्वास का
शब्द है । विषय भोगों का आनन्द ही स्वप्न है । इस

भाति चेतन मस्त होकर सो रहा है। वह ऐसी मूढ़ दशा में तीनों काल मग्न रहता है, भ्रम-जाल में फँसा रहता है। उससे कभी उभर नहीं पाता—

“काया चित्रसारी मे करम परजंक भारी,
माया की सवारी सेज चादर कलपना ।
शौन करे चेतन अचेतनता नींद लिये,
मोह की मरोर यहै लोचन को ढँपना ॥
उदै बल जोर यहै द्वास को शबद घोर,
विवे सुषकारी जाकी दौर यहै सुपना ।
ऐसी मूढ़ दशा मे मग्न रहै तिहुंकाल,
धावै भ्रमजाल में न पावै रूप अपना ॥”

नाटक समयसार में बीर रस के अनेक चित्र है, जिनमें से एक में आस्रव और ज्ञान का युद्ध दिखाया गया है। कर्मों के आगमन को आस्रव कहते हैं। वह बहुत बड़ा योद्धा है, अभिमानी है। ससार मे स्थावर और जंगम के रूप में जितने भी जीव हैं, उनके बल को तोड़-फोड़कर आस्रव ने अपने वश मे कर रखा है। उसने मुँहों पर ताव देकर रण-स्तम्भ गाड़ दिया है, अर्थात् उसने अपने को अप्रतिद्वन्द्वी प्रमाणित करने के लिए अन्य योद्धाओं को चुनौती दी है। अचानक उस स्थान पर ज्ञान नाम का एक सुभट, जो सवाये बल का था, आ गया। उसने आस्रव को पछाड़ दिया, उसका रण-थभ तोड़ दिया। ज्ञान के शौर्य की देखकर बनारसीदास नमस्कार करते हैं—

जैते जगबासी जीव थावर जंगम रूप,
ते ते निज बस करि राखे बल दोरि के ।
महा अभिमानी ऐसी आस्रव अगाध जोधा,
रोधि रन थभ ठाढो भयो मूछ मोरि के ॥
आयो बिहि थानक अचानक परम धाम,
ज्ञान नाम सुभट सवायो बल फोरि के ।
आस्रव पछायो रनथभ तोरि डायो ताहि,
निरखि बनारसी नमत कर जोरि के ॥”

नाटक समयसार में भक्ति-तत्त्व

निष्कल और सकल अर्थात् निर्गुण और सगुण की उपासना का सम्भव। जैन भक्ति की विशेषता है। कोई जैन कवि ऐसा नहीं, जिसने दोनों की एक साथ भक्ति न

की हो। जैन सिद्धान्तों में आत्मा और जिनेन्द्र का एक ही रूप माना गया है, अतः वह शरीरी हो अथवा अशरीरी, जैन भक्त को दोनों ही पूज्य है। नाटक समयसार में इस परम्परा का पालन किया गया है। कवि बनारसीदास ने यदि एक और निष्कल ब्रह्म की आराधना की है, तो दूसरी और सकल के चरणों में भी श्रद्धा के पुष्प चढ़ाये हैं।

‘निष्कल’ का दूसरा नाम है सिद्ध। कर्मों के आवरण से मुक्त आत्मा को सिद्ध कहते हैं। ‘नाटक समयसार’ में शुद्ध आत्मा के प्रति गीतों की भरमार है। एक स्थान पर कवि ने लिखा है कि शुद्धात्मा के अनुभव के अभ्यास से ही मोक्ष मिल सकता है, अन्यथा नहीं। उनका यह भी कथन है कि आत्मा के अनेक गुण-पर्यायों के विकल्प में न पड़कर शुद्ध आत्मा को अनुभव का रस पीना चाहिए। अपने स्वरूप में लीन होना और शुद्ध आत्मा का अनुभव करना ही श्रेयस्कर है। सिद्ध शुद्ध आत्मा के ही प्रतीक है। उनके विशेषणों का उल्लेख करते हुए कवि ने उसकी जय-जयकार की है। एक पद्य देखिए—

“अविनामी अविकार परम रस धाम है,
समाधान सरवग सहज अभिराम है ।
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनंत है,
जगत शिरोमनि सिद्ध सदा जयवत है ॥”

एक दूसरे स्थान पर कवि ने शिवलोक में विराजमान ‘शिवरूप’ की वन्दना की है। उनका कथन है कि जो अपने आत्मज्ञान की ज्योति से प्रकाशित है, सब पदार्थों में मुख्य है, निष्कलक है, सुखसागर में विश्राम करता है, संसार के सब जीव और अजीबों के घट-घट का जानने वाला है और मोक्ष का निवासी है, उसे भव्य जीव सदैव नमस्कार करते हैं। भक्त के वन्दनीय को शिवरूप तो होना चाहिए ही, साथ ही तेजवान भी, किन्तु तेज भौतिक न होकर, दिव्य हो, वह तभी हो सकता है, जबकि सासारिक कलंक निकल जावे। तभी उसे अनंत सुख और केवलज्ञान उपलब्ध हो सकता है। ऐसे भगवान् के भक्त का भक्तिपरक मापदण्ड निश्चयरूप से ऊँचा है। वह पद्य इस प्रकार है—

जो अपनी दुति आ विराजत, है परधान पदारथ नामी ।
चेतन अक सदा निकलंक, महासुखसागर की विसरामी ॥

जीव अजीव जिते जग मैं, तिनकी गुन जायक अंतरजामी ।
सो सिखरूप बसै सिवधान, ताहि विलोकि नमैं सिवगामी ॥”

निर्गुनिए संतों की भाँति ही बनारसी ने यह स्वीकार किया कि जिनराज घट मन्दिर में विराजमान रहता है। उसमें ज्ञानशक्ति विमल आरसी की भाँति दमक उठती है, जिससे वह समूचे विश्व को देख पाता है। इस देख सकने की सामर्थ्य से अन्तर-राग और महामोह दोनों समाप्त हो जाते हैं और आत्मा परम महारस रूप बन जाती है। महारस वह है जिसमें एक ओर मन की चपलता नहीं रहती तो दूसरी ओर योग से भी उदासीनता आ जाती है, अर्थात् आत्मा सहजयोगी का रूप धारण कर लेती है। ‘सहजयोगी’ का तात्पर्य है कि परम महारस के प्राप्त हो जाने से योगी को योग की दुरूह साधना से स्वतः निर्वृति मिल जाती है। वह साधना के बिना स्वाभाविक ढंग से ही योगी बना रहता है। बनारसीदास की सहजता में ब्रजयानियों के सहजयानी सम्प्रदाय का ‘सहज’ नहीं है, इसमें आत्मा का स्वाभाविक रूप ही मुख्य है, अर्थात् बनारसीदास पहले महारस प्राप्त करते हैं, तब सहजता स्वाभाविक ढंग से आ ही जाती है। सहजयानी पहले सहजता प्राप्त करते हैं, फिर महारस की ओर आँख लगाते हैं। कुछ भी हो, बनारसीदास घट में शोभायमान सहजयोगी चेतन की वन्दना करते हैं।

जैन आचार्यों ने ‘परम महारस’ में डूबी आत्मा को ब्रह्म कहा है। बनारसीदास ने भी उसे ब्रह्म कहा, उसके स्याद्वाद रूप का विवेचन किया। उन्होंने लिखा है कि वह एक भी है और अनेक भी, अर्थात् वह आत्मसत्ता में एकरूप है और परसत्ता में अनेक रूप। वह ज्ञानी है और अज्ञानी भी, अर्थात् शुद्ध रूप में ज्ञानी और कर्मसंगति में अज्ञानी है। इसी भाँति वह प्रमादी है और अप्रमादी भी—जब अपने रूप को भूल जाता है तो प्रमादी और जब अपने रूप को जागृत होकर स्मरण करता है तो अप्रमादी। अपेक्षाकृत दृष्टि से ही वस्तु का वास्तविक निरूपण हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस दृष्टि को ही स्याद्वाद कहते हैं। यह सिद्धान्त आत्मा पर भी घटित होता है। आत्मा का ऐसा निष्पक्ष और सत्य विवेचन

अन्यत्र दुर्लभ ही है। बनारसीदास ने उस आत्म-ब्रह्म की प्रशंसा में लिखा है—

“देखु सखी यह ब्रह्म विराजित,
याकी दसा सब याही की सो है ।
एक मैं अनेक अनेक में एक,
दुंदु लियैं दुविधामह दो हैं ॥
आपु संभारि लखैं अपनी पद,
आपु विसारिकें आपुहि मो है ।
व्यापक रूप यहै घट अंतर,
ग्यान मैं कोन अज्ञान मैं को है ॥”

बनारसीदास ने सकल ब्रह्म के भी गीत गाये। सकल ब्रह्म वह है, जो केवलज्ञान उत्पन्न होने पर भी, आयुक्रम के अवशिष्ट रहने से विश्व में शरीर सहित मौजूद रहता है, अर्थात् उसके घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है, अतः उसकी आत्मा में ब्रह्मत्व तो जन्म ले ही लेता है, किन्तु आयु के क्षीण होने तक उसे संसार में रुकना पड़ता है। केवलज्ञान उत्पन्न होने के उपरान्त अर्हन्त की यह ही दशा होती है। उन्हें जीवन्मुक्त कहा जा सकता है। वे सशरीरी ब्रह्म हैं। आचार्य जोहन्दु ने उन्हें ‘सकल ब्रह्म’ की सज्ञा से अभिहित किया है। सूर और तुलसी ने ऐसे ब्रह्म को सगुण कहा है, बनारसीदास ने तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की वन्दना करते हुए लिखा है कि उनकी भक्ति करने से समूचे डर भाग जाते हैं, अर्थात् भक्त निर्भय हो जाता है। भगवान् पार्श्वप्रभु का शरीर सजल-जलद की भाँति है। उनके सिर पर सप्तफणियों का मुकुट लगा है। उन्होंने कमठ के अर्हकार को दल डाला है। ऐसे जिनेंद्र को बनारसीदास नमस्कार करते हैं। यह सच है कि जिनेंद्र ने अपने भक्तों को कभी नरक में नहीं जाने दिया, उनके पापों को बादल बनकर हरण कर लिया। इतना ही नहीं, किन्तु उन्हें अग्रगण्य अगार भव-समुद्र से पार कर दिया। वह भगवान् कामदेव को भस्म करने के लिए रुद्र के समान हैं। भक्तजन सदैव उसकी जय-जय के गीत गाते हैं।

जिनेंद्र (सकल ब्रह्म) की भक्ति की सामर्थ्य का बखान करते हुए बनारसीदास ने एक स्थान पर लिखा है

कि जिनेन्द्र की भक्ति कभी तो सुबुद्धि रूप होकर कुमति का हरण करती है, कभी निर्मल ज्योति बनकर हृदय के अन्धकार को दूर भगाती है, कभी करुणाद्रि होकर कठोर हृदयों को भी दयालु बना देती है, कभी स्वयं प्रभु की लालसा रूप होकर अन्ध नेत्रों को भी तद्रूप कर देती है, कभी भारती का रूप धारण कर भगवान् के सम्मुख आती है और मधुर भावों को अभिव्यक्त करती है। कहने का तात्पर्य है कि भक्ति भक्त को प्रभु की तद्रूपता का आनन्द देती है। कवि ने लिखा है—

कबहूँ सुमति हूँ कुमति को बिनास करे,
कबहूँ विमल ज्योति अंतर जगति है।
कबहूँ दया हूँ चित्त करत दयाल रूप,
कबहूँ सुलालसा हूँ लोचन लगति है ॥
कबहूँ भारती हूँ कै प्रभु सन्मुख आवे,
कबहूँ सुभारती हूँ बाहरि बगति है।
घरे दसा जैसी तब करे रोति तैसी ऐसी,
हिरदै हमारे भगवत की भगति है ॥

जिनेन्द्र की मूर्ति अथवा विम्ब को देखकर जिनेन्द्र की याद आती है, उनके गुणों को प्राप्त करने की चाहना उत्पन्न होती है। जिनेन्द्र में कुछ ऐसा सौन्दर्य है, जिसके समक्ष इन्द्र का वैभव भी न-कुछ सा लगता है। उसके यश का गान हृदय के तमस् को भगाने में पूर्ण समर्थ है। भक्त उससे 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की याचना करता है। उससे मलिन बुद्धि शुद्ध हो जाती है। इस भाँति जिनेन्द्र विम्ब की छवि की महिमा स्पष्ट ही है।

बनारसीदास ने केवल निष्कल और सकल ब्रह्म की ही नहीं, अपितु उन सब साधुओं की भी वन्दना की है, जो सद्गुणों से युक्त हैं। उन्होंने लिखा है कि मुनिराज ज्ञान के प्रकाश तो होते ही हैं, सहज सुखसागर भी होते हैं, अर्थात् ज्ञान के उत्पन्न होते ही उन्हें परम सुख स्वतः प्राप्त हो जाता है। वे प्रयत्नशील नहीं होते और सुख मिल जाता है। पापी शरणागत को भी वे शरण देते हैं। उन्हें मोत का भय नहीं सताता। वे धर्म की स्थापना और भ्रम का खण्डन करते हैं। वे कर्मों से लड़ते हैं, किन्तु विनम्र होकर, क्रोध अथवा भावावेश के साथ नहीं। ऐसे

मुनिराज विश्व की शोभा बढ़ाते हैं। बनारसीदास ने उन्हें पुनः पुनः नमन किया।

भक्त आराध्य की वाणी में भी श्रद्धा करता है। उसकी महिमा के गीत गाता है। जिनवाणी जिनेन्द्र के हृदयरूपी तालाब से निकलती है और श्रुत-सिन्धु में समा जाती है, अर्थात् वह एक सरिता के समान है। यह वाणी सत्यरूपा है। सत्य अनन्त नयात्मक है। अनेक अपेक्षाकृत दृष्टियों से यह विविध रूप है। उसका कोई एक लक्षण नहीं, कोई एक रूप नहीं। उसे समझने के लिए वैसी सामर्थ्य आवश्यक है, अर्थात् सम्यग्दृष्टि ही उसे समझ सकता है, अन्य नहीं। बनारसीदास का कथन है कि वह जिनवाणी सदा जयवंत हो—

“तासु हृदै-द्रह सौ निकसी,
सरिता-सम हूँ श्रुत-सिन्धु समानी।
धाते अनन्त नयातम लच्छन,
सत्य स्वरूप सिधत बखानी।
बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध,
सदा जगमाहि जगै जिनवानी ॥”

कवि बनारसीदास ने नवधा भक्ति का निरूपण किया है। उन्होंने लिखा है, “श्रवन कीरतन चितवन सेवन वंदन ध्यान। लघुता समता एकता नवधा भक्ति प्रवान ॥” नाटक समयसार में इस नौधा भक्ति के उद्धरण बिखरे हुए हैं।

नाटक समयसार की भाषा

कवि बनारसीदास ने अपने अर्धकथानक की भाषा को ‘मध्य देश की बोली’ कहा है। डा० हीरालाल जैन ने ‘मध्यदेश की बोली’ की व्याख्या करते हुए लिखा है, “बनारसीदास जी ने अर्धकथानक की भाषा में ब्रजभाषा की भूमिका लेकर उस पर मुगलकाल में बढ़ती हुई प्रभाव-शाली खड़ी बोली की पुट दी है, और इसे ही उन्होंने ‘मध्यदेश की बोली’ कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि यह मिश्रित भाषा उस समय मध्य देश में काफी प्रचलित हो चुकी थी।” डा० माताप्रसाद गुप्त का कथन है, “यद्यपि मध्य देश की सीमायें बदलती रही हैं, पर प्रायः सदैव ही

खड़ी बोली और ब्रजभाषी प्रान्तों को मध्य देश के अन्तर्गत माना जाता है और प्रकट है कि अर्धकथानक की भाषा में ब्रजभाषा के साथ खड़ी बोली का किञ्चित् सम्मिश्रण है, इसलिए लेखक का भाषा विषयक कथन संबंधा संगत जान पड़ता है। यह सत्य है कि अर्धकथानक में खड़ी बोली और ब्रजभाषा का समन्वय है। इस भाँति वह जनसाधारण की भाषा है। पं० नाथूराम प्रेमी ने 'बोली' को बोलचाल की भाषा कहा है। मध्यदेश की बोली ही मध्यदेश की बोलचाल की भाषा थी।

बनारसीदास ने अर्धकथानक बोलचाल की भाषा में लिखा, किन्तु उनके अन्य ग्रंथ साहित्यिक भाषा में है। 'साहित्यिक' का तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें से खड़ी बोली और ब्रजभाषा निकल कर दूर जा पड़ी हों। रही दोनों किन्तु संस्कृत-निष्ठ हो जाने, से उन्हें 'साहित्यिक' की सजा से अभिहित किया गया। अर्धकथानक में प्रत्येक स्थान पर 'श' को 'स' किया गया है, जैसे बहा शुद्ध को सुद्ध, वंश को बंस और पार्श्व को पारस लिखा है, किन्तु नाटक समयसार में अधिकांशतया 'श' का ही प्रयोग है। शुद्ध चेतना, शुद्ध आत्म और शुद्धभाव। इसी प्रकार अशुभ, शशि, विशेषिये, निशिवामर और शिवसत्ता आदि। अर्धकथानक में 'व' के स्थान पर 'स' का आदेश देखा जाता है, किन्तु नाटक समयसार में सब स्थानों पर 'व' का ही प्रयोग हुआ है। उम समय 'व' का ख उच्चारण होता था, अतः लिपि में वह 'ख' लिखा हुआ मिलता है। किन्तु ऐसा बहुत कम स्थानों पर हुआ है। विषघर, भेष, दोष, विशेष और पिऊष आदि में व का ही प्रयोग है, किन्तु पोष के स्थान पर पोख, विशेषिये के स्थान पर विशेषिये, अभिलाष के स्थान पर अभिलाख में ख देखा जाता है।

अर्धकथानक में 'ऋ' कही-कही ही सुरक्षित रह पाया है, किन्तु नाटक समयसार में उसको कही पर भी स्वरान्तर नहीं हुआ है। जैसे अर्धकथानक में 'दृष्टि' को 'दिष्टि' का प्रयोग किया गया है, नाटक समयसार में वह दृष्टि ही है। इसके अतिरिक्त कृपा, कृपाण, मृपा आदि शब्द ऋकारात्मक है।

संस्कृत के संयुक्त वर्णों को स्वरभक्ति या वर्णलोप के

द्वारा आसान बनाने की प्रवृत्ति नाटक समयसार में भी पाई जाती है; जैसे—निश्च (निश्चय), हिरदै (हृदय), विबहार (व्यवहार), सुभाव (स्वभाव), शक्ति (शक्ति), सासत (शासवत), दुन्द (द्वन्द्व), जुगति (युक्ति), थिर (स्थिर), निरमल (निर्मल), भूरतीक (भूतक), सरूप (स्वरूप), मुक्ति (मुक्ति), अभिप्रंतर (अभ्यंतर), अध्यात्म (अध्यात्म), निरजरा (निर्जरा), बिभचारिनी (व्यभिचारिणी), रतन (रत्न) आदि। 'य' के स्थान पर 'ज' का प्रयोग हुआ है। जैसे—जथा (यथा), जथारथ (यथार्थ), जथावत (यथावत), जोग (योग), विजोग (वियोग) और आचरज (आचार्य)। कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ 'य' का प्रयोग हुआ हो।

तद्भवपरक प्रवृत्ति के होते हुए भी नाटक में संस्कृत निष्ठा ही अधिक है, अर्थात् अर्धकथानक की भाँति चलताऊ शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर है। भले ही परपरिणति को परपरिनति कर दिया गया हो किन्तु शब्द तो संस्कृत का ही है। हम श्रेणी में उपर्युक्त शब्दों को लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सानवन्त, कलावन्त, सम्यक्त्व, मोक्ष, विचक्षण और निर्विकल्प आदि अधिकांश संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। उर्दू-फारसी के शब्द अर्धकथानक में भरे पड़े हैं, किन्तु समूचे नाटक समयसार में बदफूल और खुरापाती जैसे शब्द दो-चार से अधिक नहीं मिलेंगे। बनारसीदास उर्दू-फारसी के अच्छे जानकार थे। उन्होंने जौनपुर के नवाब के बड़े बेटे खोनी किलिच को उर्दू-फारसी के माध्यम से ही संस्कृत पढ़ाई थी। किन्तु नाटक समयसार का विषय ही ऐसा था, जिसके कारण वे फारसी के शब्दों का प्रयोग नहीं कर सके। बनारसीदास ने विषयानुकूल ही भाषा का प्रयोग किया है। यह उनकी विशेषता थी।

भाषा का मौन्दर्य उसके प्रवाह में है, संस्कृत अथवा फारसी निष्ठा में नहीं। प्रवाह का अर्थ है भाव का गुम्फन के साथ अभिव्यक्तीकरण। नाटक समयसार के प्रत्येक पद्य में भाव को सरसता के साथ गूँदा गया है, कही विश्रुल-लता नहीं है, लचरपन नहीं है। एक गुनदस्ते की भाँति सुन्दर है। दृष्टान्तों की आकर्षक पंखुड़ियों ने उसके मौन्दर्य को और भी पुष्ट किया है। विचारों की अनु-

भूति जब भाषपरक होती है तो उसको प्रकट करना आसान नहीं है। किन्तु बनारसीदास ने सहज में ही प्रकट कर दी है। इसका कारण है उनका सूक्ष्मावलोकन। उन्हें बाह्य संसार और मानव की अन्तःप्रकृति दोनों ही का सूक्ष्म ज्ञान था। इसी कारण वे भावानुकूल दृष्टान्तों को चुनने और उन्हें प्रस्तुत करने में समर्थ हो सके। एक उदाहरण देखिए—

जैसे निशिवासर कमल रहे पंकहि मे,
पंकज कहावै पै न वाके ढिग पक है।
जैसे मंत्रवादी विषधर सों गहावै गात,
मंत्र की सकृति वाके बिना विष डंक है॥
जैसे जीभ गहै चिकनाई रहे रूखे अंग,
पानी में कनक जैसे काई सों अटक है।
तैसे ज्ञानबंत नाना भाँति करतूति ठानै,
किरिया को भिन्न मानै याते निकलंक है॥

दृष्टान्तों के प्रतिरिक्त उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपकी की छटा भी अवलोकनीय है। रूपकों में साग और निरग दोनों ही हैं। अनुप्रासों में सहज सौन्दर्य है। बनारसीदास को अलंकारों के लिए प्रयास नहीं करना पड़ा। वे स्वतः ही आये हैं। उनकी स्वाभाविकता ने रसपरकता को अभिवृद्ध किया है। बनारसीदास एक भक्त कवि थे। उनके काव्य में भक्तिरस ही प्रमुख है। उनकी भक्ति अलंकारों की दासता न कर सकी, अपितु अलंकार ही

भक्ति के चरणों पर सदैव अर्पित होते रहे। वे रसस्कूल के विद्यार्थी थे। शरीर की विनश्वरता दिखाने के लिए उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य देखिए—

धारे से धका के लगे ऐसे फट जाय मानो,
कागद की पुरी किधौ चादर है चैल की॥

छन्दों पर तो बनारसीदास का एकाधिपत्य था। उन्होंने 'नाटक समयसार' में सबैया, कवित्त, चौपाई, दोहा, छप्पय और अडिल का प्रयोग किया है। इनमें भी 'सबैया इकतीसा' का सबसे अधिक और सुन्दर प्रयोग है। सबैया तो वैसे भी एक रोचक छन्द है, किन्तु बनारसीदास के हाथों में उसकी रोचकता और भी बढ़ गई है।

कुल कहने का तात्पर्य यह है कि बनारसीदास ने जैन आध्यात्मिक विचारों का हृदय के साथ तादात्म्य किया, अर्थात् उन्होंने जैन मन्त्रों को पढ़ा और समझा ही नहीं, अपितु देखा भी। इसी कारण मन्त्रदृष्टाओं की भाँति वे उन्हें चित्रवत् प्रकट करने में समर्थ हो सके। ऐसा करने में उनकी भाषा सम्बन्धी शक्ति भी सहायक बनी। वे शब्दों के उचित प्रयोग, वाक्यों के कोमल निर्माण और अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग में निपुण थे। उनकी भाषा भावों की अनुवर्तिनी रही। यही ही कारण था कि वह निर्गुनिए सतों की भाँति अटपटी न बन सकी। □ □ □

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
दि० जैन कालेज, बड़ौत (मेरठ)

[पृष्ठ ३ का शेषांश]

प्रसिद्ध है कि जब महमूद गजनवी इधर आया तो उगने इस मन्दिर को तोड़ने की सोची, पर रात में ही भयंकर रूप से बीमार पड़ गया। फिर उसने वहाँ अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिए ५ बुजियाँ बनवा दी।

१४वीं शताब्दी में भट्टारक ज्ञानसागर ने लिखा है—

“मालव देश मझार नयर मगसी सुप्रसिद्ध है।
महिमा मेरु समान निर्धन हूँ धन दीवह॥”

यहाँ पर न केवल जैन समाज बरन् आस-पास के

जैनतर लोग भी आकर मनोतिर्या मानते हैं। यहाँ पर सर्व धर्मों के लोग एकत्रित होकर धर्म आराधना करते हैं।

समाज कल्याण के लिए गरीब छात्रों के लिए एक पाठशाला, गुरुकुल व अग्रछात्र भी है। पुस्तकालय से नि:शुल्क पुस्तकें दी जाती हैं। इस तीर्थ पर निश्चय ही धार्मिक सहिष्णुता के दर्शन होते हैं। मालवा में जैनो का यह एक प्रमुख तीर्थ है। □ □ □

प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति विभाग,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म०प्र०)

महाकवि स्वयम्भू और तुलसीदास

□ डा० प्रेमनुमन जैन

सभी भारतीय साहित्य एवं दिग्गज साहित्यकारों से रामकथा अन्तरंग रूप से सम्बन्धित है। देश में जब कोई नया विचार, सम्प्रदाय या बोली आई, तो उसने रामकथा के पट पर ही अपने को अङ्कित किया। रामकथा पुरानी बनी रही, पर माध्यम से कितनी ही नवीनताएँ साहित्य के वातायन से जन-जीवन तक पहुँचती रही।^१ रामकथा जैन-साहित्य में भी परिलक्षित हुई है। ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दी से लेकर १९वीं शताब्दी तक प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं में उसका सृजन होता रहा है। इसमें विमलसूरिकृत 'पउमचरिय' (प्राकृत), रविषेणकृत 'पद्मचरित' (संस्कृत) और स्वयम्भूकृत 'पउमचरिउ' (अपभ्रंश) रामकथा की प्रमुख रचनाएँ हैं। ये अपने पूर्व और परवर्ती रामकथा साहित्य से तुलनात्मक अध्ययन की अपेक्षा रखती हैं।^२

महाकवि स्वयम्भू और तुलसीदास रामकथा के समर्थ भाषाकवि हुए हैं। यद्यपि इन दोनों कवियों की विषय-वस्तु, युगचेतना, दार्शनिक-मान्यता आदि में बहुत अन्तर है, फिर भी कई बातों में वे समान भी हैं। इस विषय का परिवेक्षण लोकभाषाओं के पास्परिक सम्बन्धों पर विशेष प्रकाश डाल सकता है।

वैयक्तिक जीवन एवं व्यक्तित्व

महाकवि स्वयम्भू और तुलसीदास के वैयक्तिक जीवन में भिन्नता है, किन्तु व्यक्तित्व में समानता है। स्वयम्भू कर्णाटक, दक्षिण भारत के थे।^३ तुलसीदास का जन्म राजापुर (बांदा), उत्तर भारत में हुआ था।^४ वे भवध

के निवासी थे।^५ दोनों महाकवियों में करीब आठ सौ वर्षों का अन्तर है। स्वयम्भू का समय ईसा की आठवीं सदी का प्रथम चरण माना गया है।^६ तुलसीदास सोलहवीं सदी (सं० १५८६) में जन्मे थे।^७ दोनों कवियों के पारिवारिक जीवन में कोई समानता नहीं है। स्वयम्भू परम्परागत कवि थे और उनके बाद भी घराने में सृजन होता रहा। तुलसीदास की परम्परा उन्हीं तक सीमित है। वे एक पूर्ण गृहस्थ तथा एक घुमक्कड़ साधु थे। स्वयम्भू सम्पन्न थे। तुलसीदास हमेशा अपनी निर्धनता दर्शाते रहे। यथा—

बारे तें ललात विललात द्वार-द्वार दीन।

जानत हो चारि फल चारि ही चनन कों ॥^८

स्वयम्भू की मृत्यु और जीवन पर कोई सूचना प्राप्त नहीं है, जबकि तुलसीदास स्वयं अपनी जीवनी लिखकर सं० १६८० में काशी में मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

व्यक्तित्व दोनों महाकवियों का समान था। दोनों ही स्वभाव से दयालु और भावुक थे तथा शारीरिक सौन्दर्य की जगह आत्मसौन्दर्य के प्रशंसक थे। दोनों ही उत्कृष्ट प्रतिभा और गहन अनुभूतियों के स्वामी थे और एक-से साहित्यकार भी। यद्यपि स्वयम्भू की रचनाएँ तीन हैं, किन्तु गोस्वामी तुलसीदास की १५-१६ रचनाओं के समक्ष बैठने में वे समर्थ भी हैं। चिन्तन की मौलिकता और आध्यात्मिकता के पुजारी होने के नाते दोनों का व्यक्तित्व और सन्निकट हो जाता है।

१. पउमचरिउ—डा० देवेन्द्रकुमार, दो शब्द।
२. द्रष्टव्य—डा० के. आर. चन्द्रा, 'पउमचरियः ए स्टडी' डा० आर. सी. जैन—रविषेणकृत पद्मचरित का सांस्कृतिक अध्ययन' डा० एस. पी. उपाध्याय—'महाकवि स्वयम्भू'
३. पउमचरिउ की भूमिका—डा० भायाणी द्वारा संपादित

४. तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० १६६।
५. तुलसीदास और उनके ग्रन्थ, पृ० ४६।
६. पउमचरिउ की भूमिका—डा० देवेन्द्रकुमार।
७. तुलसीदास—डा० गुप्त, पृ० १४०।
८. कवितावली ३, ७३।

काव्य-सृजन का उद्देश्य एवं प्रारम्भ

स्वयम्भू के पउमचरित के सृजन के मूल में क्या कारण थे, स्पष्ट नहीं है। यद्यपि पउमचरित की सन्धियों की पुष्पिकाओं से इतना ही विदित होता है कि किसी घनजय नाम के व्यक्ति की प्रार्थना पर कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की थी—‘इय रामचरिण धणजयासिय सयंभुएव कए। पउ (१-१६)’ लेकिन इतना ही कारण न रहा होगा।

स्वयम्भू अपनी काव्य-रचना का ध्येय आत्माभि-व्यक्ति मानते हैं। रामायण काव्य के द्वारा वह अपने आपको व्यक्त करना चाहते थे—‘पुणु अण्पाणउ पायडमि रामायण कावें। (पउ० १-१-१६) उनका लौकिक लक्ष्य था—यश का प्राप्ति। इसलिए उन्होंने अपने यश को चिरस्थायी रखने के लिए रामकथा का ही माध्यम चुना, क्योंकि उनके पूर्व कम से कम दो जैन महाकवि विमलमूरि और रविपेण राम साहित्य का सृजनकर प्रसिद्ध हो चुके थे। सम्भवतः उनकी कृतियों का आदर भी जन-भाषारण में स्वयम्भू के समय था, जिससे प्रेरित और प्रभावित होकर ग्रन्थ-प्रणयन के समय उनको कहना पड़ा है—

निम्मल-पुण्ण-पवित्त-कह कित्तणु आठप्पइ।

जेण समाणिज्जन्तएण धिर कित्ति विठप्पइ॥

—(पउ० १, २, १२)

जैन-साहित्य में रामकथा का प्रणयन लोक प्रचलित कुछ शंकाओं के समाधान के रूप में भी हुआ है।^१ हो सकता है, इसके प्रचार-प्रसार की भावना भी स्वयम्भू के मन में रही हो।

महाकवि तुलसीदास का लक्ष्य रामचरित मानस के प्रणयन में इससे भिन्न था। पत्नी की अवहेलना व प्रेरणा से उनमें रामभक्ति उपजी। स्वाभाविक है कि वे जो भी लिखते या उन्होंने लिखा है, राम के विषय में ही। दूसरी बात, वे अपने आराध्यका चरित बखानकर अपनी वाणी को पवित्र करना चाहते थे। उन्होंने परम्परा से प्राप्त राम-कथा का भी अध्ययन किया था—

‘जो प्राकृत कवि परम सयाने,

भाषा जिन हरि चरित बखाने ।’

इनके अतिरिक्त तुलसीदास अपने युग से कम प्रभावित नहीं थे। तत्कालीन दार्शनिक व सामाजिक स्थिति को नया मोड़ देने के लिए एक इतने ऊँचे आदर्श की आवश्यकता थी जो केवल रामचरित के वर्णन में ही सम्भव थी। अतः तुलसीदास ने हिन्दू संस्कृति को मुगलशासन के प्रभाव से सुरक्षित रखने के लिए रामचरितमानस का प्रणयन किया और हर सम्भव प्रयत्न उन्होंने इस ग्रन्थ के द्वारा करना चाहा, जिससे वे परिवर्तन की दिशा को एक नया मोड़ दे सकें।

स्वयम्भू और तुलसीदास ने अपने प्रस्तुत ग्रन्थों का प्रारम्भ प्रायः एक-सा किया है। सर्वप्रथम देवताओं और अपने आराध्य की वन्दना कर आत्मलघुता दोनों ने प्रकट की है। यथा—

तिहुअण लग्गाण खम्भु गुरु परमेठ्ठि णवेप्पिणु।

पुणु आरम्भिय रामकह आरिसु जोणेप्पिणु॥ पउ० १-१ बंदउ गुरुपद पदुम परागा। सुरच्चि सुबास सरस अनुरागा। बंदउ नाम राम रघुवर को। हेतु कसानु भानु हिमकर को॥^२ यथा—

बुहुयण सयम्भु पूहँ विण्णवई।

मई सरिसउ अण्णु णाहि कुकई।

हुअँ कि पिण जाणमि मुख्खु मुणँ।

णिय वद्धि पयासमि नो वि जणँ॥ (पउ० १, ३-१, ६)

कवि न होहुं नहि चतुर प्रवीनू।

सकल कला सब विद्या हीनू॥ इत्यादि।

इसके अतिरिक्त खल निन्दा, सज्जन प्रशंसा आदि प्राचीन परम्परा का निर्वाह दोनों ने किया है।

स्वयम्भू ने रामकथा को अनेक गुणों से युक्त माना है^३ तथा सरिता के रूप में उसका चित्रण किया है। रामकथा अक्षरविन्यास के जलसमूह से मनोहर, सुन्दर अलंकार तथा छन्दरूपी मत्स्यों से परिपूर्ण और लम्बे प्रवाहरूप से अङ्कित है। यह संस्कृत और प्राकृतरूपी पुलिनों से अलंकृत देशीभाषा रूपी दो कूलों से उज्ज्वल है।

१. जइ रामही तिहुअणु उवरे माइ।

तो रावणु कहि तिय लेवि जाइ॥ इत्यादि-वही, १, १०

२. रामचरितमानस, बालकाण्ड।

३. दसरह तव कारणु सन्नुद्वारणु वज्जयण सम्मयभरित।

जिणवरणुणकित्तणु तीयसइत्तणु तं विसुणहु राहव-

चरित॥—पउ० सवि ४०

इसमें कहीं कठिन घनशब्दरूपी शिलातल है, कहीं यह अनेक अर्थरूपी तरंगों से अस्त-व्यस्त हो गई है और कहीं सैकड़ों आश्वासरूपी तीर्थों से प्रतिष्ठित है।

एहि रामकह तोरे सोहन्ती । गणहर देवहि दिटु वहन्ती ॥
(पउ० १, २)

गोस्वामी तुलसीदास रामकथा को सरिता मानकर तो चलते हैं—

चली सुभग कविता सरिता-सी ।

राम विमात्रस जल भरिता-सी ॥ (राम० बाल० ३६-३८)

उसकी उपमा मरोवर में भी देते हैं और अनेक तरह से इसका गुणगान करते हैं।

दोनों ही कवि रामकथा को प्रारम्भ करते समय अपने पूर्व के आचार्यों व भगवत्कृपा के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं—

बद्धमाण, मुह-कुहर-विणिगय ।

राम कहा-णइ-एह कमागय ॥ (पउ० १, २, १,)
तथा -

जस कछु बुधि विवेक बल मेरे ।

तस कहिहु हिप्र हरि के फेरे ॥

अतः काव्यमृत्जन के उद्देश्य एवं प्रारम्भ में दोनों कवि काफी साम्य रखते हैं। उनमें भिन्नता जो भी है, नहीं के बराबर है। फिर भी खल-निन्दा और सज्जन-प्रशंसा के बहाने तुलसीदास ने जो अपने युग का और अपनी आन्तरिक भावनाओं का चित्रण किया है, वह स्वयम्भू में नहीं है।

वस्तु-विन्यास

गोस्वामी तुलसीदास ने रामकथा का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, उसका घटनाक्रम इतना प्रसिद्ध हो चुका है कि यदि हम अन्य रामकथाओं को पढ़ते हैं तो उनके परिवर्तनों पर हमें विश्वास ही नहीं होता। लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि रामकथा जब भी जिस किसी भाषा में लिखी गई, कई रूपों में परिवर्तित हुई है। स्वयं तुलसीदास की रामकथा में वे घटनाएँ व प्रसंग नहीं हैं जिनसे राम के आदर्श में कुछ कमी आती थी और जिन्हें बाल्मीकि

आदि ने निमित्त किया था। यह सब प्रत्येक कवि के उद्देश्य-भेद के कारण हुआ है।

स्वयम्भू के पउमचरित की रामकथा में परिवर्तन स्वाभाविक है। यहां न केवल कवि की दृष्टि में ही भेद है, अपितु रामकथा को जैन विचारधारा के अनुकूल ढाला भी गया है। मानस की रामकथा के साथ—रामजन्म, घनुषभग, सीता-विवाह, वन-गमन, भरतमिलाप, गीता-हरण, शूर्पणखा का अपमान, खरदूषण-वध, रावण-वध आदि प्रसंगों के वर्णन में पउमचरित का कोई विशेष विरोध नहीं है, केवल कहीं नामों में भिन्नता व वर्णनशैली की विविधता है। लेकिन पउमचरित में स्वयम्भू की अपनी कुछ मौलिक स्थापनाएँ भी हैं; जैसे—(१) राम-लक्ष्मण और रावण को न केवल जैन धर्मावलम्बी मानना अपितु त्रिपष्टि शलाका महापुरुषों की कोटि में रखकर बलदेव, वामुदेव और प्रतिवामुदेव मानना। (२) राक्षस और वानर-वशों का विद्याधर वशों की भिन्न-भिन्न शाखाएँ मानना। (३) दशरथ की तीन रानियों के साथ चौथी रानी सुप्रभा को शत्रुघ्न की माता मानना। (४) राम और लक्ष्मण की अनेक पत्नियों का उल्लेख। (५) राम, लक्ष्मण और सीता की कामदशा का वर्णन। (६) वन-वास में जलक्रीडा आदि के उल्लेख। (७) लक्ष्मण द्वारा रावण का वध तथा राम, सीता, लक्ष्मण आदि प्रमुख पात्रों द्वारा जिनदीक्षा का ग्रहण, इत्यादि।

तुलसीदास और स्वयम्भू की कथावस्तु में इस तरह साम्य, वैषम्य होते हुए भी कथा की स्वाभाविकता किसी में समाप्त नहीं हुई है। दोनों जगह जो परिवर्तन व भिन्नता है उसके अपने कुछ अनिवार्य कारण भी हैं। यद्यपि स्वयम्भू प्रौढ़ प्रतिभा के धनी थे किन्तु वस्तु-विन्यास में वह सुघड़ता वे नहीं ला सके जो महाकवि तुलसीदास के रामचरितमानस में है। गोस्वामी जी का प्रबंध सौष्ठव कमाल का है।'

काव्य-सौष्ठव

महाकाव्यगत समस्त विशेषताओं का समावेश स्वयम्भू और तुलसीदास के प्रस्तुत ग्रन्थों में है। सध्या-वर्णन, वसन्त, नदी, समुद्र, वन, युद्ध आदि काव्योपयुक्त प्रसंगों के

वर्णनों में दोनों कवि सिद्धहस्त हैं। प्रकृतिचित्रण में स्वयम्भू ने प्रकृति के शान्तरूप की अपेक्षा उसके उग्ररूप के वर्णन में जहाँ अधिक रुचि दिखाई है^१ वहाँ तुलसीदास ने प्रकृतिचित्रण के बहाने समाज का चित्र उपस्थित किया है। 'परम रम्य आराम यह जो रामहि सुख देत' के व्याज से रामप्रेम से प्रीतप्रीत सन्त समाज की सृष्टि की है^२ और 'चातक कोकिल कीर चकोरा' पक्षियों के वर्णन में भक्तों के गुण गाये हैं। दोनों कवि जन-साधारण में प्रचलित उपमानों का उपयोग करते हैं यही उनकी प्रमुख विशेषता है।

चरित्रचित्रण में स्वयम्भू के पात्र उतने सशक्त और सजीव नहीं हैं, जितने तुलसीदास के। स्वयम्भू ने हर पात्र को जिन-भक्ति के रंग में रंगने की कोशिश की है और उसमें संसार की असाधता आदि का कथन कराया है, जबकि तुलसीदास का प्रत्येक पात्र सघी हुई तूलिका से निर्मित और स्वाभाविक है। स्वयम्भू के राम धीरोदात्त, भक्ति, क्षमा, दृढ़ता और आत्मगौरव से युक्त साधारण मानव की तरह पूर्ण विकास की ओर बढ़ते हैं, जबकि तुलसी के राम परमात्मा से मनुष्य का अवतार ग्रहण करते हुए सरलता, स्नेह, नम्रता, उदारता एवं निस्वार्थता के आदर्श को उपस्थित करते हैं।

भाव-चित्रण में दोनों कवि बेजोड़ हैं। नव-रसों का समावेश दोनों ग्रन्थों में है। किन्तु शान्तरस की प्रधानता है। स्वयम्भू ने यद्यपि निवृत्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया है, किन्तु जलक्रीड़ा के वर्णन में स्वयम्भू की प्रसिद्धि है।^३ उन्होंने शृङ्गाररस का चित्रण भी बड़ी उदारता से किया है। यहाँ तक कि संसारत्यागी साधु भी हृदयग्राही शृङ्गारिक वर्णन करते नजर आते हैं, जबकि गोस्वामीजी का शृङ्गार रस मर्यादापूर्ण और विशुद्ध है। कथन रस के चित्रण में स्वयम्भू ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। राम-वनगमन के समय व्याकुल सुमित्रा का चित्रण कवि ने किया है—

रोवति ए लक्खण-मायारि ए, सयल लोउ रोवापियउ ।
कारुणइ कव्व कहाए जिह, कोवल अंसु मुधावियउ ॥

(पउ० ६९-१३)

इसी तरह तुलसीदास की कौशल्या का विषाद हृदय-विदारक है—

कहि न जाइ कछु हृदय विषाद ।

मनहुं मृगी सुनि केहरि नादू ॥

दारुन दुमह दाह उर व्यापा ।

वरनि न जाहि विलाप कलापा ॥

(रा० अयो० ५४-५७)

तुलसीदास रम्यिद्ध कवीश्वर थे। उनका मानस विषय-रस से परिपूर्ण है। उन्होंने प्रत्येक भाव की अभिव्यंजना इतने स्वाभाविक और सरल ढंग से की है कि कई स्थलों पर नौ रसों का माधुर्य समेट कर रख दिया है। तीव्रता और वेग के भावों और मनोवेगों का चित्रण करने में वे सिद्धहस्त थे। इसलिए जन-मानस के अन्तस्थल तक पहुँच गये हैं।

कल्पना-विलास में दोनों कवियों ने विभिन्न अलंकार व छन्दों का प्रयोग किया है। स्वयम्भू के महाकाव्य में उपमा, उत्प्रेक्षा, यमक, अनन्वय, तद्गुण आदि अनेक अलंकारों का स्वाभाविकता से प्रयोग हुआ है। अलंकारों में कही-कही हल्की-सी उपदेश-भावना भी दृष्टिगत होती है। यथा—

लक्खण कहि वि गवेसिह तं जलु ।

सज्जणहियउ जेम जं निम्मलु ॥^४

तुलसीदास का अलंकार विधान भी परम मनोरम है। उत्प्रेक्षा, रूपक और उदाहरण उनके सबसे प्रिय अलंकार हैं। इनके समन्वय की असाधारण क्षमता भी उनमें है।^५

दोनों कवियों ने अपने-अपने युग की प्रतिनिधि भाषा में लिखा है। स्वयम्भू ने साहित्यिक अपभ्रंश भाषा का प्रयोग किया है। अनुकरणात्मक शब्दों का प्रयोग—'तड़ि-तड़-तड़इ पड़इ घड़ु गज्जई,' भावानुकूल शब्द-योजना एवं

१. अपभ्रंश-साहित्य—कोछड़, पृ० ६३।

२. तुलसी-वर्णन, पृ० ३४७।

३. अपभ्रंश-साहित्य, पृ० ५७ तथा द्रष्टव्य, डा० उपा-

ध्याय, 'महाकवि स्वयम्भू'।

४. अपभ्रंश-साहित्य, पृ० ६७।

५. तुलसीदास, पृ० ३५२।

शब्दों में समाहार-शक्ति के दर्शन स्वयम्भू की भाषा की मुख्य विशेषता है।^१ तुलसीदास की भाषा क्रमशः पौष्ट हुई है। मानस में भाषा का अत्यन्त सुवरा हुआ रूप प्राप्त होता है। तुलसीदास ने अवधी भाषा को अपने भाव व्यक्त करने का माध्यम बनाया है। किन्तु वे संस्कृत, प्राकृत एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के भी जानकार थे। शब्द-भंडार इनका अत्यन्त विशाल है। अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना शक्तियों का चमत्कारिक प्रयोग उन्होंने किया है। इस प्रकार तुलसीदास जी की शैली में ऋजुता, सुबोधिता, चारुता, अल्पालंकारप्रियता और उपयुक्त प्रवाह आदि गुणों का समावेश हो गया है। भाषा शैली विषयक विशेषताएं उनकी अपूर्व प्रतिभा की ही परिचायक हैं।^२

स्वयम्भू ने यद्यपि अपभ्रंश के प्रायः सभी छन्दों का प्रयोग किया है^३ किन्तु उनके ग्रन्थ में कडबक का प्रयोग बहुलता से हुआ है, जिसमें आठ अर्धालियों के बाद छत्ता छन्द का व्यवहार किया गया है। यही शैली रामचरित मानस में भी हाई जाती है। तुलसीदास ने आठ अर्धालियों अर्थात् चौपाई के बाद दोहो का प्रयोग किया है।^४ छन्द-प्रयोग में तो वे निश्चिन्त ही स्वयम्भू एवं अपभ्रंश शैली से प्रभावित थे।

दोनों ही महाकवि नैतिक आदर्शों के प्रतिष्ठापक हैं। अतः स्वभावात् उनके ग्रन्थों के वर्णनों में से कुछ पंक्तियों ने रमभरी उक्तियों का प्रभाव लिया है और जन-साधारण में सरलता से प्रयोग की जाती है। तुलसीदास की उक्तियां तो प्रसिद्ध हैं, किन्तु स्वयम्भू के पास भी उनका कम भंडार नहीं है; जैसे — 'निय दुक्खहुं खाणि विमोय-णिहि', 'सच्चउ जीविउ जलबिन्दु-सउ', 'गय दियहा कि एन्ति पढीबा', इत्यादि।^५

आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण

महाकवि स्वयम्भू और तुलसीदास दोनों के ग्रन्थ-प्रणयन के मूल में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक भावना ही अधिक प्रबल है। दोनों महाकवियों के समय धार्मिकता के क्षेत्र में परिवर्तन जोरों से हो रहा था। अतः प्रायः दोनों ने विभिन्न दार्शनिक मतभेदों के समन्वय और एवं आध्या-

त्मिक विचारों के प्रसार के लिए प्रयत्न किये हैं। दोनों की दृष्टि अपनी-अपनी विशेष दार्शनिक परिधि में उदार है। किन्तु दार्शनिक सिद्धान्तों में पर्याप्त अन्तर भी है।

स्वयम्भू का मुख्य उद्देश्य प्राचीन रामकथा की कुछ भ्रान्तिपूर्ण घटनाओं का बदलकर उसे जैनधर्म में ढालना था। यद्यपि उसमें वे पूर्ण सफल नहीं हुए, किन्तु इस वहाने उन्होंने जैनधर्म के प्रगम सिद्धान्तों का प्रचार खूब किया है। शायद ही कोई जैनतत्त्वमीमांसा का क्षेत्र उनकी दृष्टि से बचा हो। मनुष्य जीवन की सार्थकता, सामारिक जीवन में धार्मिक अनुष्ठानों का विधान, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक आदि की तात्त्विक व्याख्या कर स्वयम्भू ने अपना आध्यात्मिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। दार्शनिक विचारों के अन्तर्गत उन्होंने क्षणिकवाद, सर्वास्तित्ववाद आदि अन्य मतों का खण्डन कर स्याद्वाद और समत्वयोग की प्रतिष्ठापना की है। यद्यपि ये सब परम्परागत जैन सिद्धान्त हैं तथापि अभिव्यक्ति की नवीनता में स्वयम्भू की अपनी मौलिकता है। जिनवर-भक्ति द्वारा सर्वसामान्य को प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर प्रेरित करना उनका प्रमुख उद्देश्य था, जिसमें वे काफी हद तक सफल हैं। इनके द्वारा नैतिक उपदेशों का प्रतिपादन सम्प्रदाय के घेरे से बाहर है।

महाकवि तुलसीदास की आध्यात्मिकता एवं दार्शनिकता, जो रामचरितमानस में चित्रित हुई है, भक्तिवाद से प्रभावित है। तुलसीदास ने धर्मभावना में बाह्याङ्गमय, भूत-प्रेत-पूजा तथा रहस्यवाद का खण्डनकर नैतिक धर्म की स्थापना में अहिंसावाद को सर्वोच्च स्थान दिया है और हिंसा का परम्परागत रूप से विरोध किया है — 'पगपीडा सम नहीं अषसाई' आदि।

गोस्वामी जी की दार्शनिक पद्धति स्वतंत्र है।^६ उनका ज्ञान प्रत्यक्ष है, तर्क और वाद पर अवलम्बित नहीं।^७ उनके द्वारा माया, ब्रह्म, जीव, जगत् आदि के निरूपण में उपासक और उपास्य की पृथक् सत्ता पूर्णतया प्रतिष्ठित है।^८ शरीर और आत्मा का भिन्न मानते हुए उन्होंने कर्म-

१. अपभ्रंश-साहित्य, पृ० ६५।

२. तुलसीदास, पृ० ३६५।

३. पउमचरित—डा० भायाणी, पृ० ७८।

४. भारतीय जैन साहित्य संसद् परिवेशन १, पृ० ७७
—डा० राजाराम जैन का निबन्ध।

५. द्रष्टव्य—डा० उपाध्याय — 'महाकवि स्वयम्भू'।

६. तुलसी-दर्शन—डा० बलदेवप्रसाद मिश्र।

७. रामचरितमानस की भूमिका, पृ० १०८।

८. तुलसीदास और उनका युग, पृ० ३०२।

सिद्धान्त का अनुकरण किया है। किन्तु वे इस जगत को मिथ्या, क्लेशयुक्त आदि नहीं मानते। उन्हें समस्त जगत् ही परमात्मामय दिखाई पड़ता है। इसलिए रामभक्ति को उन्होंने सर्वोपरि मानने का आग्रह किया है। किन्तु इस सबके बावजूद भी वे बट्टर व संकीर्ण सम्प्रदायवादी नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे मूलतः उदार चिन्तक थे। उनका कहना है —

कोउ कह सत्य भूट कह कोऊ जुगल प्रबलकर मानै ।

तुलसीदास जो तजै तीनि भ्रम सो आपुन पहिचानै ॥

योगदान

इसमें कोई शक नहीं कि स्वयम्भू और तुलसीदास दोनों ने ही अपने-अपने युग का प्रतिनिधित्व किया है। भारतीय संस्कृति और आज के सम-सामयिक परिवेश में उनका कितना योगदान है, इसका मूल्यांकन करना सहज नहीं है।

स्वयम्भू के पउमचरित ने पूर्व प्रसिद्ध रामकथा को एक नयी भाषा में जीवित रखा है और उसे नये परिवेश में देखने की कोशिश की। रामकथा और अपभ्रंश भाषा दोनों एक दूसरे से परस्पर उपकृत हैं। रामकथा को माध्यम बनाकर जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रचार प्रसार सर्वसामान्य में करने के लिए स्वयम्भू ने प्रयत्न किया और जनभाषा का आघार होने के कारण उस समय उसे प्रसिद्धि भी मिली, यह अस्दिग्ध है। किन्तु पउमचरित के कथानक को समुचित आदर नहीं मिला, फिर भी कवि ने अपनी अमाधारण कव्य-प्रतिभा, सरसता और अनुभव-गम्भीरता के कारण अपने जीवनकाल में पर्याप्त सम्मान एवं यश विद्वत्समाज में अर्जित कर लिया था, जो कवि का प्रतिपाद्य भी था।

पउमचरित वर्तमान में पठन-पाठन एवं मनन-चिन्तन से भी उपेक्षित ही हो, किन्तु हिन्दी साहित्य के विकास में भाषा-विज्ञान एवं काव्यात्मक दृष्टि से उसकी उपयोगिता कम नहीं है। वह तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक जीवन का चित्र उपस्थित करने में भी समर्थ है। इस दृष्टि से कोष के क्षेत्र में कई विद्वानों ने उसका अध्ययन प्रस्तुत

किया है, किन्तु अभी तक वह अन्यान्य कारणों से प्रकाश में नहीं आ पाया।^१

महाकवि तुलसीदास के योगदान को परिधि में बाधना उसकी विशालता को कम करना है। वे भारत के उन प्रमुख रत्नों में हैं जिन्होंने भारत की संस्कृति पर प्रभाव डालकर हमारी मानसिक, व्यावहारिक और सामाजिक भावना के स्वरूप को बहुत कुछ बदल दिया है। भाषा और साहित्य के माध्यम से उन्होंने विश्व साहित्य में भी प्रतिष्ठापूर्ण स्थान बना लिया है। आज गोस्वामी जी के रामचरितमानस का घर-घर, गाँव-गाँव और भोंपड़ी-भोंपड़ी में जो प्रचार और प्रसार हमें दिखाई देता है उसका कारण ग्रन्थ द्वारा सदाचार की प्रवृत्तियों का विकास, राम एवं सीता की प्राध्यात्मिक भावना और सासारिक जीवन के पारिवारिक व व्यक्तिगत उत्थान को ही मानना चाहिए। आज भी ये भावनाएँ हमारे लिए वैसी ही उपयोगी हैं जैसी गोस्वामी जी के समय में थी।^२ किन्तु समाज के बदलते परिवेश और वातावरण के अनुकूल हमें काफी सजग होकर उसमें प्रवृत्त होना चाहिए।

तुलसीदास की इस अपूर्व देन के बावजूद भी रामचरितमानस, यशवि जन-साधारण में प्रसिद्ध एवं समादरणीय है, किन्तु व्यावहारिक रूप में उसके आदर्शों का कितना उपयोग हुआ है या हो रहा है, सोचने का विषय है? तुलसीदास ने परम्परा, अपने व्यक्तित्व एवं समय से प्रभावित होकर —

नही शूद्र गुनगान प्रवीना । पूजिय विप्र शील गुन हीना ॥
सकल कपट अघ अवगुन खानी ।

विधिहुं न नारि हृदयगति जानी ।

अधम तैं अधम अधम अति नारी ।

इत्यादि जो बातें कही हैं इनसे कवि के व्यक्तित्व पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा है, भले ही उनके साथ मजबूरी रही हो।

द्वैतवाद का खण्डन तुलसीदास को अवतारवाद की स्थापना के लिए करना पड़ा। किन्तु वही अवतारवाद [शेष पृष्ठ २१ पर]

१. द्रष्टव्य, जैनोलाजिकल रिसर्च सोसायटी के दिल्ली सेमिनार ७३ की स्मारिका एवं ज्ञानपीठ-पत्रिका, ६६।

२. तुलसीदास और उनके ग्रन्थ, पृ० २।

दिगम्बर जैन ग्रंथ प्रशस्तियों का महाखान मोजखान

□ श्री अक्षतर हुसैन निजामी, रीवां (म० प्र०)

चंदेरी देश के इतिहास के तीन युग हैं—पहला राज-पूत काल जिसमें परिहारो तथा याज्वपेल्लो का शासन रहा है। इस समय की प्रशस्तियों और शिलालेखों पर अनुसंधान की आवश्यकता है। दूसरा युग उस समय आता है जब अलाउद्दीन खिलजी की बेबी हुई सेना ने चंदेरी पर दिल्ली सुलतानों की सत्ता जमाई। तीसरा युग है माडव के गोरी खिलजी नरेशों का जब बृहद् मालवा के उत्तरी खण्ड की राजधानी चन्देरी रखी गई, जिसका अपना महत्त्व रहा। इस दिल्ली-माडव काल में अनेकों शिलालेख संस्कृत तथा देशी बोली अथवा मिश्रित भाषा में और इसी प्रकार ग्रंथ प्रशस्तियां तथा लिपि प्रशस्तियां भी पाई गई हैं जो दिगम्बर जैन ग्रंथों में लगी हुई हैं।

चंदेरी देश में दिल्ली सुलतानों के राज्यांतर्गत बटिहाडिम को उप-राजधानी बनाकर गढ़ का निर्माण कराया गया था। तुगलक काल के अनेकों शिलालेख मिले हैं। संवत् १३८५ (सं० १३२८ ई०) के बटिहागढ़ लेख में सुलतान मुहम्मद बिन तुगलक के विषय में इस प्रकार लिखा है :—

“अस्ति कलियुगे राजा शकेन्द्रो वसुधाधिपः।

योगिनीपुरमास्थाय यो भुक्ते सकलां भूमीम् ॥

सर्वसागरपर्यन्त वशीचक्रे नराधिपान् ।

नहमृदसुरत्राणो नाम्ना शूरोभिनन्दतु ॥

अर्थात्—‘कलियुग में पृथिवी का स्वामी शकेन्द्र (मुसलमान राजा) है जो योगिनीपुर (दिल्ली) में रहकर समस्त पृथ्वी का भोग करता है और जिमने समुद्र पर्यन्त सब राज्यों को अपने वश में कर लिया है। उस शूरवीर सुलतान महमूद का कल्याण हो।’ यहाँ ‘महमूद’ से अभिप्राय मुहम्मद बिन तुगलक है।

संवत् १३८३ (सन् १३२६ ई०) के एक सती लेख

में भी पादपाह महमूद के राजत्वकाल का उल्लेख है जिसमें उसके लिए ‘महासुल्तान’ की उपाधि का प्रयोग किया गया है और एक ग्रंथ लेख में उसके लिए ‘महाराज साहि’ तथा ‘महाराजाधिराज सुल्तान’ भी आया है। दतिया के पास एक शिलालेख मिला है जिसमें फीसेज शाह तुगलक को सन् १३६४ ई० में ‘परम भट्टारक परमेश्वर’ के विरुद्ध से स्मरण किया गया है। परगना-धिकारियों के लिए प्रायः ‘महामलिक’ का उपयोग शिलालेखों में मिलता है।

माडव सल्तनत की नींव डालने वाला दिलावर खाँ है। एक फारसी के शिलालेख में उसकी उपाधियाँ इस प्रकार हैं—“उलुग कुतलुग, आजम मुअज्जम, शम्सुद्दौलत वहीन अमीद बिन दाऊद गोरी अलमुखातुब दिलावर खाँ।” विदित हो कि ‘उलुग कुतलुग’ (तुर्की) और ‘आजम मुअज्जम’ (अरबी) पर्यायवाची हैं जिनके लिए संस्कृत वालों ने ‘महाभोज’ की दाब्दावली चलाई। यहाँ प्रयोजन तो चंदेरी देश से है। चंदेरी का प्रथम राज्यपाल कदखाँ जान पड़ता है। दिलावर खाँ का जेठा पुत्र अल्य खाँ (होशंग) युवराज पद के पश्चात् सुलतान बना और कनिष्ठपुत्र कदखाँ चंदेरी का शासक था जिसके दो शिलालेख चंदेरी (१४१६) तथा शिवपुरी (१४१९) के प्राप्त हैं। इसके दरबार में काजी खाँ बद्र मुहम्मद दिल्ली निवासी जो अपने को ‘घारवाल’ कहता है और ‘अदानुल फुदला’ नाम के शब्दकोश का सम्पादक था, सन् १४१८ में आया था। उसने चंदेरी के शासक की उपाधियाँ इस प्रकार दी हैं—“खाने आजम खाने मुअज्जम मसनदे आली कदखाँ इब्न दिलावर खाँ।” वगैरे समझना चाहिए कि चंदेरी के गवर्नरों का विरुद्ध “खाने आजम खाने मुअज्जम” कदखाँ शाहजादे से चला और बाद के उत्तराधिकारी

उसी का अनुसरण करते रहे ; उदाहरणार्थ 'खाने आज़म शेर ख़ाँ' १४७६, ८४ और ८८-८९ के शिलालेखों में और खाने आज़म अफ़जल ख़ाँ १५२० ई० के शिलालेख में इसी विरुद्ध के साथ उल्लिखित है। इसी प्रकार माडव सुलतान के लिए 'महाराजाधिराज' का उपयोग गयास-शाह से महमूदशाह द्वितीय तक होता रहा। मालवा सुलतानों ने ग्राम जनता की राजभक्ति और स्वामीभक्ति का जहाँ लाभ उठाया, वहाँ साथ ही ग़ैर मुस्लिम जनता का हृदय भी मोहने के साधन प्रयत्नाये ; मन्दिरों को उदारतापूर्वक सहायता देने के साथ-साथ जैन श्रेष्ठियों को उच्च पद तथा सम्मान प्रदान किया; सुदृढ़ शासन के द्वारा व्यवसाय तथा व्यापार को उन्नति दी। इतिहासकार फ़रिश्ता ने गयास खिलजी को भोगी-विलासी लिखा है। किन्तु उसके समय में शिलालेखों का बाहुल्य था तथा ग्रन्थ प्रशस्तियों में बड़ी संख्या में उसका उल्लेख है और ये शिलालेख और प्रशस्तियाँ दूरवर्ती क्षेत्रों में पाई गई हैं।

स्वयं चंदेरी में जैनियों के भट्टारकीय आन्दोलन का केन्द्र इसी समय में बना। पंडित फूलचन्द शास्त्री लिखते हैं कि—“मूलसंघ नन्दि आम्नाय की परम्परा में भट्टारक पद्मनन्दी का जितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, उनके पट्टधर भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति का उससे कम महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। उनका अधिकतर समय गुजरात की अपेक्षा बुन्देलखंड में और उससे लगे हुए मध्यप्रदेश में व्यतीत हुआ है। चंदेरी पट्ट की स्थापना का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है।”^१ शास्त्री जी की मान्यता यह है कि वि० सं० १४६३ (सन् १४३६ ईस्वी) के पूर्व देवेन्द्रकीर्ति भट्टारक पद को अलंकृत कर चुके थे। ऐसा लगता है कि वि० सं० १४६३ के पूर्व ही चंदेरी पट्ट स्थापित किया जा चुका होगा। और देवेन्द्रकीर्ति चंदेरी मण्डलाचार्य बन चुके होंगे। भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य भट्टारक त्रिभुवनकीर्ति मण्डलाचार्य हुए और वि० सं० १५२५ (सन् १४९८ ई०) के पूर्व ही चंदेरी पट्ट पर अभिषिक्त हो गये थे जो वि० सं० १५२२ (१४९५ ई०) के आस-पास का समय निर्धारित किया गया है।^२

कवि श्रुतकीर्ति, त्रिभुवनकीर्ति के शिष्य थे। अपभ्रंश

में इनकी चार कृतियाँ उपलब्ध हैं। हरिवंशपुराण की दो प्रतियाँ—एक आरा के जैन सिद्धान्त भवन और दूसरी आमेर के भट्टारक महेन्द्रकीर्ति के शास्त्र भंडार में—पाई गई हैं। परमेष्ठी प्रकाशसार की एकमात्र प्रति आमेर ज्ञान भण्डार में है। योगसार या जोगसार श्रुतकीर्ति का तीसरा ग्रंथ है। चौथा ग्रंथ धर्मपरीक्षा है, जिसकी एक मात्र अपूर्ण प्रति स्वर्गीय डा० हीरालाल जैन के पास थी। ये चारों ग्रंथ श्रुतकीर्ति ने माडवगढ़ के सुलतान गयासुद्दीन और युवराज नसीर शाह के राज्यकाल में सं० १५५२-५३ (१४६५-६६ ईस्वी) में ही लिखे और प्रतियाँ भी जो मिली हैं वे भी इसी सन्-संवत् की हैं।

श्रुतकीर्ति के इन ग्रन्थों में दमावादेश के जेरहट नगर के ‘महाखान मोजखान’ का और जेरहट नगर के नेमी-श्वर जिनालय में बैठ कर ग्रंथों के निर्माण का उल्लेख है। हरिवंशपुराण की आरा प्रति में लिखा है—“संवत् १५५३ वर्षे कवावादि हूज सुदि (द्वितीया) गुरो दिने अछेह श्री मंडपाचल गढदुर्गे सुलतान गयासुद्दीन राज्ये प्रवर्तमाने श्री दमोवादेशे महाखान भोजखान वर्तमाने जेरहट स्थाने सोनी श्री ईसुर प्रवर्तमाने श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री पद्म-नन्दिदेव तस्य शिष्य मडलाचार्य देविन्दकीर्तिदेव तच्छिष्य मडलाचार्य श्री त्रिभुवनकीर्तिदेवान् तस्य शिष्य श्रुतकीर्ति हरिवंशपुराणे परिपूर्ण कृतम्” धर्मपरीक्षा ग्रंथ में उस समय जेरहट नगर के सम्पन्न होने की सूचना मिलती है किन्तु ‘जेरहट’ अभी तक खोजा जा रहा है, इसका पता नहीं चलता। सागर जिले में रायबहादुर हीरालाल ने ‘जेरठ’ गांव का उल्लेख किया है, लेकिन यहाँ मन्दिर के अवशेष पाये नहीं जाते। तो फिर ‘जेरहट’ कहाँ गया यह प्रश्न हल करने की आवश्यकता है।

अब रहा मूल प्रश्न महाखान मोजखान का, तो यह कोई राज्यपाल का नाम हो ऐसा जान नहीं पड़ता, यद्यपि इसे कुछ लोग महाखान भोजखान भी पढ़ते हैं। इन पंक्तियों के लेखक का मत है कि यहाँ कवि श्रुतकीर्ति अथवा लिपिकार का अप्रिम्राय किसी विशेष व्यक्ति से न

होगा। केवल परम्परा के अनुसार मांडव के सुलतान का नाम तो दे दिया जो गयासशाह और उसका युवराज नसीरशाह था, चन्देरी के राज्यपाल के नाम की चिन्ता नहीं की—केवल उसकी उपाधि जो उस समय प्रचलित थी और उपयोग में आ रही थी, अर्थात् 'खाने आज़म खाने मुअज़्जम', उसी का संस्कृत रूप महात्मान भोजखान अंकित करते चले गये हैं। फिर भी सवाल उठता है कि सन् १४६५-६६ ई० में चन्देरी का हाकिम कौन था। अभी तक इसकी जानकारी शिलालेख या अन्य साधनों द्वारा सन्-संवत् के साथ प्राप्त नहीं है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. हीरालाल : दमोह दीपक।
२. हीरालाल : इन्फ्रिक्शन्स ग्राफ सी. पी. ऐन्ड बरार।
३. हरिहरनिबाम द्विवेदी : खानियर राज्य के अभिलेख।
४. पन्नालाल जैन शास्त्री : जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह, भाग २।
५. एपिग्रेफिया इन्डिका—ऐरेबिक पर्सियन सप्लीमेंट।

६. —इन्डियन एपिग्रीफी ऐन्वुअल।
७. —एपिग्रेफिया इन्डिका, रिपोर्ट्स।
८. —रिसर्चर (जयपुर—राजस्थान)।
९. —अनेकान्त (दिल्ली)।
१०. —जैन सिद्धान्त भास्कर (आरा)।
११. —जैन साहित्य का इतिहास, (वाराणसी)।
१२. नाथूराम प्रेमी : दि० जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ।
१३. डा० नेमीचन्द्र शास्त्री—तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ३, ४३०-३२।
१४. भुवबली शास्त्री—प्रशस्ति संग्रह।
१५. भट्टारक श्रुतकीर्ति - हरिवंशपुराण (पारा तथा ग्रामेर प्रतियाँ)
१६. —परमंष्टी-प्रकाश-मार (ग्रामेर प्रति)
१७. —योगमार (जयपुर प्रति)।

कोथर—रीवां (प० प्र०)



[पृष्ठ १८ का शेषांश]

मानस के आदर्शों के अनुकरण में बाधा स्वरूप उत्पन्न हुआ है, क्योंकि समाज के महानुभाव जब अवतार-कोटि में चित्रित किये जाते हैं तो वे भक्ति और श्रद्धा के योग्य तो हो जाते हैं, किन्तु उनके जीवनचरितो से हम आदर्श और स्फूर्ति ग्रहण नहीं कर पाते। उनकी अलौकिक, अनुभूत शक्तियों के अनुकरण में हम असमर्थ हो जाते हैं। अतः रामचरितमानस का आदर्शों का मान त्रिष स्तर पर ग्रहण किया जाना अधिक अपेक्षित है। इस दृष्टि से 'पउम-चरित' का कथानक अधिक व्यावहारिक है। उनके आदर्श अधिक दूर नहीं लगते। वे व्यक्ति को स्वयं पुरुषार्थ के लिए प्रेरित करते हैं।

उक्त पर्यवेक्षण के फलस्वरूप महाकवि स्वयम्भू और तुलसीदास के व्यक्तित्व एवं कृतिव्यवस्था का प्रत्येक पक्ष संक्षेप रूप से हमारे समक्ष स्पष्ट हुआ है। दोनों के वैयक्तिक जीवन में भिन्नता होते हुए भी व्यक्तित्व में प्रायः समानता है। साहित्य सृजन में यदि एक का उद्देश्य धार्मिक प्रचार तथा कीर्तिलाभ करना है तो दूसरा सामाजिक उत्थान और आध्यात्मिक भावना के प्रसार से प्रेरित है।

काव्यमोष्ठव में दोनों बेजोड़ हैं। एक का दार्शनिक चिन्तन यदि समार की अमारता पर मनन करता हुआ निर्वाण की ओर उन्मुख हुआ है तो दूसरे ने सारे जगत् को ही परमात्मामय बना देने की कोशिश की है। एक के राम मानवता से पूर्णता की ओर उन्मुख है तो दूसरे के राम पूर्णता से अवतरित हो मानवता की सृष्टि करते हैं। भारतीय संस्कृति को परिष्कृत एवं समृद्ध बनाने में दोनों का योगदान इतना है कि आने वाली पीढ़ी हमेशा ऋणी रहेगी।

स्वयम्भू और तुलसीदास का यह तुलनात्मक अध्ययन इस बात का एक उदाहरण है कि प्राकृत, अग्रजगत् भाषाओं के साहित्य ने आधुनिक क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य को कितना प्रभावित किया है; कितना स्वरूप एवं उपयोगिता की दृष्टि से दोनों में साम्य-वैषम्य है? भारतीय भाषाओं की रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन का यह क्रम कितना बढ़ेगा उतनी ही सांस्कृतिक एकता की दिशाएं उद्घाटित होगी।



स्याद्वाद : जैन-दर्शन की अन्तरात्मा

[] डा० रामनंदन मिश्र, आरा (बिहार)

‘स्यात्’ शब्द लिङ्-लकार का क्रियारूप पद भी होना है और उगका अर्थ होता है -- होना चाहिए। लेकिन यहाँ इस रूप में यह प्रयुक्त नहीं है। ‘स्यात्’ विधिलिङ् में बना हुआ तिङन्त प्रतिरूपक निपान है। इसका शाब्दिक अर्थ है ‘शायद’ ‘सम्भवतः’ आदि। अतः स्याद्वाद को कभी-कभी संभववाद (theory of probability or may be) भी कहते हैं। प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय अपनी पुस्तक “भारतीय दर्शन” (पृष्ठ १५५) में ‘स्यात्’ शब्द का अनुवाद शायद या सम्भव करते हैं; किन्तु यह अनुवाद सही नहीं है। ‘शायद’ शब्द सदेहवाद का सूचक है किन्तु जैन दर्शन सदेहवाद नहीं है। डा० देवराज ने अपनी पुस्तक “पूर्वी और पश्चिमी दर्शन” (पृ० ६५) में ‘स्यात्’ शब्द का कदाचित् (किसी समय) अनुवाद किया है। किन्तु यह अनुवाद भी भ्रमात्मक है क्योंकि यह संदेह का संकेत करता है। कभी-कभी ‘स्यात्’ का अनुवाद ‘somehow’ (किसी न किसी प्रकार में) किया जाता है किन्तु यह भी सही अनुवाद नहीं है क्योंकि इससे अज्ञातवाद की गंध मिलती है और जैन दर्शन अज्ञातवाद नहीं है। यद्यपि डा० एस० सी० चटर्जी तथा डा० डी० एन० दत्त अपनी भारतीय दर्शन की पुस्तक में ‘स्यात्’ के लिए ‘somehow’ शब्द का प्रयोग करते हैं तथापि वे इसका अनुवाद ‘कथंचित्’ (in some respect) करते हैं। यह अनुवाद सही है। प्रोफेसर महेन्द्र कुमार जैन भी अपनी पुस्तक “जैन दर्शन” (पृ० ५१८) में ‘स्यात्’ शब्द का अनुवाद ‘कथंचित्’ ही करते हैं। पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री अपने ग्रंथ “जैन न्याय” (पृ० २६८-६९) में स्यात् का अनुवाद ‘किंचित्’, ‘कथंचित्’ तथा ‘कथंचन्’ करते हैं। ‘स्यात्’ का अनुवाद कथंचित् होना चाहिए। ‘स्यात्’ का प्रयोग सापेक्ष के अर्थ में किया जाता है। इस तरह स्याद्वाद का अर्थ होना चाहिए सापेक्षतावाद।

एक प्रसिद्ध जैन चिंतक अकलक देव ‘स्यात्’ का प्रयोग ‘अनेकान्त’ के अर्थ में करते हैं। अपने ग्रंथ ‘तत्त्वार्थवातिक’ (पृ० २५३) में उन्होंने लिखा है “तन्मानेकान्तविधि-विचारादिषु बह्वर्थेषु संभवत्सु इह विवक्षावशात् अनेकान्तार्थो ग्रह्यते।” स्वामी समंतभद्र अपनी पुस्तक ‘आप्तमीमांसा’ में कहते हैं कि स्याद्वाद वह सिद्धान्त है जो सदा एकांत को अस्वीकार कर अनेकान्त को ग्रहण करता है। वस्तु अनन्तधर्मात्मक है - अनन्त-धर्मक वस्तु। हमारे सभी निर्णय प्रावश्यक रूप में सापेक्ष तथा सीमित हैं। वस्तु सत् और असत् दोनों हैं। यह सामान्य भी है और विशेष भी। यह स्थायी भी है और क्षणिक भी। यह एक भी है और अनेक भी। यदि हम द्रव्य की दृष्टि में वस्तु को देखते हैं तो यह यथार्थ, सामान्य, स्थायी तथा एक है किन्तु यदि हम इसे पर्याय की दृष्टि से देखते हैं तो यह अयथार्थ, विशेष, क्षणिक तथा अनेक है। छः अर्थ मनुष्यो तथा हाथी की प्रसिद्ध कथा का तात्पर्य यही है कि प्रायः सभी दार्शनिक मतभेदों तथा विवादों का मुख्य कारण है एक आशिक सत्यता को सम्पूर्ण सत्यता मानने की भूल करना। हमारे मतभेद का कारण यह है कि हम अपने विचारों को सर्वथा सत्य मानने लगते हैं।

इस तरह जैन दर्शन की दृष्टि में प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मवाली है। न वह सर्वथा सत् ही है और सर्वथा असत् ही है, न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य ही है। किन्तु किसी अपेक्षा से वस्तु सत् है तो किसी अपेक्षा से असत् है, किसी अपेक्षा से नित्य है तो किसी अपेक्षा से अनित्य है। अतः सर्वथा सत्, सर्वथा असत्, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य इत्यादि एकान्तों का निरसन वरके वस्तु का कथंचित् सत्, कथंचित् असत्, कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य आदि रूप होना अनेकान्त है और अनेकान्तात्मक वस्तु के कथन करने का नाम स्याद्वाद है - अनेकान्तात्मकार्थक्यन स्याद्वाद।

(२)

हम लोग देख चुके हैं कि जैनों के अनुसार वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। केवल सर्वज्ञ ही वस्तु के सभी धर्मों को जान सकता है। किन्तु हम लोगो जैसे अपूर्ण प्राणी वस्तु को एक समय में एक ही विशिष्ट दृष्टि से देखते हैं और इस तरह वस्तु के केवल एक पक्ष या धर्म का ही ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस आशिक ज्ञान को 'नय' कहते हैं—एकदेश विनिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः (न्यायावतार, श्लोक २६)। इस आशिक ज्ञान के आधार पर जो परामर्श (Judgement) होता है उसे भी 'नय' कहते हैं। अकलंक देव 'लघीयस्त्रय' (श्लोक ५५) में 'नय' की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—'नयो जातुरभिप्रायः'। अभिप्राय वह है जो वस्तु के एक पक्ष को स्पर्श करता है। स्वामी समस्तभद्र के अनुसार, 'नय' वह है जो श्रुत प्रमाण के द्वारा गृहीत अर्थ के विशेषो अर्थात् धर्मों का अलग-अलग कथन करता है। उन्होंने अपनी 'आत्ममीमामा' (श्लोक १०६) में लिखा है—'स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेष-व्यञ्जको नयः।' विद्यानन्द स्वामी भी अपने 'तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक' में 'नय' के इसी अर्थ को स्वीकार करते हैं। नय के दो मूल भेद हैं—द्रव्याधिक और पर्यायाधिक। वस्तु के द्रव्याश या सामान्य रूप का ग्राही द्रव्याधिक नय है और पर्यायाश या विशेषात्मक रूप का ग्राही पर्यायाधिक नय है।

किसी वस्तु का ज्ञान तीन प्रकार से संभव है—दुर्नीति (bad judgement), नय (judgment) तथा प्रमाण (valid judgement)। दुर्नीति का अर्थ है आशिक सत्यता को पूर्ण सत्यता के रूप में जानने की भूल करना ; जैसे यह कथन कि वस्तु निरपेक्ष रूप से सत् है (सदैव)। किसी सापेक्ष सत्यता का कथन मात्र, बिना यह कहे कि यह निरपेक्ष है या सापेक्ष नय कहा जाता है ; उदाहरणार्थ, यह कहना कि वस्तु सत् है (सत्)। प्रमाण सापेक्ष सत्यता की उक्ति है, यह जानते हुए कि यह सिर्फ सापेक्ष है और विभिन्न दृष्टियों से इसके विन्न भिन्न अर्थ हो सकते हैं (स्यात् सत्)। जैन दार्शनिकों के अनुसार स्यात् विशिष्ट नय को प्रमाण कहते हैं।

स्व द्रव्य, दिक्, काल तथा रूप की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु सत् है तथा पर द्रव्य, दिक्, काल तथा रूप की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु असत् है। 'घड़ा है' का अर्थ यह नहीं है कि घड़ा सर्वथा सत् है। घड़े का अस्तित्व द्रव्य-विशेष, रूप विशेष, स्थान विशेष तथा काल-विशेष के अनुसार है। अतः यह कथन व्याघातक नहीं है कि घड़ा सत् और असत् दोनों है (भिन्न दृष्टियों से)।

(३)

पाश्चात्य तर्कशास्त्र में परामर्शों के साधारणतः दो भेद किये जाते हैं—अस्तित्वाचक तथा नास्तित्वाचक। किन्तु जैन सात प्रकार का भेद मानते हैं। उपर्युक्त दो भेद भी इनके अंतर्गत हैं। परामर्श को जैन दार्शनिक 'नय' भी कहते हैं। जैन तार्किक प्रत्येक नय के साथ स्यात् शब्द जोड़ते हैं। स्यात् शब्द को जोड़ कर यह दिसलाना चाहते हैं कि कोई भी नय एकान्त या निरपेक्ष रूप से सत्य नहीं है, बल्कि आपेक्षिक है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि भग सात ही क्यों होते हैं ? जैन तार्किकों के अनुसार इस प्रश्न का एक समाधान तो यह है कि मूल नय या भग तीन हैं और गणित के नियम के अनुसार तीन के अपुनरुक्त विकल्प सात ही हो सकते हैं, अधिक नहीं। दूसरा समाधान है कि प्रश्न सात प्रकार के ही होते हैं। प्रश्न सात प्रकार के क्यों होते हैं ? इसका उत्तर है कि जिज्ञासा सात प्रकार की होती है। जिज्ञासा सात प्रकार की क्यों होती है ? क्योंकि सशय सात प्रकार के ही होते हैं। सशय सात प्रकार क्यों होते हैं ? क्योंकि वस्तु के धर्म ही सात प्रकार के हैं।

भारतीय दर्शन में विश्व के सम्बन्ध में सत्, असत्, उभय तथा अनुभय ये चार पक्ष वैदिक काल से ही विचार-कांठि में रहे हैं। चार कांठियों में तीसरी उभय-कांठि तो सत् और असत् दो को मिलाकर बनाई गई है। अतः मूल भग तो तीन ही हैं—सत्, असत् और अनुभय अर्थात् अवबन्धव्य। गणित के नियम के अनुसार तीन के अपुनरुक्त विकल्प सात ही हो सकते हैं, अधिक नहीं। अतः जैन तार्किक परामर्शों के सात भेद मानते हैं जिसे सप्तभगी नय कहा जाता है। नय के सात भेद निम्नलिखित हैं—

स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति च नास्ति च, स्यात् अवक्तव्यम्, स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् च, स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च, और स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च ।

‘स्यात् अस्ति’ अस्तिबोधक या भावात्मक परामर्शों का सामान्य रूप है । स्वद्रव्य की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु सत है । ‘स्यात् घड़ा लाल है’—इसमें यह बोध होता है कि घड़ा सब समय के लिए लाल नहीं है, बल्कि किसी विशेष समय में या विशेष परिस्थिति में लाल है । यह भी बोध होता है कि इसका लाल रंग एक विशेष प्रकार का है । परामर्श का दूसरा भेद है—स्यात् नास्ति । यह नास्तिबोधक या अभावात्मक परामर्शों का सामान्य रूप है । ‘स्यात् घड़ा काला नदी है’—इसका अर्थ है कि कोई एक विशेष घड़ा विशेष स्थान समय तथा परिस्थिति में काला नहीं है । परद्रव्य की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु अगत्य है । परामर्श या नय का तीसरा रूप है—स्यात् अस्ति च नास्ति च ; जैसे—‘घड़ा लाल है तथा नहीं भी लाल है ।’ इससे यह बोध होता है कि घड़ा कभी लाल हो सकता है तथा कभी दूसरे रंग का भी हो सकता है । वस्तु सत् तथा असत् दोनों है (दो भिन्न अर्थों में) । चौथे प्रकार का नय है—स्यात् अवक्तव्यम् जिस परामर्श में परस्पर-विरोधी गुणों के सम्बन्ध में एक साथ विचार किया जाता है उसका यथार्थ रूप ‘स्यात् अवक्तव्यम्’ होता है । घड़ा जब अच्छी तरह से नहीं पकता है तो कुछ काला रह जाता है । जब पूरा पक जाता है तो लाल हो जाता है । यदि यह पूछा जाय कि घड़े का रंग सभी समय में तथा सभी अवस्थाओं में क्या है, तो इसका एकमात्र सही उत्तर यही हो सकता है कि इस दृष्टि से घड़े के रंग के सम्बन्ध में कुछ कहा ही नहीं जा सकता है ।

शेष तीन नय निम्नलिखित ढंग से प्राप्त होते हैं । पहले, दूसरे तथा तीसरे नयों के बाद अलग-अलग चौथे नय को जोड़ देने से क्रमशः पाँचवा, छठा तथा सातवाँ नय बन जाते हैं । पहले और चौथे नयों को क्रमिक रूप से जोड़ने से पाँचवा नय बनना है—स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् च । दूसरे और चौथे नयों को क्रमिक रूप से जोड़ने में छठा नय बनना है—स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम्

च । इसी तरह तीसरे और चौथे नयों को क्रमानुसार जोड़ देने से सातवा नय बन जाता है—स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च ।

(४)

स्याद्वाद के सात भंग जैन ग्रन्थों में विभिन्न क्रमों में पाये जाते हैं । आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ‘प्रवचनसार’ गाथा (२-२३) में ‘स्यात् अवक्तव्य’ को तीसरा और ‘स्यादस्ति नास्ति’ को चतुर्थ भंग रखा है । किन्तु ‘पंचास्तिकाय’ गाथा चौदह में ‘अस्ति नास्ति’ को तीसरा और ‘अवक्तव्य’ को चतुर्थ भंग रखा है । इसी तरह अकलंक-देय ने अपने ‘तत्त्वार्थवातिक’ में एक स्थल (पृ० ३५३) पर ‘प्रवचनसार’ का क्रम अपनाया है और दूसरे स्थल (पृ० ३३) पर ‘पंचास्तिकाय’ का क्रम अपनाया है । दोनों जैन सम्प्रदायों में दोनों ही क्रम प्रचलित रहे हैं । दार्शनिक क्षेत्र में दूसरा ही क्रम प्रचलित रहा है अर्थात् ‘अस्ति नास्ति’ को तीसरा और ‘अवक्तव्य’ को चतुर्थ भंग माना गया है । किन्तु मूल भंग तीन ही हैं—स्यादस्ति स्यान्नास्ति और स्यादवक्तव्य । अतः अवक्तव्य ही तीसरा, भंग होना चाहिए । स्वामी समन्तभद्र ने अपने ‘युक्त्यनुशासन’ में इसी मत को स्वीकार किया है ।

(५)

कुछ पाश्चात्य तार्किकों के विचारों के साथ स्याद्वाद की बड़ी समानता है । ये पाश्चात्य तार्किक भी कहते हैं कि प्रत्येक विचार का अपना-अपना प्रसंग या प्रकरण होता है । उसे हम विचार-प्रसंग कह सकते हैं । विचारों की सार्थकता उनके विचार-प्रसंगों पर ही निर्भर होती है । विचार-प्रसंग में स्थान, काल, दशा, गुण आदि अनेक बातें सम्मिलित रहती हैं । विचार-परामर्श के लिए इन बातों को स्पष्ट करने की उतनी आवश्यकता नहीं रहती है । साथ-साथ उनकी संख्या इतनी अधिक होती है कि प्रत्येक का स्पष्टीकरण सम्भव भी नहीं है ।

जैन स्याद्वाद की तुलना कभी-कभी पाश्चात्य सापेक्षवाद (theory of relativity) से भी की जाती है । सापेक्षवाद दो प्रकार का होता है—विज्ञानवादी और वस्तुवादी । विज्ञानवादी सापेक्षवाद के प्रवर्तक प्रोफेसर,

बकले तथा शिलर आदि हैं। वस्तुवादी सापेक्षवाद के प्रवर्तक ह्यूइटहेड, बूडिन आदि हैं। जैनमत को यदि सापेक्षवाद माना जाए तो वह वस्तुवादी सापेक्षवाद होगा, क्योंकि जैन दार्शनिक मानते हैं कि यद्यपि ज्ञान सापेक्ष है, फिर भी यह केवल मन पर निर्भर नहीं है, बल्कि वस्तुओं के घर्षों पर भी निर्भर है।

स्याद्वाद सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि जैनों की दृष्टि बड़ी उदार है। जैन अन्यान्य दार्शनिक विचारों को नगण्य नहीं समझते, बल्कि अन्य दृष्टियों से उन्हें भी सत्य मानते हैं। भिन्न-भिन्न दर्शनों में सत्ता के भिन्न-भिन्न वर्णन पाये जाते हैं। इसका कारण यह है कि उनमें एक दृष्टि नहीं है। दृष्टि भेद के कारण ही उनमें मतभेद पाया जाता है।

(५)

बौद्ध तथा वेदान्त दार्शनिकों के आक्षेप है कि स्याद्वाद आत्मविरोधी सिद्धान्त है। धर्मकीर्ति तथा शान्तरक्षित का कहना है कि अस्तित्व तथा अनस्तित्व जैसे व्याघातक गुण एक ही वस्तु में एक ही अर्थ में नहीं पाये जा सकते। शंकराचार्य तथा रामानुज भी स्याद्वाद के विरुद्ध यही आक्षेप करते हैं। किन्तु ये आक्षेप सही नहीं हैं। जैन दर्शन यह कभी नहीं कहता है कि व्याघातक गुण एक ही वस्तु में, एक ही समय तथा एक ही अर्थ में पाये जाते हैं। जैनों के अनुसार वस्तु अनन्त धर्म वाली है। द्रव्य की दृष्टि से वस्तु एक, स्थायी तथा यथार्थ है। किन्तु पर्याय की दृष्टि से यह अनेक, परिवर्तनशील तथा अयथार्थ है। स्व द्रव्य, रूप, दिक् तथा काल की दृष्टि से वस्तु सत् है तथा पर द्रव्य, रूप, दिक् तथा काल की दृष्टि से यह असत् है। अतः यहाँ विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं है। वस्तु में व्याघातक गुण भिन्न दृष्टियों से पाये जाते हैं, एक ही दृष्टि से नहीं।

वेदान्ती स्याद्वाद के विरुद्ध एक दूसरा आक्षेप भी करते हैं। उनका कहना है कि यदि प्रत्येक वस्तु संभाव्य है तो स्याद्वाद भी संभाव्य है, यथार्थ नहीं। किन्तु यह आक्षेप भी सही नहीं है। स्याद्वाद संभाव्य वस्तु नहीं है बल्कि सापेक्षवाद है। शंकराचार्य का आक्षेप है कि यदि प्रत्येक सत्यता आंशिक है तो स्याद्वाद भी आंशिक रूप से

ही सत्य है। इस आक्षेप के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि किसी सिद्धान्त की मौलिक मान्यता को स्वयं उस सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेप के रूप में प्रयुक्त करना सही नहीं है। तात्त्विक भाववादियों की मौलिक मान्यता है कि जो प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित है वही सत्य है। उनके विरुद्ध यह आक्षेप करना सही नहीं है कि उनका यह सिद्धान्त ही सत्य नहीं है क्योंकि यह प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणित नहीं है। अतः स्याद्वाद के विरुद्ध यह आक्षेप सही नहीं है कि यह सिद्धान्त आंशिक रूप से सत्य है।

सप्तभंगी-नय के विरुद्ध यह आक्षेप किया जाता है कि इसके अन्तिम तीन भंग पुनरुक्ति मात्र तथा निरर्थक है क्योंकि वे चतुर्थ भंग को क्रमशः प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय से मिला देने पर प्राप्त होते हैं। कुमारिल का आक्षेप है कि इस तरह के संयोग के आधार पर सात के स्थान पर भी भंग सम्भव है। जैन तात्त्विक इस आक्षेप का उत्तर इस प्रकार देते हैं। वे स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि मूल भंग तीन ही हैं किन्तु अन्य चार भंग पुनरुक्ति मात्र तथा निरर्थक नहीं हैं। उनका कहना है कि गणित के नियम के अनुसार तीन के अधिकतम अपुनरुक्त विकल्प सात ही हो सकते हैं। दूसरी बात है कि प्रश्न सात प्रकार के ही होते हैं। अतः अपुनरुक्त अधिकतम भगों की संख्या वे सात मानते हैं। □□□
मगध विश्वविद्यालय, आगरा (बिहार)

‘अनेकान्त’ के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—बीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशक—बीर सेवा मन्दिर के निमित्त
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक श्री भोमप्रकाश जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२१, दरियागंज, दिल्ली-२
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन राष्ट्रिकता—भारतीय
पता—बीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
स्वामित्व—बीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, भोमप्रकाश जैन, एतद्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।
—भोमप्रकाश जैन, प्रकाशक

अग्रवालों की उत्पत्ति

□ पं० परमानन्द जैन, शास्त्री

(समूची वैश्य जाति अर्थात् अग्रवाल जैन एवं जैनेतर, खंडेलवाल, ओसवाल, वर्णवाल, माहेश्वरी रस्तोगी, राजवंशी, परमार (परवार), जायसवाल, पल्लीवाल, लम्बेचू, पोरवाड, गोलालारे, गोल-सिंगारे, गोलापूर्व एवं देश भर में फैली हुई अनेकानेक इतर वैश्य उपजातियों के सम्बन्ध में तथा उनके उत्पत्ति स्थलों के सम्बन्ध में आनुश्रुतिक, पुरातात्विक एवं ऐतिहासिक शोधकार्य करने तथा प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत करने के प्रयास सदैव होते रहे हैं जिनमें 'अनेकान्त' का भी अपना समुचित योगदान रहा है।

विद्वान् लेखक का प्रस्तुत गवेषणापूर्ण लेख इसी दिशा में एक सराहनीय प्रयास है।—सम्पादक)

'अग्रवाल' शब्द का अर्थ होता है, अग्र या अग्रप्रेय जनपद का निवासी। प्राचीन समय में अग्र गण अथवा अग्रप्रेय जनपद समृद्धशाली नगर था। उसी का परिवर्तित रूप अग्रोहा जान पड़ता है। अग्रोदक भी उसका नाम है, इससे जान पड़ता है कि वहाँ कोई सुन्दर विशाल तालाब था, इसी से उसका नाम अग्रोदक रखा हुआ है। यह स्थान हरियाणा में हिंसा नगर से १३ मील की दूरी पर दिल्ली-सिरसा सड़क पर अवस्थित है और इस समय वह उजड़ा हुआ एक छोटा-सा गाँव है। प्राचीन काल में वह एक विशाल एवं अत्यन्त सम्पन्न नगर था। इसका प्रमाण वे पञ्चावशेष है, जो उसके निकट सात सौ एकड़ भूमि में फैले हुए हैं। उसकी समृद्धि का इसमें भी अनुमान होता है कि वहाँ के निवासी सवा लाख व्यक्ति लोहाचार्य के उपदेश से जैनधर्म के धारक श्रावक बने थे। इससे नगर की विशालता का भी पता चलता है। यह एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर रहा प्रतीत होता है। यहाँ एक टीला ६० फुट ऊँचा था, जो फनेहगढ़ जान वाली सड़क के दक्षिण की ओर अवस्थित है। इस टीले से तीन प्राचीन नगरों के अवशेष मिलते हैं, जिनका समय दूसरी शताब्दी में पूर्व और दसवीं शताब्दी में बाद का अनुमानित किया जाता है, जिसकी खुदाई सन् १९३९-४० में हुई थी। उसमें अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई थी। उसी से यह भी ज्ञात हुआ था कि वहाँ अनेक विशाल भवन भी बने हुए थे। २६ फुट के नीचे सबसे अधिक

प्राचीन आहत मुद्रा का नमूना भी मिला है। प्राचीन नगर के अवशेषों के साथ यूनानी सिक्के और ५१ चौखूटे तबले के सिक्के भी मिले हैं, जो इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। तावे के सिक्कों के सामने की ओर वृषभ तथा पीछे की ओर सिंह या चैत्य वृक्ष की मूर्ति अंकित है, जो जैन मान्यता की ओर संकेत करती है।^१ सिक्कों के पीछे ब्राह्मी अक्षरों में अग्रोद के अग्रच-जनपदस, शिलालेख भी अंकित है, जिसका अर्थ अग्रोदक में अग्रच जनपद का सिक्का होता है। उक्त अग्रप्रेय जनपद का ही नाम अग्रोहा प्रचलित हुआ है और राजधानी का नाम 'अग्रोदक' सिक्कों पर उत्कीर्ण है।^२

इंडियन एण्टीक्वेरी, भाग १५, पृ० ३४३ पर अग्रोदक वैश्य का वर्णन दिया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि वहाँ अग्रवाल वैश्यों का खासा जमावड़ा रहा है। अन्य जातियों की अपेक्षा वहाँ अग्रवाल वैश्यों की संख्या अधिक रही है और वे वहाँ अच्छे सम्पन्न एवं वैभवशाली रहे हैं। वे अग्रवाल देशभक्त और वीर जान पड़ते हैं, क्योंकि उन्होंने अपने देश की रक्षा के लिये यूनानी, शक, कुषाण, हूण और मुसलमान आदि विदेशी आक्रमणकारियों से जमकर लोहा लिया था। मुहम्मद गौरी के समय यहाँ के निवासी अग्रवाल राजस्थान, उत्तर प्रदेश, दिल्ली आदि इधर-उधर के प्रान्तों में बस गये थे। इस जाति में भी अनेक प्रतिष्ठित, वीर, पराक्रमी एवं अोज-तेज से सम्पन्न व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने समय-समय पर महत्वपूर्ण कार्य

का संचालन किया है और अपनी कीर्तिको विरस्थायी बनाने का प्रयत्न किया है।

संभवतः ३२६ ई० पूर्व सिकन्दर की वापसी में अग्रोहे के अग्र श्रेणी गणतन्त्र से मूठभेड हुई है। अग्रोहे के वर्तमान अग्रवालों के पूर्वज अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए वीरतापूर्वक लड़े और उन्होंने सिकन्दर के यूनानी सैनिकों के दाँत लटुटे किये, किन्तु वे आक्रान्ता की विपुल सैन्य शक्ति के आगे ठहर न सके। फलतः बीस हजार स्त्री-बच्चों ने जीहर द्वारा अपना अन्त किया। जो इधर-उधर भाग गये थे, व्यापारादि द्वारा अपनी आजीविका करने के कारण वैश्य अग्रवालों में उनकी गणना होने लगी।

कहा जाता है कि अग्रोहा में अग्रसेन नाम का कोई राजा था, उसी की संतान परम्परा में अग्रवाल कहे जाते हैं। यद्यपि अग्रसेन नामक राजा की कोई इतिवृत्ति नहीं मिलती और न इतिहास तथा पुराणों में उसका नामोल्लेख ही उपलब्ध होता है और न उसकी वंश परम्परा का ही नामोल्लेख मिलता है। उसके अट्टारह पुत्रों आदि का भी इतिहास में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इससे अग्रसेन नाम कल्पित जान पड़ता है। किसी ने 'अग्र' शब्द के आगे 'सेन' शब्द जोड़कर अग्रसेन नाम की कल्पना कर ली, अन्यथा सत्रह यज्ञ करने वाले राजा का पुराणों आदि में नामोल्लेख तक न होना ही उनकी अप्रामाणिकता का द्योतक है।

अज्ञातकर्तृक महालक्ष्मी-व्रत-कथा के अनुसार, राजा अग्रसेन की अन्तिम यज्ञ में हिंसा से सहसा घृणा हो गई, और उसने बीच में ही यज्ञ बन्द कर दिया। राजा का हिंसात्मक यज्ञों से सहसा उदासीन हो जाना, यह घटना अपने में किसी रहस्य विशेष को समोये हुए है। उसका कोई न कोई कारण अवश्य रहा जान पड़ता है, जिसका ग्रन्थ में कोई खुलासा नहीं, क्योंकि बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। जिसे जीवन में कभी प्रबल हिंसा से खेद तक नहीं हुआ, प्रत्युत उसमें हर्ष मानता रहा हो,

ऐसी स्थिति में सहसा हिंसा से घृणा हो जाना प्राश्नार्थ-जनक है। कर्ता ने इसका समर्थन कोई प्रमाण नहीं दिया। लगता है यह भी कोरी कल्पना ही है। हिंसा पर अहिंसा का प्रभाव किस निमित्त से पड़ा है, उसे व्यक्त किये बिना उसकी यथार्थता सन्देहास्पद ही है अथवा कवि की कोरी कल्पना ही जान पड़ती है, अन्यथा जिस अहिंसा की महत्ता ने राजा के अन्तर्मानस को प्रभावित किया, उसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए, जिसे ग्रन्थकार व्यक्त नहीं कर सका। जान पड़ता है कथाकार ने महालक्ष्मीव्रत की महत्ता बतलाने के लिए ऐसी कल्पना की हो।

‘अग्रवाल’ शब्द पर विचार

डा० सत्यकेतु ने अग्रवाल जाति के प्राचीन इतिहास के पृष्ठ १५६ पर लिखा है कि “अग्रवाल शब्द बहुत पुराना नहीं है, इस जानि के लिए जो विभिन्न नाम पहले प्रयुक्त होते थे अग्रोतान्वय उनमें एक है।” जान पड़ता है डा० साहब को अग्रवाल शब्द की प्राचीनता का उल्लेख नहीं मिला, इसी से उन्होंने ऐसा लिखा है। प्राकृत और अपभ्रंश भाषा में “अग्रवाल” शब्द सन् ११३२ में तोमर वंशीय राजा प्रनंगपाल तृतीय के समय प्रचलित था। अग्रवाल का अर्थ अग्रवाल होता है। कविवर श्रीधर द्वारा स० ११८६ (सन् ११३२) में दिल्ली में रचित ‘पास-णाहचरित’ में उक्त अग्रवाल शब्द का उल्लेख अग्रवालों के लिए किया गया है, इनका ही नहीं किन्तु अग्रवाल साहू जेजा के ज्येष्ठ पुत्र राघव का उल्लेख करते हुए उसे ‘अग्रो-तकान्वय नमोज्ञण पार्यणन्दु’ बतलाया गया है, जिसका अर्थ अग्रवाल वंशरूपी आकाश का चन्द्रमा होता है। इससे प्रमाणित होता है कि अग्रवाल वंश उस समय बहुत प्रसिद्ध हो चुका था। ‘अन्धय’ शब्द वंश परम्परा का सूचक है। प्रनंगपाल तृतीय के समय साहू जेजा का कुटुम्ब अत्यन्त प्रसिद्ध था। इनके लघु पुत्र नटल साहू ने दिल्ली में आदिनाथ का एक सुन्दर मन्दिर बनवाया था और उसकी प्रतिष्ठा भी की थी। वह राज्यमान्य था और उसका व्यापार अंग, बंग, कलिंगादि देशों में होता था। उसी ने

१. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, प्रथम संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ० ७४।

२. यस्याग्नौ जनि सुधीरिह राघवास्ययो, ज्यामानमन्दमतिसञ्जितसर्वदोषाः। अग्रोतकान्वयनभोगपार्यणन्दुः,

श्रीमाननेकगुणरञ्जित-चाक्षुचैताः—पास. च.।

हरियाणा निवासी कवि श्रीधर से, जो स्वयं अग्रवाल वंश में उत्पन्न हुआ था। उक्त पार्वनाथचरित्र की रचना कराई थी। उस समय दिल्ली और हरियाणा आदि नगरों में अग्रवालों का निवास था। इसके बाद संवत् १३२६, १३६१, १३६६ की लिपि प्रशस्तियों, तथा संवत् १३६५ में लिखी हुई दातृ-प्रशस्ति में 'तहि मज्ज पसद्ध अग्रवाल, नामेण पउत्त उरयण पालु।' अग्रवाल रत्नपाल का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त वि० सं० १४१६, १४८६, १५१०, १५६६ आदि के अनेक ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों में उनके लिखवाने वाले अग्रवालों का उल्लेख है :—

“संवत्सरेस्मिन् श्री विक्रमादित्य गताब्दाः संवत् १३६१ वर्षे ज्येष्ठ सुदि गुरुवासरे अथेह श्री योगिनीपुरे समसूराज-बलि शिरो मुकुट माणिक्य खचित नखररमो सुरबाण श्री महम्मदसाहि नाम्नि महीविभ्रति सति अस्मिन् राज्ये योगिनीपुरस्थिता अग्रोनकवान्यनभः शशाक सा० महिपाल पुत्रः जिन चरणकमल चंचरीक सा० सेतु, फेरा, साढा, महाराजा, तूपा, ऐने, साहनेपु पुत्र गाल्हा आजा ऐते साह घेरा पुत्र बी था हेमराज एतेः धर्म कम्मणि सदो-द्यमपरेः जानावरणीकर्मक्षपाय भव्यजननां पठनाय उत्तर-पुराण पुस्तकं लिखापितं। लिखितं गोडान्वय कायस्थ पंडित गंधर्व पुत्र वाहड राजदेवेन। (प्रशस्ति सं० पृ० ६२)।”

“सं० १३६६ फाल्गुण सुदी ५ शुक्रवासरे श्रीयोगिनी-पुर सुरत्राण श्री मम्महंद साहि राज्य प्रवर्तमाने काष्ठासंघे त्रयोदशविधि चारित्र (धारक) भट्टारकनयसेनः तस्य शिष्यः भट्टारक दुर्लभसेन तस्याध्ययनाय पुस्तकामदं प्रति-क्रमणरते लिखापयित्वा दरबारचेत्यालय समीप स्थित अग्रोतकान्वय परमश्रावक सागिया इति पूर्वपुरुषसज्जेन पाठन वास्तव्य सा० पाणा भार्याहलो अतयो पुत्रो दिउप पूना नामादो सा० पूना भार्या बीक्षा अतयो पुत्रेण दरबार-चेत्यालये पंचभ्युद्यानाय सकलसंबमाकार्यं देव-शास्त्र-गुरुणा महामहं विद्याय सधपूजा वस्त्राआराधभिः कृता शास्त्रदान प्रस्तावे पत्र पुस्तकानि ददानि।

— प्रशस्तिसंग्रह, पृ० ६७”

३. “सं० १६४६ वर्षे सादवा सुदी १३ गुरो दिने श्री-

मद्योगिनीपुरे सकलराज्यशिरोमुकुटमाणिक्य मरीचिकृत चरण कमलपादपीठस्य श्रीमत् पेरोजसोहे सकल साम्राज्य-धुरां विभ्राणस्य समये वर्तमाने श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे भट्टारक रत्नकीर्ति तरुणतरुणित्वभूर्वीकुर्वाणां श्रीप्रभाचन्द्राणां तस्य शिष्य ब्रह्मनाथ पठनार्थं अग्रोतकान्वये गोहिल गोत्रे भर (मर) थल वास्तव्य परमश्रावक साधुसाउ भार्यावीरो तयो पुत्र साधु ऊघस भार्यालोथा ही भरहपाल भार्या लोथा ही श्रीभरहपाल लिखापितं कर्मदायार्थं। कनकदेव पंडित लिखित। शुभ भूयात्।

— (जैन शास्त्र भंडार, ठोलियों का मन्दिर, जयपुर)”

४. “संवत् १४८६ वर्षे पोषवदी ६ रवो दिने श्री गोप-गिरेः तोमरवंश महाराजाधिराज श्रीमत् डोगरसीदेव राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भट्टारक श्री क्षेमेन्द्रकीर्तिदेवास्तदगुरुशिष्य श्रीमदकीर्तिदेवाः तस्य शिष्य श्री वादीन्द्रचूडामणि महासिद्धान्ती श्री ब्रह्मसीराख्य नामदेवा। अग्रोतकान्वये मोतलगोत्रे साधु श्री गल्हा भार्या लेमा तयो पुत्रः भोणी एक पक्षा। द्वितीय पक्षा अग्रोतकान्वये गर्ग गोत्र साधु श्री क्षेमघरा भार्या हरो तयो पुत्राश्चत्वारः प्रथम पुत्र देखलु, द्वितीय बील्हा, तृतीय आल्हा, चतुर्थ भरया। देखलु भार्यारूपा, बील्हा भार्या ना थी, साधु नाल्हा भार्या था नी, तयोः पुत्राश्चत्वारः साधु श्री चन्द्रा, साधु हरिचन्द्र सा० रना, सा० साल्हा। श्री-चन्द्र पुत्र मेघा, स्वघमरत साधु श्री मर्या मीणा, शील-शानिनी धर्मप्रभावनी रत्नत्रयाराविनी बाई जोणी आत्म-धर्म क्षार्थ इद परमात्मप्रकाश ग्रंथलिखापित।

— ठोलियों का मन्दिर जैन शास्त्र भंडार, जयपुर”

इसके अतिरिक्त म० यशःकीर्ति (१४८२-१५००) ने अपने पाण्डव पुराण और हरिवंशपुराण में अग्रवालों का उल्लेख किया है। यथा—

“मिर अग्रवाल बसहि पहाणु

मो सघहे वच्छलु विनयमाणु।” — पांडव पुराण

“तहि अग्रवाल बसहि पहायु सिरिगरगनोगंगेयमाण।

जो रूवें णिज्जिय काम बाणु दिउचंद स'ह किउपत्तदाणु।”

— हरिवंश पुराण

१. ‘संवत् १३२६ चैत्र सुदि दशम्या बुधवासरे अथेह योगिनीपुरे समस्त राजाबलि समालंकृत गणामुद्दीन राज्ये अवस्थित अग्रोतक परमश्रावक जिनचरणकमल...’।” तैरापंथी बडा मदिर भंडार, जयपुर की ग्रंथ सूची, भाग २, पृ० १४२।

कवि रघू ने भी अपने ग्रन्थों में अग्रवालों का परिचय उनके कुटुम्ब-परिकर के साथ दिया है। दो ग्रन्थों का उल्लेख निम्न प्रकार है :—

‘जो अग्रवाल बंसहि हमयकु, बिहू पखल बूझ सोणय बंकु ।
बाट साहूहुणदणु पवीण, णियजलण विहलोहय विणयलीणु ।
—बलहद पुराण

आग्रोय बंस गहससि दाणाविहाणेण ग्राह सेयंहो ।
बहुयमण क्यतोखो हालू साहुस्स अंगप्रोविदिम्भो ।

—‘वित्तसार’

मोलहवी शताब्दी के कवि महाचन्द्र और माणिक्य-चन्द ने अपने ग्रन्थों में अग्रवालों का निम्न शब्दों में उल्लेख किया है :—

‘अग्रवाल सधह सुह भायउ, गग गोत्त-णिम्मल गुणसायर ।
—शान्तिनाथ पुराण

अग्रवाल सुपेसिद्ध विभामिउ, मिचनगोत्तउ सुधममामिउ ।
—अमरसेन चरित

इन दोनों कवियों के ग्रन्थों का रचनाकाल स० १५८७ और १५७६ है ।

इन सब उल्लेखों से अग्रवाल शब्द की प्राचीनता और महत्ता पर प्रकाश पड़ता है। ये सब उल्लेख जैन अग्रवालों के हैं। अग्र जनपद या अग्रदेश के निवासी होने के कारण अग्रवाल कहे जाते हैं। अग्रसेन राजा की सन्तान-परम्परा के कारण अग्रवाल नहीं कहे जाते ।

‘अग्रवालों’ में दो शब्द जुड़े हुए हैं—‘अग्र’ और ‘वाल’। इनमें अग्र शब्द देश या जनपद का वाचक है और वाल शब्द उनके पूर्व निवास का सूचक है। जिस तरह कोई व्यक्ति कलकत्ता से दिल्ली में जाये तो उसे कलकत्ता या कलकत्ते वाला कहा जाता है, या किसी अन्य स्थान पर बस जाने पर उसे अन्य स्थान वाला कहा जायगा, इसी तरह राजस्थान के खण्डेला से खण्डेलवालों का विकास हुआ है। खण्डेला के निवासी होने से उन्हें खण्डेल-वाल कहा जाता है। पाली वासी होने के कारण पल्ली-वाल, पछावती नगरी के निवासी होने के कारण से पछावतीपुर वाल कहा जाता है। यहाँ वाल शब्द स्पष्ट रूप से निवास का द्योतक है ।

गाँव आदि के नाम पर गोत्र और जाति कल्पना

उपजातियों का इतिवृत्त दसवीं शताब्दी से पूर्व का नहीं मिलता। हो सकता है कि कुछ उपजातियाँ पूर्ववर्ती रही हों। इन उपजातियों और उनके गोत्रादि का विकास ग्रामों और नगरों आदि के नाम पर हुआ है, उदाहरणार्थ, खण्डेला से खण्डेलवाल, भोसा से भोसवाल, बर्धरा से बर्धरावाल (व्याघ्रवाल), पाली से पल्लीवाल, पछावती से पछावतीपुरवाल, इसी तरह अग्रोहा से अग्रवाल, चंदेरी के निवासी होने के कारण चंदेरिया, चन्द्रबाड़ से चान्दुबाड़। विभिन्न कार्य करने से भी लोगों की विविध नामों में ख्याति देखी जाती है। पटवारिगरी करने से पटवारी, सोने का कार्य करने से सोनी या सुवर्णकार की प्रसिद्धि होती है ।

गाँव के नाम पर गोत्र कल्पना कैसे की जाती थी, इसका एक उदाहरण १७वीं शताब्दी के पंडित बनारसी-दास के अर्धकथानक में ज्ञात होता है और वह इस प्रकार है—मध्यदेश के रोहतकपुर के निकट बीहोली नाम का एक गाँव था, जिसमें राजवंशी राजपूतों का निवास था। वे गुरु प्रसाद से जैनी हो गये और उन्होंने अपना पापमय क्रियाकाण्ड छोड़ दिया, जमोकार मन्त्र की माला पहनी, अतएव उनका कुल श्रीमाल बतनाया गया। और गोत्र गाँव के नाम पर बिहोलिया रक्खा गया, जैसा कि अर्धकथानक के निम्न पदों से प्रगत है :—

याही भरत सुखेत में, मध्यदेश शुभ ठाऊँ ।

बसै नगर रोहतकपुर, निकट बिहोली गाऊँ ।

ते गुरुमुख जैनी अए त्यागि करम अघभूत ।

पहरी माला मन्त्र की, पायो कुल श्रीमाल ।

थाम्यो गोत्र बिहोलिया, बीहोली रखपाल ।

—अर्धकथाक

इसी तरह अन्य जातियों के गोत्रादि के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए। उपजातियों के गोत्रों की कल्पना जूदी-जूरी है। जैन समाज में उपलब्ध उपजातियाँ व गोत्रादि भिन्न-भिन्न हैं। इसी तरह वैष्णव सम्प्रदाय की उपजातियों में भी गोत्र कल्पना भिन्न-भिन्न पायी जाती है। अग्रवालों के १८ गोत्र बतलाये जाते हैं; उनमें गर्ग, गोयल, मिसल, सगल या सिगल, बंसल, जिन्दल,

एण्डल और मंगल नाम के गोत्रों के नामोल्लेख विविध ग्रन्थादि में मेरे ग्रन्थलोकन में आये हैं। उन सब में गगं गोत्र वालों के उल्लेख अधिक पाये जाते हैं। सम्भवतः उसी तरह वैष्णव ग्रन्थवालों में भी वैसे ही पाये जाते होंगे। शेष गोत्रों के सम्बन्धमें मुझे कुछ जानकारी प्राप्त नहीं हुई। इसी तरह परवार, खण्डेलवाल, गोलापूर्व, हुंभड, गोलालारे, ओसवाल, बधेरवाल, आदि उपजातियों के गोत्रादि भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं। सम्भव है तुलना करने पर कुछ उपजातियों के गोत्रादिकों में कहीं कुछ समानता भी मिल जाय। वस्तुतः उनके गोत्र भिन्न ही देखने में आते हैं।

लोहाचार्य

लोहाचार्य नाम के दो आचार्यों का उल्लेख मिलता है। उनमें प्रथम लोहाचार्य तो भगवान् महावीर के पंचम गणधर थे। पट्टखण्डागम की ध्वला टीका और कपाय पाहुड़ की जयध्वला टीका में लोहज्ज नाम से उनका उल्लेख मिलता है यथा—तेण गोदमण दुविह मबिमुदणान लोहज्जस सचादि (ध्वला पु० १, पृ० ६५)। इनका नाम सुधमं स्वामी था और अपरनाम लोहाचार्य। मुनि पद्म-नन्दी ने जम्बूद्वीप पण्णती में सुधमं गणधर का नाम लोहा-चार्य बतलाया है—तेण वि लोहज्जस्य य लोहज्जेण य सधम्म णामेण। (जम्बूद्वीप पण्णती १-१०)। इनका निर्वाण ई० पूर्वं ५७३ में हुआ था।

दूसरे लोहाचार्य आचाराग के धारण और शेष अगो

के एकदेश धारक थे। इनका समय ६८३ वर्ष की श्रुत-धरों की काल गणना में आता है। प्राकृत पट्टावली के अनुसार इनका समय वीर नि० सं० ५६५ है। 'लोहज्ज' शब्द प्राकृत भाषा का है जिसका अर्थ लोहार्य या लोहा-चार्य होता है। बहुत सम्भव है कि इन लोहाचार्यों से अग्रजन-पद के निवासियों को प्रबोध मिला हो और उनके उपदेश से उन्होंने जैनधर्म धारण किया हो और आग्नेय या अग्र जनपद के निवासी होने से अग्रवाल कहलाने लगे हो।

काष्ठासंघ की उत्पत्ति तो बाद में हुई है, फिर भी काष्ठासंघ के साथ लोहाचार्यान्वय का उल्लेख है। परन्तु इसका कोई प्राचीन उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया है। हाँ, १५वीं-१७वीं शताब्दी की लिपि प्रशस्तियों आदि में लोहाचार्यान्वय का उल्लेख अवश्य देखने में आया है।

एक लोहाचार्य का उल्लेख प० बुलाकीचन्द्र ने अपने सं० १७३७ में रचित बचन-कोश में किया है और बताया है कि काष्ठासंघ की उत्पत्ति उमास्वामी के पट्टाधिकारी लोहाचार्य द्वारा अग्ररोहा नगर में हुई। इसका कोई प्राचीन प्रामाणिक उल्लेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। अतएव यह प्रामाणिक नहीं हो सकता। उमास्वामी के पट्टाचार्य किसी लोहाचार्य का कोई उल्लेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ।

काष्ठासंघ की उत्पत्ति

काष्ठासंघ की उत्पत्ति का उल्लेख आचार्य देवसेन के दर्शनसार में मिलता है। उसमें लिखा है कि गुणभद्राचार्य

१. सुभद्रो तो यशोभद्रो यशोबाहुनेतर।

लोहाचार्यस्तुरीयो भूदाचारागधुतां अततः॥

—हरिवंशपुराण १-६५

लोहज्जो, लोहाइरिए सर्गं गदे आयावस्स बीच्छेदो जादो।

—जयध्वला, पु० १, पृ० ८६

२. भट्टारकीय मन्दिर अजमेर शास्त्र भण्डार की समय-सार टीका (आत्मरूपाति) की लिपि प्रशस्ति में जो १४६३ सोमवार की लिखी हुई है, काष्ठासंघ के साथ लोहाचार्यान्वय का उल्लेख है, यथा—'स्वस्ति श्री संवत् १४६३ वर्ष त्रयोदश्या सोमवासरे अथेय श्री कालपीनगरे समस्त राजाबली समलंकृत विनजितारि-बली प्रबंभ महाराजाधिराज सुरबाण महमूद साहि विजयराज्य प्रवर्तमाने अस्मिन् राज्ये श्री काष्ठासंघे

माथरान्वये पुष्करगच्छे लोहाचार्यान्वये प्रतिष्ठाचार्य श्री अनन्तकीर्तिदेवाः तस्य पट्टनगणागणे भट्टारक कल्प श्री क्षेमकीर्ति देवः तत्पट्टे श्री हेमकीर्ति देवाः तत्तिष्ठय श्री धर्मचन्द्रदेवाः तस्य धर्मोपदेशामृतेन हृदि-स्थित धनोबल्ली खिचभामेन रोहितासनगरे वास्तव्य श्री कालपीनगरस्थित अग्रोतकान्वय मीतल गोत्रीय पूर्वपुरुषः'।

संवत् १६५८ फाल्गुन सुदी ८ शनिवासरे श्री काष्ठा-संघे माथुरागच्छे श्री लोहाचार्यान्वये श्री गुणभद्र पट्टे श्री गुणकीर्ति तत्पट्टे श्री कुमारसेनास्ततः श्री विशालकीर्तिः तच्छिष्य जसोधर नित्य प्रणमिति। यह लेख तार की गली आगरा मन्दिर की मूर्ति का है।

की मृत्यु के बाद जिनसेनाचार्य के गुरु भाई विनयसेन के दीक्षित शिष्य कुमारसेन द्वारा सं० ७५३ में नन्दितट ग्राम में काष्ठासंघ की उत्पत्ति हुई, जैसा कि उसकी निम्न गायत्रियों में स्पष्ट है :—

तेण पुणो बिय बिच्चुं णाऊण भुणिस्य बिणयसेणरस ।
सिद्धंते घोसिता सय गय सन्न लोयस्स ॥३३॥
आसीकुमारसेणो एबियडे बिणयसेण दिव्वल्लओ ।
चचोन समो रुद्धी वट्ठ सघ परुवेदि ॥३६॥
सो मवणसंघ बज्जो कुमारसेणो दुग्गमय भिच्छत्ती ।
सत्तसये तेवण्णे बिच्चकमरायस्स मरणवत्तस ।
णदियडेबरनामे वट्ठो सवो मुण्यव्वो ॥३८॥

— दर्शनसार

दर्शनसार की गायत्रियों में, वि० सं० ७५३ में काष्ठासंघ की उत्पत्ति बतलाई गई है। यह समय ऐतिहासिक दृष्टि में ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि आचार्य गुणभद्र की मृत्यु के उपरान्त काष्ठासंघ की उत्पत्ति हुई। इसमें ७५३ का विक्रम संवत् ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि बीरसेन के शिष्य जिनसेन के साथ ही विनयसेन थे, और इन्हीं विनयसेन के अनुरोध से जिनसेन के पार्श्वार्थ्युदय काव्य की रचना की थी। इन कुमारसेन ने गुणभद्र की मृत्यु के बाद काष्ठासंघ की स्थापना की, जिससे उक्त ७५३ का सबत् १५० वर्ष के लगभग पीछे पड़ जाता है। इससे वह स्थापना काल सदोष है। काष्ठासंघ की उत्पत्ति विक्रम की १०वीं शताब्दी के लगभग ठहरती है। यदि उसे विक्रम सबत् न मानकर शक सबत् माना जाय तो संभवतः उसका सामंजस्य हो सकेगा।

महालक्ष्मी व्रत कथा

महालक्ष्मी व्रत कथा संस्कृत भाषा की एक अर्धाचीन खंडित कृति है जिसका कर्ता अज्ञात है और जिसे भविष्य पुराण का अंश बतलाया गया है। परन्तु वह उसमें उपलब्ध नहीं होती। ग्रन्थ व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों से युक्त है, जिसका सकेत डा० सत्यकेतु विशालकार ने भी अपने अग्रवालों के प्राचीन इतिहास में किया है। रचना साधारण है। भाषा में प्रौढ़ता के दर्शन नहीं होते। कथानक सुनी-

सुनाई काल्पनिक बातों से भरा हुआ है, अतएव प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता।

अग्रोक नगरी को महालक्ष्मी व्रत कथा में गंगा-यमुना नदियों के मध्य हरिद्वार से १४ कोश पश्चिम की ओर बतलाया गया है और अग्रसेन के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ा गया है, जो काल्पनिक है। डा० सत्यकेतु की दृष्टि में भी वह काल्पनिक रहा है। इतिहास की दृष्टि से वह मनगढ़ंत है। दूसरे, अग्रसेन राजा की रानियों, पुत्रों और कन्याओं के नाम भी पूरे नहीं गिनाने जा सके हैं। उनका भी समर्थन अन्यत्र से नहीं होता। साढ़े सत्रह गोत्रों की कल्पना काल्पनिक ही है, आधे गोत्र का क्या आधार है? पुराणों में इनका साध्व्य मिलना चाहिये।

डा० सत्यकेतु ने पृ० १६८ पर लिखा है कि 'परम्परा अनुश्रुति के अनुसार रानियों की संख्या साढ़े सत्रह या अठारह लिखकर भी महालक्ष्मीव्रत कथा का लेखक उनके नामों की गिनती पूरी न कर सका। इस ग्रन्थ में राजा अग्र की रानियों व कन्याओं के जो नाम दिये गये हैं वे कहा तक सत्य हैं यह कहना कठिन है। इससे स्पष्ट है कि डाक्टर साहब भी उससे शक्ति है।

कथा के १३७-१३८ पद्यों में बतलाया गया है कि अग्रसेन ने साढ़े सत्रह यज्ञों से मधुसूदन को सन्तुष्ट किया। एक बार यज्ञ के बीच में घोड़े का मांस बोल उठा। उसने कहा कि राजन् ! मांस और मद्य द्वारा स्वयं को जय मत करो। हे दयानिधे ! इन दोनों से रहित जीव कभी पाप से लिप्त नहीं होता। इसमें विचारणीय है कि क्या घोड़े या किसी जीव का मांस बोल सकता है; उसमें उसका आत्मा निकल जाने या प्राण रहित हो जाने के बाद बोलने की शक्ति कहा से आ गई; क्या निर्जीव व्यक्ति का इश प्रकार की उद्घोषणा कर सकता है। यह कथन निरा काल्पनिक और मनगढ़ंत जान पड़ता है। क्या कोई वैज्ञानिक इसे कसौटी पर कसकर प्रमाणित कर सकता है?

कथा में यह भी लिखा है कि धनंजय का पुत्र श्रीनाथ हुआ और श्रीनाथ का पुत्र दिवाकर हुआ। दिवाकर ने जनमत का पालन किया। परन्तु ग्रन्थकर्ता ने इसे स्पष्ट (शेष आवरण पृ० ३ पर)

भारड़ा की अप्रकाशित जैन देवी प्रतिमाएं

□ डा० मायारानी आर्य, उज्जैन

मध्यप्रदेश के उज्जैन जिले की महीदपुर तहसील से पूर्व दिशा में १५ कि० मी० दूर भारड़ा ग्राम अपने जनावशेषों के कारण कला जगत में अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। यहाँ कई स्थलों पर जैन अभिलेख तथा तीर्थंकर प्रतिमाएँ हैं जिनमें से कुछ को तो डाक्टर वाकणकर ने प्रकाशित किया है। २००८ के पूर्व उज्जैन जिला जैन श्रवणेश्वर सप्रह समिति के तत्वावधान में भारड़ा ग्राम के जैन श्रवणेश्वरों का सर्वेक्षण पं० सत्यधर कुमार जी सेठी तथा डा० सुरेन्द्र कुमार आर्य ने किया। यहाँ ५-६ प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं जिनकी चर्चा प्रथम बार यहाँ की जा रही है।

वि० सं० १२०८ के अभिलेख वाली रोहिणी की एक कलात्मक प्रतिमा २'५" ऊँची और १'७" चौड़ी है। १६ विद्यादेवियों में रोहिणी प्रसिद्ध है। प्रतिमा का वाहन गाय है। अतः यह श्वेताम्बरी परम्परा में निर्मित है। प्रतिमा के चार हाथ हैं। ऊपर के प्रथम बायें हाथ में कलश, दायें हाथ में शाल, नीचे के बायें हाथ में कमल व चौथा भग्न है। प्रतिमा एक विशिष्ट मूर्तिकला का उदाहरण यह प्रस्तुत करती है कि इसमें वाहन के आधार पर जैन देवी श्वेताम्बरी है, पर आयुध के आधार पर दिगंबर है (जैन लक्षण ग्रंथों के आधार पर)। संभवतः यह परमार वंश भोज के समय संस्थापित धार्मिक समन्वय के कर्तृत्व द्वारा प्रभावित थी। देवी की शरीर यष्टि विशुद्ध रूप से परमार शिल्प से अनुप्राणित है।

द्वितीय प्रतिमा काले स्लेटी पत्थर पर अच्युता अथवा अच्छुप्ता देवी की है। जैन प्रतिमा शास्त्र के अनुसार यह भी १६ विद्या देवियों में प्रसिद्ध है। देवी भस्व पर आरुढ़ हैं और ५'४" लम्बे व ३'७" चौड़े प्रस्तर फलक पर उभारी गई है। दो हाथों से नमस्कार मुद्रा की प्रकृति व दायें में खड्ग तथा बायें में वज्र है।

नीचे के अभिलेख में 'संवत् १२२६ वैशाख वदी ६ शुक्र ... शांतिनाथ चैत्ये सा श्री गोशल भार्या ब्रह्मादेव देवादि कुटुम्बेन सहितेन निज गोत्र देव्याः श्री अच्छुम्नाथ प्रति-कृति कारिता' अंकित है।

तीसरी प्रतिमा चक्रेश्वरी की है। प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की शासनदेवी चक्रेश्वरी परमार मूर्तिकला में विशेष रूप से अंकित मिलती है। मालवा की ऐसी चक्रेश्वरी प्रतिमाये उज्जैन की जैसिहपुरा जैन संग्राहलय में सकलित है। भारड़ा की इस प्रतिमा में देवी गरुड़-वाहना है और अष्टभुजा है। रूपमंडनकार ने जो आयुध दिये हैं वही इस प्रतिमा में हैं। चक्र, पाश, वाण, वरद, अकुश, वज्र आयुध स्पष्ट हैं व दो हाथों के आयुध भग्न हैं। अस्पष्ट शिलालेख से प्रतिमा का निर्माण काल १३वीं शताब्दी ज्ञात होता है।

भारड़ा की चतुर्थ व पंचम जैन प्रतिमाएँ क्रमशः पद्मावती व अम्बिका की हैं। ये क्रमशः पार्व्यनाथ और नेमिनाथ की यक्षिणी देवियाँ हैं। पद्मावती ललितासना है और अम्बिका की गोद में बालक है।

इस प्रकार की अन्य खडित देवी अम्बिका की प्रतिमाएँ घरों की सीढ़ियों व दीवारों में चुनी हुई पायी गई हैं जो अभी तक पूर्णतः अप्रकाशित हैं। भारड़ा में तीर्थंकर-प्रतिमाये प्रचुर मात्रा में हैं (डा० वाकणकर ने आदिनाथ, सुपाश्वनाथ, सुमतिनाथ की ही लगभग ३० प्रतिमाएँ खोजी हैं)। सभी प्रायः १० व १३वीं शताब्दी में निर्मित हैं व उन पर मालवा के परमार मूर्ति-शिल्प की स्पष्ट छाप है।

□□□

२२, टी० आई० टी० कालोनी,
दशहरा मैदान, उज्जैन (म० प्र०)

नहीं किया। दिवाकर ने जिसके द्वारा जैनधर्म ग्रहण किया, उसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है, जिससे उनकी जांच की जा सके। इस तरह यह कथा अनेक कल्पित आख्यानों, किंबदन्तियों से पूर्ण है। उनका ग्रन्थ से समर्थन नहीं होता। अतः वह प्रमाण कैसे मानी जा सकती है।

उरु चरितम्.

उरु चरितम् कर्ता के नाम से रहित खण्डित ग्रन्थ है, जिसमें राजा उरु का चरित वर्णित है। उसका अग्रवालों के साथ कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। ग्रन्थ में अग्रसेन के भाई शूरसेन का उल्लेख किया गया है और उसे शूरसेन देश बसाने वाला लिखा गया है। शूरसेन प्रदेश मथुरा के आसपास का क्षेत्र है। यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं है। शूरसेन प्रदेश प्राचीन है और उसका सम्बन्ध यदुवंशियों के साथ है। वे उसके शासक रहे हैं। कंस के मरने के बाद जरासंध के भय से यादव लोग शूरसेन प्रदेश को छोड़कर द्वारिका चले गये थे। शूरसेन प्रदेश के कारण वहाँ की भाषा शूरसेनी कही जाती है। जैनियों के कितने ही ग्रन्थ शूरसेनी प्राकृत में लिखे गये हैं।

ग्रन्थ में लिखा है, कि जब अठारहवाँ यज्ञ महर्षि ने शुरू किया तब अग्रसेन के हृदय में हिंसा से अकस्मात् घृणा उत्पन्न हो गई और यज्ञ का कार्य बन्द हो गया। अग्रोहा से उरु का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। उरु के चरित से अग्रसेन के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ना समुचित नहीं है।

अग्रसेन के भाई शूरसेन के नाम में मथुरा का नाम शूरसेन पड़ा, यह कल्पना निराधार और अनैतिहासिक है। अग्रसेन और शूरसेन की एकता का क्या प्रमाण है ?

उरु को चन्द्रवंशी राजा लिखा गया है। उसका कोई पौराणिक उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। उसका मथुरा के साथ क्या सम्बन्ध था यह भी कुछ ज्ञात नहीं होता। जान पड़ता है कि लेखक ने इषर-उधर से सुनी-सुनाई बातों को कल्पना के आधार पर सगठित करने का प्रयत्न किया है। अतः इससे इतिहास की शृंखला का सम्बन्ध निश्चय करना दुष्कर है।

एफ ६५, जवाहर पार्क (वेस्ट),
लक्ष्मीनगर, दिल्ली-५१

□ □ □

आवश्यक सूचना

अनेकान्त

का

साहू शान्तिप्रसाद जैन स्मृति अंक

इस अंक की प्रकाशन योजना में किञ्चित् परिवर्तन किया गया है। पूर्वज्ञापित योजना के स्थान पर अब यह अंक दिसम्बर, १९७८ में प्रकाशित होगा और अनेकान्त के वर्ष ३१ की किरणें ३ और ४ इसमें समाहित होंगी।

—सम्पादक

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

- पुरातन जैनवाक्य-सूची :** प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक : मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००
- प्राप्तपरीक्षा :** श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००
- स्वयम्भू स्तोत्र :** समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... २-००
- स्तुतिविद्या :** स्वामी समन्तभद्र की मनोहारी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुस्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। १५-००
- अध्यात्मकमलमार्तण्ड :** पञ्चाध्यायीकार कवि राजमल्ल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १-५०
- वृक्षयन्त्रशासन :** तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५
- समीचीन धर्मशास्त्र :** स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ :** संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और ५० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ४-००
- समाधितन्त्र और इष्टोपदेश :** अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००
- अवधनबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ :** श्री राजकृष्ण जैन ... १-२५
- अध्यात्म रहस्य . पं० आशाधर की सुन्दर कृति, मुस्तारश्री के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००**
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ :** अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। १ वपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००
- न्याय-बीपिका :** प्रा. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा ग० अनु०। ७-००
- जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश :** पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ५-००
- कसायपाहुडमुत्त :** मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २०-००
- Reality :** प्रा० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का ग्रंथजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ६-००
- गोन निबन्ध-रत्नावली :** श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ५-००
- ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) :** संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००
- आवक धर्म संहिता :** श्री वरयार्धसिंह सोषिया ५-००
- जैन लक्षणवली (तीन भागों में) :** (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग २५-००
- Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)**

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३१ : क्रि. २

अप्रैल-जून १९७८

सम्पादन-मण्डल

डा० ज्योतिप्रसाद जैन

डा० प्रेमसागर जैन

श्री गोकुलप्रसाद जैन

□

सम्पादक

श्री गोकुलप्रसाद जैन

एम. ए., एल-एल.बी.,

साहित्यरत्न

□

वार्षिक मूल्य ६) रुपए

इस क्रि. २ का मूल्य :

१ रुपया ५० पैसे

विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृ०
१.	श्री महावीर-स्तवन—श्री आशाधर	३३
२.	नारी और जीवन-मूल्य : अष्टांश साहित्य के संदर्भ में—साधवी साधना जैन, दिल्ली	३४
३.	देवपूजा और उसका माहात्म्य —प्रो० उदयचन्द्र जैन, एम. ए.	४१
४.	नियतिवाद नामा नियमवाद —श्री महेन्द्रसेन जैनी, नई दिल्ली	४८
५.	कबीर की वाणी में बीर-वाणी की गूंज —श्रीमती कुसुम जैन सोरया, एम.ए., बी.एड.	४९
६.	देश के बौद्धिक जीवन में जैनों का योगदान —डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर	५२
७.	म्यादाद या अनेकान्त : एक चिन्तन —पंडित वर्धमान पा० शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य	५५
८.	सन्तकवि रङ्गू और उनका साहित्य —डा० राजाराम जैन, एम. ए., पी-एच. डी.	५९
९.	'जैन' हरिवंश पुराणकालीन भारत की सांस्कृतिक भलक—डा० प्रमचन्द जैन, एम.ए., पी-एच. डी.	७३

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मन्दिर के नए अध्यक्ष



साहू श्री अशोककुमार जैन

जैन समाज के अग्रणी स्व० साहू शान्तिप्रसाद जैन के ज्येष्ठ सुपुत्र श्री अशोक कुमार जैन का जन्म सन् १९३४ में डालमिया-नगर (बिहार) में हुआ। उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा प्राप्त की। मातृभाषा हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी तथा बंगला भाषा का उन्हें ज्ञान है।

देश के समकालीन साहित्य-सृजन के विकासोन्मयन एवं प्रयत्नशाली में उनकी सदा से गहरी रुचि रही है।

श्री अशोक कुमार जैन में अपनी विशेष बौद्धिक प्रतिभा है जिसके कारण उन्होंने भारतीय उद्योग जगत में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। उद्योगपतियों की प्रधान सस्था फंडेशन आफ इण्डियन चेम्बर्स आफ कामर्स की सचालक-समिति के सदस्य वह वर्षों से हैं। उन अनेक समितियों के अध्यक्ष या सदस्य हैं जो प्रथम व्यवस्था सम्मन्त्री विशेष विशेष राष्ट्रीय नीतियों की समीक्षा करती हैं, सरकार को सुझाव देती हैं और विभिन्न प्रकार के उद्योगों की समस्याओं को एक एकत्रित रूप से देखती हैं।

अशोक जी को अपने स्वर्गीय पिता श्री साहू शान्ति प्रसाद जी और माता जी श्रीमती रमा जैन के गुण विरासत में मिले हैं।

जैन धर्म और संस्कृति की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहना वह अपना कर्तव्य मानते हैं।

भारतीय ज्ञानपीठ की साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के संवर्धन का दायित्व उन्होंने सामर्थ्य के साथ सभाला है। उनसे जैन समाज को ही नहीं अपितु सारे देश के सांस्कृतिक जीवन को अनेक-अनेक आशाएँ हैं।

बैनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी के अध्यक्ष के नाते वह टाइम्स आफ इण्डिया, घर्मयुग, नवभारत टाइम्स, इलस्ट्रेटेड वीकली तथा अन्य बीमियों पत्र-पत्रिकाओं का संचालन करके देश की बौद्धिक अभिवृद्धि के लिए नये मानदंड स्थापित कर रहे हैं।

श्री अशोक जी के कुछ प्रमुख पद

चेयरमैन : बैनेट कोलमैन एण्ड कम्पनी लि० अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं में दैनिक एवं साप्ताहिक पत्रिकाओं की देश की सबसे बड़ी पत्रश्रृंखला के प्रकाशक।

चेयरमैन : न्यू सेन्ट्रल जूट मिल्स कम्पनी लि०; पी.एन.बी. फाइनेन्स लि.; साहू जैन सर्विसेज लि.; भारत निधि लि.।

प्रेसिडेंट : रोहताम इण्डस्ट्रीज लि०।

डायरेक्टर : साहू जैन लि०, ऑरियेंटल गैस क० लि०।

प्रेसिडेंट : सीमेन्ट मैन्युफैक्चरर्स एसोसियेशन, ग्रा० इ० ऑर्गेननिजेशन आफ एम्पलाएस०।

कमेटी मेम्बर : फंडेशन आफ इण्डियन चेम्बर्स आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज, इण्डियन चेम्बर आफ कामर्स।

भू० पू० प्रेसिडेंट : इंडियन नेशनल कमेटी आफ द इंटर-नेशनल चेम्बर आफ कामर्स, इंडियन चेम्बर आफ कामर्स; इंडियन पेपर मिल्स एसोसियेशन; बिहार चेम्बर आफ कामर्स; बिहार इंडस्ट्रीज एसोसियेशन।

अध्यक्ष एवं मैनेजिंग ट्रस्टी : साहू जैन ट्रस्ट, नई दिल्ली।

मैनेजिंग ट्रस्टी : भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।

अध्यक्ष : साहू जैन चैरिटेबुल सोसाइटी।

अध्यक्ष : साहू जैन कालेज, नजीबाबाद।

अध्यक्ष : वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली। श्री १००८ दिगम्बर जैन प्रतिष्ठान क्षेत्र एवं विद्यालय, पपौरा, (टीकमगढ़)

बाइस-प्रेसिडेंट : श्री दिगम्बर जैन प्रतिष्ठान क्षेत्र कोनोजी जीर्णोद्धार समिति पाटन, जबलपुर।

चेयरमैन : गोविन्दबल्लभ पन्त भवन ट्रस्ट, कलकत्ता।

ट्रस्टी : अखिल भारतीय अग्रव्रत न्यास, नई दिल्ली।

गोविन्दबल्लभ पन्त भवन ट्रस्ट, कलकत्ता।

श्रीगणेश दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर।

सरक्षक : श्री शोरीपुर बटेश्वर दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र कमेटी, बटेश्वर, सागरा; अखिल भूतवर्षीय श्री दि० जैन युवा महाममिनि, मुजफ्फरनगर (उ० प्र०);

श्री महावीर ग्रन्थ एकाडमी, जयपुर; श्री दि० जैन प्रयोध्या तीर्थक्षेत्र कमेटी, प्रयोध्या; श्री कुन्दकुन्द कहान दि० जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट बम्बई; श्री गणेश दि० जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर।

श्रीम् महम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयबिलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३१
किरण २

बीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
बीर-निर्वाण सवन् २५०४ वि० स० २०३४

अप्रैल-जन
१९७८

श्री महावीर-स्तवन

सम्मतिजिनपं सरतिजवदनं, सजनिताखिल-कर्मकमथनं ।
पद्मसरोवरमध्यगतैन्द्रं, पावापुरि-महावीर-जिनेन्द्रं ।
वीर-भवोदधिपारोत्तारं, मुक्ति-स्त्री-बधु-नगर-बिहारं ।
द्विद्विदशकं तीर्थ-पवित्रं, जन्माभिषेक-निर्मलग्रात्रं ।
वर्धमान-नामाख्य-विशालं, मानप्रमाण-लक्षण-दशतालं ।
शत्रुविमन्यन-विकटभटविरं, इष्टैश्चर्यधुरीकृतदूरं ।
कुण्डलपुरि-सिद्धार्थ-भूपालं, तत्पत्नी-प्रियकारिणी-बालं ।
तत्कुलनलिन-विकासितहंसं, घातपुरोधातिक-विध्वंसं ।
ज्ञानबिबाकर-लोकालोकं, निर्जित-कर्मारति-विशोकं ।
बालवयस्संयम-सुबालितं, मोहबह्वानल-मथन-विनीतं ॥

-- आशाधरः

अर्थ-- कमल जैसी मुख श्री वाले जिननाथ सम्मति ने समस्त कर्मों को पूर्णतया मथ डाला । पावापुरी में पद्म सरोवर के मध्य उन महावीर जिनेन्द्र ने निर्वाण लाभ किया । वह वीर प्रभु संसाररूपी सागर से पार उतारने वाले श्रीर मुक्ति रूपी लक्ष्मीवधु में सदा विलास करने वाले हैं । जन्माभिषेक से हुए निर्मल देह वाले वह भगवान चौबीसवे पवित्र तीर्थ के कर्त्ता हैं । उनका विशाल आशय वाला वर्धमान नाम है और उनके शरीर का मान दश ताल है । कर्म शत्रुओं के उन्मूलन में वह अद्भुत सुभट वीर हैं, और सांसारिक वैभव की धुरी को ही उन्होंने अपने से दूर कर दिया है । कुण्डलपुर के महाराज सिद्धार्थ की धर्मपत्नी प्रियकारिणी के वह लाडले पुत्र हैं । उनके कुलरूपी कमल का विकसित करने के लिए सूर्य के समान है तथा समस्त घात प्रतिघात के विध्वंसक हैं । अपने ज्ञान सूर्य से लोकालोक को प्रकाशित करके तथा कर्म शत्रुओं को पराजित करके वह विशोक हुए हैं । बालवय से ही संयम का सम्यक् पालन करके तथा मोहरूपी महाअग्नि का शमन करके उक्त मांह को उन्होंने विनीत बना दिया है ।

नारी और जीवन-मूल्य : अपभ्रंश जैन साहित्य के संदर्भ में

□ साध्वी साधना जैन, बिल्सी

समाज में नारी का स्थान

नारी की सत्ता अर्धांगिनी जैन सस्कृति में भी प्रचलित है। चतुर्विध संघ में श्राविकाओं को श्रावको के ही समान अधिकार प्राप्त है। दैनन्दिन जीवन में भी नारी का कृत्य पुरुष के कृत्य के समकक्ष ही होता है।

आत्मिक उत्थान में नारी की सीमा

आत्मिक उत्थान में नारी किन्हीं अर्थों में पुरुष से आगे रहती है। इसका एक मुख्य कारण समाज की व्यवस्था और प्रकृति की देन है। जीवन के कुछ अनिवार्य काम केवल पुरुष ही कर सकता है या उसके द्वारा किये जाने पर ही वे सफल होते हैं। इससे नारी को जो समय बच रहता है उसमें वह आत्मा की ओर उन्मुख हो लेती है। यही कारण है कि धर्माचरण और धार्मिक उत्सवों में नारियों की संख्या पुरुषों में कहीं अधिक होती है। नारियाँ आत्मिक उत्थान में स्वयं तो प्रवृत्त होती ही हैं, पति और बन्धुओं को भी उसकी प्रेरणा देती हैं। तथापि उनकी कुछ सीमाएँ हैं, इमीलिए अन्ततोगत्वा पुरुष ही इस क्षेत्र में आगे निकल जाता है। समाज और मस्कृति के विषय में जो जैन सहिताएँ हैं, उनमें नारी को पुरुष के समकक्ष ही रखा गया है। वैदिक सहिताओं की भांति जैन सहिताओं में नारी की पूजा का प्रतिफल देवताओं का निवास घोषित नहीं किया गया, किन्तु नारी को किसी भी दृष्टि से हीन या अनधिकृत भी नहीं कहा गया। इतना अवश्य है कि वैराग्य, ब्रह्मचर्य आदि के संदर्भ में अन्य सासारिक वस्तुओं की भांति नारी को भी एक बाधा के रूप में लिया गया, पर यह बात वैदिक और बौद्ध सहिताओं में भी ऐसी ही है। जो भी हो, यह विचित्र बात है कि वैराग्य ब्रह्मचर्य आदि के प्रसंग में पुरुष के लिए नारी तो बाधा बतायी गयी पर नारी के लिए पुरुष को बाधा के रूप में नहीं दिखाया गया।

नारी अवस्था में मोक्ष का प्रश्न

नारी को ये सीमाएँ क्या हैं, यह एक विवादप्रस्त विषय है। यही नहीं कि नारी मोक्ष प्राप्त कर सकती है

या नहीं, बल्कि यह भी कि मोक्षमार्ग में नारी कितनी आगे बढ़ सकती है और किस प्रकार बढ़ सकती है, यह विषय भी विवादप्रस्त है। एक विधान तो यह है कि नारी दो तीन जन्मों के पश्चात् पुरुष के रूप में जन्म लेकर ही मोक्षमार्ग पर चलती हुई मुक्त हो सकती है और नारी के रूप में वह पंचम गुणस्थान तक ही बढ़ सकती है। इसके विपरीत जो विधान है उसके अनुसार नारी तद्भव-मोक्षगामी हो सकती है, उसे जन्मांतर की प्रतीक्षा नहीं करनी होती और गुणस्थानों के आरोहण में भी वह स्वतन्त्र है।

नारी अवस्था में मोक्ष के पक्ष में तर्क है कि जन्मांतर की प्रतीक्षा किये बिना ही नारी मोक्ष प्राप्त कर सकती है क्योंकि तब और नारी में ज्वित, बुद्धि, चातुर्य, साधना आदि की दृष्टि से ऐसा कोई भी अन्तर न तो प्रकृति-दत्त है और न समाज-विहित या शास्त्र-विहित द्वी, जो मोक्षमार्ग में उन दोनों में कोई अन्तर डालता हो; जो अन्तर अन्यत्र प्रदर्शित किये गये हैं वे निर्विकार और सहृदय भाव से शून्य प्रतीत होते हैं क्योंकि पुरुष शास्त्रकारों द्वारा जब-तब ऐसे विधान प्रस्तुत किये जाते रहे हैं जिनमें नारी को सीमाबद्ध, हीनतर, अधम आदि मिद्ध किया गया है; और शास्त्रों में यदि नारी को मोक्ष न हो पाने के उदाहरण मिलते हैं तो मोक्ष होने के उदाहरण उनसे कहीं अधिक मिलते हैं। नारी अवस्था में मोक्ष के विपक्ष में तर्क है कि नारी तद्भव मोक्षगामी नहीं है; क्योंकि शारीरिक संरचना और सामर्थ्य तथा मनोभूमि की सीमाएँ नारी के साधना के उस केन्द्र तक पहुँचने में बाधक हैं, जिस तक पुरुष अपेक्षाकृत सरलता से पहुँच सकता है, नारी की मोक्ष प्राप्ति का निषेध उसके तद्भव में ही तो है, भवान्तर में तो नहीं, और वह निषेध भी जिन्होंने किया, वे शास्त्रकार स्वयं नर थे या नारी यह तो ज्ञात नहीं पर यह अवश्य ज्ञात है कि वे राग-द्वेष से परे थे, यदि वे राग-द्वेष से परे न रहे होते तो उनके इसी एक विधान पर ही नहीं अन्य अनेक विधानों पर भी आपत्ति उठायी जानी चाहिए थी; प्रकृति या स्वभाव से ही नारी

अवस्था ऐसी है जिसमें परम प्रकर्ष सम्भव नहीं, चाहे पुरुषात्मक हो, चाहे पापात्मक, इसीलिए तो नारी एक और तो इतना घोर पाप नहीं कर सकती कि वह सप्तम नरक का बंध करे, दूसरी ओर वह भावों की शुद्धता के उस केन्द्र पर भी नहीं पहुच सकती जहाँ मोक्ष का द्वार उन्मुख होता है; जहाँ तक आगम ग्रन्थों में नारी-मोक्ष के उदाहरणों का प्रश्न है वे तथा कुछ अन्य सैद्धान्तिक मान्यताएँ ही तो वह कारण है जिससे उन आगम-ग्रन्थों को एक समूचा वर्ग अमान्य करता है।

नारी की मोक्ष-प्राप्ति के विषय में उपर्युक्त तर्क-वितर्क का विश्लेषण अत्यन्त सहज और तटस्थ भाव की अपेक्षा रखता है। इसमें सन्देह नहीं कि नारी-शरीर की संरचना पुरुष शरीर से कुछ ऐसी भिन्न है कि वह दुस्साध्य साधना आदि के लिए अनुकूल नहीं दिखती, तथापि जीवमात्र में समानता के हमारे सिद्धान्त में मानवमात्र की समानता का थोड़ा भी अभाव तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। नारी और पुरुष की इस असमानता के मूल में जो तर्क छिपा है वह वस्तुतः किसी और ही मान्यता से सम्बन्ध रखता है, यह मान्यता तो उस मान्यता के फल-स्वरूप ही अस्तित्व में आयी दिखती है। वह मान्यता है मवस्त्र मोक्ष के अभाव की। परिग्रह के अभाव की पराकाष्ठा के रूप में जो नग्नता आती है वह मोक्ष का एक अनिवार्य कारण है, ऐसी दिगम्बर जन मान्यता है श्वेताम्बर जैन मान्यता में नग्नता शब्द के बदले अचेलत्व शब्द का प्रयोग हुआ है। अचेल शब्द के दो अर्थ सम्भव हैं, वस्त्र का अभाव और वस्त्र की यथामाध्य अल्पता। इनमें से दूसरे अर्थ के आधार से श्वेताम्बर जैन मान्यता नारी की मोक्ष-प्राप्ति का आधार लेती है। तात्पर्य यह कि नारी की मोक्ष-प्राप्ति के पक्ष या विपक्ष में और जितने भी तर्क दिये जाते हैं वे या तो आनुषंगिक होते हैं या सामयिक या मापेक्ष; वस्तुतः एक ही तर्क ऐसा है जो विचारणीय है। वह तर्क है नग्नता का और वह तर्क चूँकि एक अलग ही मान्यता से जुड़ा है, इसलिए नारी की मोक्ष प्राप्ति का प्रश्न एक मौलिक

प्रश्न नहीं बल्कि एक आनुषंगिक प्रश्न ही कहा जाना चाहिए और फिर इस प्रश्न तक पहुँचने-पहुँचते जो अन्य प्रश्न उभरते हैं वे यद्यपि विवादग्रस्त नहीं तथापि है अत्यधिक विचारणीय।

अपभ्रंश के जैन साहित्य में नारी अवस्था में मोक्ष के उदाहरण अदृश्य हैं क्योंकि वह अधिकतर दिगम्बर साहित्यकारों की देन है।

नारी शिक्षा

शिक्षा का प्रचार जैन समाज में प्राचीन काल से रहा है। कन्याओं के लिए ललित कलाओं की शिक्षा का विशेष प्रावधान था। वे नृत्य संगीत, वाद्य आदि में न केवल पारंगत होती थीं प्रत्युत इसकी प्रतियोगिताएँ भी आयोजित करती थीं। ये प्रतियोगिताएँ मोक्षार्थ ही होती थीं। काश्मीर की राजकुमारी त्रिभुवनरति ने नागकुमार का वरण इसलिए किया कि वह उसमें वीणा-वादन में पराजित हो गयी^१। नागकुमार का एक अन्य विवाह मेरुपुर की राजकुमारी तिलकासुन्दरी से इसलिए हुआ कि उगने नृत्य में उसके पदचाप में मिला कर अपना मृदंग बजाकर उसे निश्चर कर दिया^२। उज्जयिनी के राजा प्रजापाल ने अपनी गुणवती कन्या सुरसुन्दरी को पढ़ाने के लिए एक द्विजवर के पास भेजा और इन्द्राणी को जीतने वाली दूसरी कन्या मदनसुन्दरी को भी इसी उद्देश्य से एक मुनिवर के पास ले जान का आदेश दिया^३। सुरसुन्दरी इस प्रकार पढ़ती कि उगके सामने कोई भी विद्वान् उत्तर नहीं दे पाता। वह इतनी निष्णात हो गयी जितना दृढ़-प्रतिज्ञ और अत्यन्त बुद्धिमान् व्यक्ति निष्णात हो जाता है। उसका व्याकरण, छन्द और नाटक समझ लिये। निघण्टु तर्कशास्त्र और लक्षणशास्त्र समझ लिया और अमरकोष तथा अलंकार-शोभा भी। उसने निस्सीम आगम और ज्योतिष ग्रन्थ भी समझ लिये। मुख्य बहस्तर कलाये भी उसने जान लीं। उसी प्रकार चौरासी खण्ड-विज्ञान भी। फिर उसने गायत्री, दोहा और छप्पय का स्वरूप जान लिया। उसने चौरासी बन्धों का

१. पुण्डरीक . नागकुमारचरित, नई दिल्ली, १९७२, पृ० ८३, स० ५, क० ६।

२. पुण्डरीक : पूर्वोक्त, पृ० १३५, स० ८, क० ८।

३. नरसेन : सिरिवालचरित, नई दिल्ली, १९७४, पृ० ७, स० १, क० ५।

स्वरूप जान लिया तथा छत्तीस राग और सत्तर स्वरों को भी। पांच शब्दों और चौंसठ कलाओं को भी जान लिया। फिर गीत नृत्य और प्राकृत काव्य को भी जान लिया। उसने सब शास्त्र और पुराण जान लिये। अन्त में छह भाषाएँ और षड्दर्शन भी जान लिये। छियानवे सम्प्रदायों को भी उसने जान लिया। उसने सामूहिक शास्त्र के लक्षणों को भी शीघ्र समझ लिया। उसने चौदह विद्याओं को षड्-गुण लिया। श्रोतृघियो और भावी घटनाओं के समूह का भी ज्ञान उसे हो गया। छियानवे व्याधियाँ वह उगलियों पर गिना सकती थी। बहुत से देशों की मुख्य भाषाएँ उसने सीख लीं। उसने अष्टाह लिपियाँ भी जान लीं। नौ रसों और चार वर्गों को उसने जान लिया। जिन शासन के अनुसार उसने चरित्र और निर्वेद लिया। दुस्सह रति और कामार्थ में उसे कौन जीत सकता है? उसने क्षणिक मुनि के पास जीवों के अट्ठानवे समासों का अध्ययन किया। समाधिगुप्त मुनि के पास उसने इन समस्त शास्त्रों को अच्छी तरह जान लिया।

विवाहित जीवन का मूल्यांकन

ब्रह्मचर्य की महिमा जैन आचार संहिताओं में आमूल-चूल विद्यमान है। विशेष रूप से नारियों को इसके उपदेश का पात्र बनाया गया। पुरुषों को ब्रह्मचर्य के जो उपदेश दिये गये उनमें भी नारी को इस व्रत के पालन में सबसे बड़ी बाधा के रूप में चित्रित किया गया। इस प्रसंग में

नारी के प्रति जिन आक्रोशात्मक शब्दों का प्रयोग किया गया है उनकी मात्र वह उस सीमा तक निश्चित ही नहीं रही; इतना अवश्य है कि पुरुष की भाँति नारी ने भी जब तब अपनी विहित सीमाओं का उल्लंघन किया। विवाह सस्कार के अनुपालन के उदाहरण तो अधिकांश हैं किन्तु बहुत से उदाहरण ऐसे भी हैं जिनमें या तो विवाह सस्कार का उपहास किया गया या उसे एक खिलवाड़ बना लिया गया। आश्चर्य तब होता है जब नागकुमार, श्रीपाल, करकड आदि जैसे असाधारण पुण्य पुरुषों ने जब, जहाँ और जैसे मन आया तब वहाँ, वैसे ही कई-कई कन्याओं से विवाह रच डाले, और विडम्बना यह कि जब-जैसे मन आया तब-वैसे उन्हें उन्हीं के हाल पर छोड़कर चल पड़े। जिस पर आशंकित हुई वह चाहे विवाहिता रही हो चाहे अविवाहिता उसे प्राप्त करने के लिए युद्ध किये, अपहरण किये, बलात्कार किये, यहाँ तक कि हत्याये भी की। इससे भी अधिक विचारणीय स्थिति तब बन पड़ती है जब अपनी नवोढाओं तक को, कभी कभी तो हजारों पत्नियों को यों ही छोड़ कर वे दीक्षा ले लें। उदाहरणके रूप में महस्वगति^१, नागकुमार^२, श्रीपाल^३, करकड^४ आदि उल्लेखनीय हैं।

ऐसे कार्य सम्राट् से लेकर जनमाधारण तक में होते थे। इनमें श्रेणिक^५, चिलातपुत्र^६, हयग्रीव^७, सिंह नामक भिल्ल राजा^८, मथुरापुरी के एक राजा^९, रत्नक्षेत्र^{१०} नामक तथा मनोवेग^{११} नामक विद्याधर, घवल सेठ^{१२}

१. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० ७-८, स० १, क० ७।

२. स्वयम्भू : पउमचरित, नई दिल्ली, १९७५, पृ० २४१, स० १५, प० ६।

३. पुष्पदन्त : पूर्वोक्त, पृ० २४१, स० ६, क० २४।

४. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० १८५, स० २, क० ३६।

५. कनकामर : करकडचरित, नई दिल्ली, १९६४, पृ० १५७, स० १०, क० २३।

६. पुष्पदन्त : वीरजिणिदचरित, नई दिल्ली १९७४, पृ० ६५, स० ५, क० २।

७. उपयुक्त, पृ० ७६, स० ६, क० ४।

८. विबुह सिरिहर : बड्ढमाणचरित, नई दिल्ली १९७५, पृ० ८५-८६, स० ४, क० ५।

९. पुष्पदन्त : पूर्वोक्त, पृ० ६६, स० ५, क० ४।

१०. पुष्पदन्त : नायकुमार चरित, नई दिल्ली, १९६२, पृ० ७३-७७, स० ५, क० २।

११. वीर कवि : जम्बूमामि चरित, नई दिल्ली, १९६८, पृ० ६३-६४, स० ५, क० ३।

१२. पुष्पदन्त : वीरजिणिदचरित, नई दिल्ली, १९७४, पृ० ६७, स० ५, क० ३।

१३. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० ३६-४५, स० १, क० ३८-४४।

आदि के नाम उल्लेखनीय है। दूसरी ओर जिस पर आसक्ति हुई उसे प्राप्ति करने के लिए नारियों ने भी युद्ध करवाये, अपहरण कराये, पति के शत्रु तक का वरण करना चाहा और पति तक की हत्या की। ऐसे उदाहरण है सुरसुन्दर नामक गन्धर्व की छह हजार कन्याएँ^{१४}, वाराणसी के राजा लोकपाल की रानी विभ्रमा^{१५}, नल-कुबेर की रानी उपरम्भा^{१६}, यशोधर की रानी अमृतमती आदि^{१७}।

नारी पुरुष के सम्बन्धों या यौन जीवन में उपर्युक्त विषयमताओं के अतिरिक्त कुछ और विकृतियाँ भी आयी; किन्तु उन सब से अधिक, ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें यौन जीवन के स्वस्थ और शास्त्र-विहित पक्ष का बोध होता है। मानव जीवन का यह पक्ष विवाह-संस्कार से मूल्यतया जुड़ा है। विवाहों के जो उदाहरण अपभ्रंश के जैन साहित्य में मिलते हैं उनमें और विवाहों के शास्त्रीय भेद-प्रभेदों में चाहे अन्तर दिखायी पड़े पर वे अधिकांश युगानुकूल थे और आज भी अनुकरणीय हैं। पुष्पात्तर विद्याधर की पुत्री कमलावती और लका के राजा श्री-कण्ठ का^{१८}, मथुरा के राजा पाण्ड्यराज की पुत्री कामरति और उत्तर मथुरा के राजा जयवर्म के पुत्र व्यानभट का^{१९}, अपने मामा की पुत्री गुणवती^{२०} से नाग कुमार का तथा नारायण त्रिपृष्ठ के पुत्र श्रीविजय का अपने बहनोई और अर्ककीर्ति के पुत्र अमित तेज की बहिन सुतारा^{२१} से जो विवाह हुए वे ऐसे ही विवाह थे।

अधिकांश विवाहों का निर्वाह आजीवन हुआ, यह तब विशेष रूप से उल्लेखनीय हो जाता है जब एक ही व्यक्ति ने एक साथ सैकड़ों या हजारों कन्याओं से विवाह किया हो। भूमितिलक नामक नगर के राजा रक्षराज की ५०० कन्याओं को बन्दीगृह से मुक्त कराकर नाग कुमार ने उनसे विवाह किया^{२२}। मेघरव पर्वत पर पहुँचने पर रावण ने एक बावड़ी में स्नान करती गन्धर्वराज सुरसुन्दर की छह हजार कन्याओं का तत्काल वरण किया^{२३} क्योंकि वे उसके रूप-यौवन पर मोहित हो गयी थी। कुण्डलपुर के राजा मकरकेतु की एक सौ पुत्रियों की प्रतिज्ञा थी कि नगाड़ा बजाकर तथा दूसरे प्रकार के हाव विभाव से उन पर विजय पाने वाला ही उनका वरण करेगा^{२४}, श्रीपाल इसमें सफल हुआ। यही श्रीपाल कोकपट्टीप नगर के राजा यशोराशिजिय की सोलह सौ कन्याओं के समस्यामूलक प्रश्नों के उत्तर देकर भी उस सभी के द्वारा वरण किया जाता है^{२५}। इस सब के अतिरिक्त भी उसने कचनपुर के राजा वज्रसेन की एक सौ राजकुमारियों से भी विवाह किया^{२६}। पच पाण्डवों के सुप्रदेश में दो हजार, मल्लिवाड में सात सौ, तेलंग देश में एक हजार, सौराष्ट्र की पाच सौ, महाराष्ट्र की पांच सौ, गुजरात की चार सौ और मेवाड़ की नौ सौ कन्याओं का भी वरण किया^{२७}। अपभ्रंश साहित्य में बहु-विवाह के इन उदाहरणों के अतिरिक्त भी अनेक विचारोत्तेजक उदाहरण मिलते हैं। रानियों की ये सख्याएँ द्रष्टव्य हैं। चक्रवर्ती भरत की छियानवे हजार^{२८}, चक्रवर्ती

१४. स्वयंभू : पृ० १६३-६५, स० १०, क० ५-६।

१५. वीर : पूर्वोक्त, पृ० २०६-२०७, स० १०, क० १५-१७।

१६. स्वयंभू : पूर्वोक्त, पृ० २४५, स० १५, क० ११।

१७. पुष्पदन्त : जसहरचौरा, नई दिल्ली १९७२, पृ० ५६-६१, स० २, क० २४।

१८. स्वयंभू : पूर्वोक्त, पृ० ६६-१०१, स० ६, क० २-४।

१९. पुष्पदन्त : णायकुमारचरित, नई दिल्ली, १९७२, पृ० १२६, स० ८, क० २-४।

२०. उपर्युक्त पृ० ११६, स० ७, क० ६।

२१. विबुह सिंह : पूर्वोक्त, पृ० १४७-१४६, स० ६, क० ६।

२२. पुष्पदन्त : पूर्वोक्त, पृ० १३६, स० ८, क० १३-१६।

२३. स्वयंभू : पूर्वोक्त, पृ० १६३, स० १०, क० ५।

२४. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० ५६, स० २, क० ८६।

२५. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० ५६, स० २, क० ८-६।

२६. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० ६१-६३, स० २, ११-१२।

२७. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० ६५, स० २, क० १२-१३।

२८. स्वयंभू : पूर्वोक्त, पृ० ६१, स० ४, क० १३।

प्रियदत्त की छियानवे हजार^१, श्रीपाल की अठारह हजार^२, वासुदेव त्रिपृष्ठ की सोलह हजार^३, रावण की अठारह हजार^४, सहस्रगति की सहस्राधिक^५, नागकुमार की सहस्राधिक^६, करकण्ड की सहस्राधिक रानिया^७ थी ।

पति-पत्नी सम्बन्ध

पति-पत्नी सम्बन्धों का चित्रण अपभ्रंश साहित्य में उस सहज और व्यापक रूप में नहीं हुआ, जिस रूप में आज के साहित्य में हो रहा है । मनोविश्लेषण और चरित्र-चित्रण का प्रायः अभाव केवल अपभ्रंश ही नहीं, प्राकृत, संस्कृत, पुरानी हिन्दी और अन्य पुरानी भाषाओं में भी रहा है । फिर भी पति-पत्नी सम्बन्ध की कुछ भाकियाँ शोचनीय मिलती हैं तो अधिकांश अनुकरणीय और विचारणीय भी । राजा यशोधर की रानी अमृतमती का एक कुवड़े पर^{३१}, राजा नलकूबर की रानी उपरम्भा का रावण पर^{३२}, वाराणसी के राजा लोकपाल की रानी विभ्रमा^{३३} का एक सुनार पर आसक्त होना अवाञ्छनीय है ता पतिव्रत या पति सेवा के हेतु सीता का राम के साथ १४ वर्ष का वनवास^{३४}, अजना का विवाह के तुरन्त पश्चात् अपने पति पवनजय से बारह वर्ष का वियोग^{३५}, और सूर्यमेन की पत्नियों जयभद्रा, सुभद्रा, धारिणी और यशामती द्वारा अपने पति के सैकड़ों व्याधियों से ग्रस्त और अत्याचारी होने पर भी उनकी मविनय सेवा^{३६}, मैनासुन्दरी द्वारा एक कोढ़ी के साथ विवाहित होकर भी उसे कोढ़ से मुक्त कर लेना^{३७} आदि

अनुकरणीय उदाहरण हैं । पति का आदेश न मानने पर पृथ्वी देवी को अपने समस्त धन से हाथ धोना पड़ता है^{३८}, तो एक शबरी अपने पति को एक मुनि का वय करने से रोक लेती है^{३९} । प्रवास पर जाते श्रीपाल का दामन पकड़ कर मैनासुन्दरी कहती है कि पहले किसे छोड़ूँ । अपने प्राण या तुम्हारा दामन^{४०}, समापन्न पति-विरह से उमकी जो अकुलाहट इस वाक्य द्वारा व्यक्त होती है, वह काव्यमात्र की वस्तु नहीं मानी जा सकती ।

विरह-वर्णन और जीवन-मूल्य

विरह, विशेषतः पत्नी या प्रेमिका का काव्य में एक अत्यन्त व्यापक विषय रहा है किन्तु वह सदा ही जीवन-मूल्यों का सहगामी रहा है । विरह से व्याकुल और क्षीण नारी के मुख से निकली गालियाँ और कराहें^{४१} उसके आन्तरिक विचारों और अनुभूति की हीनाधिकता की द्योतक हैं । यही द्योतन जीवन-मूल्यों के निर्धारण में सहायक बनता है । दूसरी ओर ध्यान देने की बात यह है कि विरह की व्याकुलता और असह्य वेदना स्त्रियों के मध्ये अधिक मढ़ी गयी है । प्रेम के वेग की मात्रा स्त्रियों में अधिक दिखायी गयी है । नायक के दिन-दिन क्षीण होने, विरहताप में भस्म होने, सूखकर ठठरी होने के वर्णन में कवियों का जो उत्तना नहीं लगा है^{४२} । 'बात यह है कि स्त्रियों की शृंगार चैष्टा वर्णन करने में पुरुषों की जो आनंद आता है वह पुरुषों की दशा वर्णन करने में नहीं, इसी से स्त्रियों

२६. विबुह सिरिहर : पूर्वोक्त, नई दिल्ली, १९७५, पृ० १८३, स० ८, क० ५ ।

३०. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० ६७, स० २, क० १५ ।

३१. विबुह सिरिहर : पूर्वोक्त, पृ० १४३, स० ६, क० २ ।

३२. स्वयम्भू : पूर्वोक्त, पृ० ३५५, ख० २, स० ४१, क० ११ ।

३३. स्वयम्भू : पूर्वोक्त, पृ० २२७, ख० १, स० १७, क० ८ ।

३४. पुण्डस्त : पूर्वोक्त, पृ० १७१, स० ६, क० २३ ।

३५. कनकामर : पूर्वोक्त, पृ० १५६, स० १०, क० २४ ।

३६. पुण्डस्त : असहस्यरिउ, नई दिल्ली, १९७२, पृ० ४३, स० २, क० ७८ ।

३७. स्वयम्भू : पूर्वोक्त, पृ० २४५, स० १५, क० ११ ।

३८. वीर : पूर्वोक्त, पृ० २०७, स० १०, क० १५ ।

३९. स्वयम्भू : पूर्वोक्त, पृ० ३६, ख० २, स० २३, क० ६ ।

४०. स्वयम्भू : पूर्वोक्त, पृ० २६६, ख० १, स० १८, क० ६ ।

४१. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० १७०१, स० १, क० १६-१७ ।

४२. पुण्डस्त : णायकुमारचरित, नई दिल्ली १९७२, पृ० ४६, स० ३, क० ११ ।

४३. वीर : पूर्वोक्त, पृ० ५४५५, स० ३, क० १०-११ ।

४४. पुण्डस्त : वीरजिणिदचरित, नई दिल्ली, १९७४, पृ० ५, स० प्रथम, क० ३ ।

४५. नरसेन : पूर्वोक्त, पृ० २५, स० प्रथम, क० २३ ।

के विरह का वर्णन हिन्दी काव्य का एक प्रधान अंग हो बन गया। ऋतु-वर्णन तो केवल इसी की वदीलत रह गया।^१ अपभ्रंश में विरह के प्रसंग उठाये गये हैं और सन्देशरासक तो एक बार कालिदास के मेघदूत, ऋतुसंहार आदि के समीप ही जा पड़ता है। जहाँ तक नख-शिख^२ के वर्णन का प्रश्न है वह अपभ्रंश में भी पर्याप्त मिलता है और उसमें यदा-कदा मौलिकता भी दीख जाती है, किन्तु जीवन-मूल्यों को वह कम ही प्रभावित करता है।

सास-बहू सम्बन्ध

सास-बहू के सम्बन्ध अनुमानतः आज जैसे ही अपभ्रंश काल में भी हो रहे होंगे पर एक स्थान पर सासों की बहुत कटु आलोचना की गयी है : 'बिना परीक्षा किये कोई काम नहीं करना चाहिए, सामें बहुत चुगी होती है, वे महासतियों को भी दोष लगा देती हैं। जिस प्रकार सुकवि की कथा के लिए दुष्ट की मति और कमलिनी के लिए हिमघन, उगी प्रकार अपनी बहुओं के लिए दुष्ट मासों स्वभाव से शत्रु होती है। लोगो में यह प्रमिद्ध है कि सामों और बहुओं का एक दूगरे के प्रति बंर अनादि-निबद्ध है'^३।

परिजनो, सौत आदि के मध्य नारी

नारी अपनी सपत्नी या सपत्नियों के प्रति शकालु और असहिष्णु कदाचित् आदि-काल से रही होगी।

उसकी इस प्रवृत्ति के कई उदाहरण अपभ्रंश साहित्य में मिलते हैं। राजा जयन्धर की एक रानी पृथ्वीदेवी, दूसरी रानी विशालनेत्रा पर राजा का विशेष प्रेम देखकर जिन-दीक्षा को उद्यत हो जाती है^४। दूसरी ओर अपने पुत्र के पास जा रही पृथ्वी देवी पर विशालनेत्रा पर-पुरुष गमन का आरोप लगाती है^५। अपनी पुत्री की भाँति चन्दना की रक्षा करते सेठ वृषभदत्त से कुछ न कहकर उसकी सेठानी चन्दना पर घोर अत्याचार करती है^६। सेठ जिनदत्त की नवोढा अपनी सपत्नी की युवती कन्या तिलकमती से प्रबल ईर्ष्या करती है^७। परिजनो के प्रति सहज और सौम्य व्यवहार के मध्य नारियों में ईर्ष्या, जलदबाजी आदि की भी कुछ प्रवृत्तियाँ दिख जाती हैं। सेठ जिनदत्त की पत्नी सीतेली पुत्री तिलकमती पर इस-लिए भी अत्याचार करती थी कि उसे विवाहेच्छुक वर उसकी अपनी पुत्री तेजमती की अपेक्षा अधिक पसन्द करते थे^८। समुराल से निकाल दी गयी पद्मजय की पत्नी अंजना सर्वथा निर्दोष होने पर भी अपने माता-पिता द्वारा भी ठुकरा दी जाती है^९।

अपभ्रंश में जब भी सामाजिक कार्यों, समारोह, उथल-पुथल आदि के प्रसंग आये तभी नारी को समान रूप से भाग लेते दिखाया गया है। परदेश, युद्ध आदि के लिए प्रस्थान करते हुए पति को प्रोत्साहित करना^{१०} उसकी धार्मिक प्रवृत्तियों में सहयोग और मार्गबोधन^{११}, तीर्थकर के समवसरण में पटुवना, तीर्थयात्रा^{१२}, वन-

१. शुक्ल : आचार्य रामचन्द्र : जायसी ग्रन्थावली (भूमिका), काशी, पृ० १२५-१२६।

२. अठ्ठुर रहमाण : सन्देशरासक, पृ० १५०-१५१, द्वि० भाषा ३३-३६।

३. स्वयंभू : पूर्वोक्त, पृ० ३०७, स० १६, क० ४-५।

४. पुष्यदन्त : नायकुमारचरित, नई दिल्ली, १९७२, पृ० २१-२३, स० २, क० २३।

५. उपयुक्त, पृ० ४५, स० ३ क० ८।

६. पुष्यदन्त : वीरजिण्डचरित, नई दिल्ली, १९७४, पृ० ७१, स० ५, क० ४-५।

७. उदयचन्द्र : सुगन्धदशमो कथा, नई दिल्ली, १९६६, पृ० १८, स० २, क० २।

८. उदयचन्द्र : पूर्वोक्त, पृ० १६, स० २, क० २।

९. स्वयंभू : पूर्वोक्त, पृ० ३०७-३०६, स० १६, क० ४-५।

१०. (क) वीर : उपयुक्त, पृ० ११७, स. ६, क. ३।

(ख) स्वयंभू : पूर्वोक्त, खं. ४, पृ. ३६४३, स. ५६, क. ३-५।

११. वीर : उपयुक्त, पृ. ३६-४०, स. २, क. १७-१६।

१२. (क) वीर : पूर्वोक्त, पृ. ५६-५८, स. ३, क. १२-१३।

(ख) विबुह सिग्गिर, पूर्वोक्त, पृ. १६५, स. ७, क. ५।

(ग) स्वयंभू : पूर्वोक्त, पृ० १५, स० १, क० ८।

(घ) स्वयंभू : पूर्वोक्त, खं. ४, पृ. २७८-२८३, स. ७२, क. ५-७।

विहार^१, वसन्तोत्सव^२, जल-क्रीड़ा^३, आदिमे सम्मिलित होना नारी के साधारण कार्य थे। इन और ऐसे ही अन्य कार्यों के चित्रण में अपभ्रंश साहित्यकारों ने भी प्रचलित परम्परा का ही अनुसरण किया है। इस विषय में उनकी कुछ मौलिकता यदि होगी तो वह काव्यगत ही होगी, जीवन-मूल्यों की दृष्टि से वह उल्लेखनीय नहीं दिखती।

राजनीति और नारी

अपभ्रंश में नारी के राजनीतिक पक्ष पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। साधारणतः, यहाँ भी नारी के कारण युद्ध होते दिखाये गये हैं। कैंकेयी का राजनीति में प्रसिद्ध हस्तक्षेप^४ प्रसंगवश पञ्चमचरित^५ भी में आया है। विशाखभूति की पत्नी ने अपने पुत्र के लिए विश्वनन्दी से नन्दन वन छीनने का आग्रह करके एक राजनीतिक सद्पं को जन्म दिया^६। राजकुमार नागकुमार पर राजा जयन्धर ने नगर परिभ्रमण पर इसलिए रोक लगा दी क्योंकि नगर की युवतियाँ उस पर मोहित हो जाया करती थीं; इस रोक पर आपत्ति करके राजकुमार की माना पृथ्वीदेवी ने एक राजनीतिक-सामाजिक उथल-पुथल पैदा कर दी^७। वज्रा-युध की कन्या लंकामुन्दरी ने हनुमान से भीषण युद्ध करके रण-कुशलता का परिचय दिया^८।

धर्मपालन और व्रताचरण

नारियों को साधारणतः धर्म-भीरु, व्रत-उपवास में तत्पर, देव-देवियों और साधु-साधवियों की आराधना में

अग्रेसर दिखाया गया है। नारियों की यह प्रवृत्ति कुछ प्रकृति और कुछ परिस्थितियों के कारण अपेक्षाकृत अधिक ही रही है और इसका चित्रण भी समस्त भारतीय साहित्य में समान रूप से हुआ है। अपभ्रंश के साहित्य-कारों ने भी इसके अनेक उदाहरण सजोये हैं। नारियों ने एक ओर तो क्रमशः अभ्यास करते हुए यथाविधि जिन-दीक्षा ग्रहण की, दूसरी ओर समय-समय पर पर्वाराधन, तपश्चरण, साधु-भक्ति, देवताराधन आदि में भी एकाकी या सामूहिक रूप से भाग लिया। इस सबमें जो विचारणीय विषय है वह है इन प्रवृत्तियों के मूल में विद्यमान या अविद्यमान विवेक। वस्तुतः होता यह था कि भावना के एक क्षणिक आवेग में आकर पुरुषों की ही भांति नारियाँ भी दीक्षा के लिए चल पड़ती थीं। पति के साथ उसकी सहस्राधिक नारियों के दीक्षित होने के पीछे विवेक की सम्भावना नगण्य ही हो सकती है। विपत्तियों में वैराग्य महज सम्भव है पर उसकी परिणति दीक्षा में ही होनी, अनिवार्य नहीं। दीक्षा की मानसिक तैयारी, पूर्वाभ्यास आदि के स्पष्ट विधान हैं और वे कठोर तथा अनिवार्य भी हैं, जिनका अपवाद केवल ऐसे विरल कृती पुरुषों द्वारा ही सम्भव है जिनका जीवन ही प्रकारान्तर से मुनिपद के पूर्वाभ्यास में व्यतीत हुआ होता है। दूसरी ओर, राजसी राग रग में आकण्ठ डूबी हुई हजारों नारियाँ उठकर वन की ओर चल पड़े^९, वह भी अचानक ही विरक्त हो रहे अपने पति के साथ आखें (शेष पृष्ठ ४७ पर)

(च) नरसेन : पूर्वोक्त, पृ. ३७, स. १, क. ३६।

(छ) नरसेन वही, पृ. ७७, स. २, क. २६।

१ विबुह सिरहर : पूर्वोक्त, पृ. ११, स. १, क. ८।

२ (क) वीर : पूर्वोक्त, पृ. ५६-५७, स. ३, क. १२-१३।

(ख) वीर : पूर्वोक्त, पृ. ७८-८४, स. ४, क. १६-१६।

(ग) उदयचन्द्र : पूर्वोक्त, स. १, क. ३-४।

(घ) स्वयम्भू : पूर्वोक्त, खं. ४, पृ. २४७-२५३ स. ७१,

क. १-४। (ङ) उपयुक्त, खं. २, पृ. ६७-६८, स. २६, क. ५-७।

३ (क) उपयुक्त, खं. १ पृ. ६३, स. १, क. १४।

(ख) उपयुक्त, खं. १, पृ. २२१-२२७, स. १४, क.

३८। (ग) उपयुक्त, खं. १, पृ. १०७, स. २६,

क. १४-१५। (घ) उपयुक्त, खं. ५, पृ. ११५, स.

७६, क. ११।

४. उपयुक्त, पृ. २७, खं. २, स. २२, क. ८।

५. विबुह सिरहर : उपयुक्त, पृ. ५३, स. ३, क. ६।

६ पद्यादन्त : नायकुमारचरित, नई दिल्ली १९७२, पृ. ४७ स. १०, ६।

७ स्वयम्भू : पूर्वोक्त पृ. १०१-७१०, खं. ३, स. ४८, क. ८-१३।

८ उपयुक्त : पृ. ८७, खं. ५, स. ७८, क. ५।

देवपूजा और उसका माहात्म्य

□ प्रो० उदयचन्द्र जैन, एम. ए.,

जैनधर्म ही नहीं किन्तु अन्य भारतीय धर्मों में भी प्राचीनकाल से ही पूजा का विशिष्ट स्थान रहा है। साथ ही पूज्य का स्वरूप, पूजा की विधि और उसके उद्देश्य में भिन्नता भी रही है, जो कि अपने-अपने धर्म के अनुसार स्वाभाविक है। जब हम जैनधर्म में पूजा के विषय में विचार करते हैं तो हम देखते हैं कि इस धर्म के दो मुख्य स्तम्भ हैं—मुनि और गृहस्थ; और देवपूजा दोनों का ही आवश्यक कर्त्तव्य है। यह अबश्य है कि दोनों की पूजा करने की विधि भिन्न-भिन्न है।

देवपूजा का प्राचीन रूप

कृतिकर्म देवपूजा के अभिप्राय को प्रकट करने वाला एक प्राचीन शब्द है। यह एक व्यापक शब्द है जिसमें देवपूजा के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी समाविष्ट हैं। कृतिकर्म मुनि और गृहस्थ दोनों का आवश्यक कर्त्तव्य है। भोजनग्रहण, गमनागमन आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति करते समय लगे हुए दोषों का परिमार्जन करने के लिए साधु को कृतिकर्म करना चाहिए। गृहस्थ को प्रवृत्ति तो निरन्तर सदोष रहती ही है। अतः उसे भी कृतिकर्म करना आवश्यक है। मूलाचार के षडावश्याधिकार में पूजाकर्म को कृतिकर्म का पर्यायवाची कहा गया है। कृतिकर्म के पर्यायवाची अन्य दो नाम हैं चितिकर्म और विनयकर्म। कृतिकर्म का अर्थ नित्यकरणीय कर्म भी किया जा सकता है। मुनि के २८ भूल गुणों में ६ आवश्यक बतलाये गये हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। षट्खण्डागम में बतलाया गया है कि कृतिकर्म तीनों सन्ध्या कालों में करना चाहिए। तीनों सन्ध्या कालों में जो कृतिकर्म किया जाता है उसमें सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव और वन्दना इन तीनों की मुख्यता रहती है। तीनों सन्ध्याकालों में किया जाने वाला कृतिकर्म साधु

और श्रावक दोनों के लिए समान रूप से आवश्यक है। साधु उक्त प्रकार का कृतिकर्म करके देवपूजा ही करता है। यह बात पृथक् है कि अपरिग्रही होने के कारण साधु कृतिकर्म करते समय अक्षत आदि द्रव्य का उपयोग नहीं करता है और गृहस्थ कृतिकर्म करने समय अक्षत आदि सामग्री का भी उपयोग करता है।

यथार्थ बात यह है कि पूजा दो प्रकार से की जाती है—द्रव्य और भाव से। साधु जो पूजा करता है वह भाव पूजा है। मूलाचार में यह भी कहा गया है कि देवपूजा अपने विभव के अनुसार करनी चाहिए। इस कथन का तात्पर्य गृहस्थ के द्वारा की गई द्रव्य पूजा से है। मूलाचार की टीका में आचार्य वसुनन्दी ने कहा है कि जिनेन्द्र देव की पूजा के लिए अक्षत, गन्ध, धूप आदि जिस सामग्री का उपयोग किया जाय उसे प्रासुक और निदोष होना चाहिए।

आचार्य अमृतगति ने अपने श्रावकाचार में पूजा के दो भेद करके उनका लक्षण इस प्रकार बतलाया है :—

वचो विग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते ।

तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनं ॥

गन्धप्रसूनमान्नाद्य दीपधूपक्षतादिभिः ।

क्रियमाणोऽथवा ज्ञेया द्रव्यपूजा विधानतः ॥

व्यापकानां विशुद्धानां जिनानामनुरागतः ।

गुणानां यदनुष्ठानं भावपूजेयमुच्यते ॥

अर्थात् पूर्वाचार्यों के अनुसार वचन और शरीर की क्रिया को रोकने का नाम द्रव्यपूजा है और मन की क्रिया को रोकने का नाम भावपूजा है। किन्तु स्वयं अमृतगति के मतानुसार गन्ध, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और अक्षत आदि से पूजा करने का नाम द्रव्यपूजा है और जिनेन्द्र के गुणों के चिन्तन करने का नाम भावपूजा है।

आचार्य जिनसेन ने महापुराण के ३८वें पर्व के प्रारम्भ में—

इज्यां वातां च दत्ति च स्वाध्याय संयमं तपः ।

श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥

इस श्लोक द्वारा षट्कर्म—इज्या, वातां, दान, स्वाध्याय, संयम और तप का वर्णन करते हुए पूजा के चार भेद बतलाये हैं—

प्रोक्ता पूजाहंतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम् ।

चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमाश्चाष्टाह्निकोऽपि च ॥

नित्यपूजा, चतुर्मुखपूजा, कल्पद्रुमपूजा और आष्टाह्निक-पूजा । ये सब द्रव्य पूजा के ही प्रकार हैं । प्रतिदिन अपने घर से गन्ध, पुष्प, अक्षत इत्यादि ले जाकर जिनालय में श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा करना सदार्चन अर्थात् नित्य पूजा है । महा मुकुटवद्ध राजाओं के द्वारा जो पूजा की जाती है उसे चतुर्मुख पूजा कहते हैं । चक्रवर्ती राजाओं के द्वारा किमिच्छिक दानपूर्वक जो पूजा की जाती है वह कल्पद्रुम पूजा है और आष्टाह्निक पर्व में जो पूजा की जाती है वह आष्टाह्निक पूजा है । इससे पूर्व के उपलब्ध साहित्य में पूजा के भेद नहीं मिलते हैं ।

आचार्य सोमदेव ने पूजा के कोई भेद नहीं बतलाये किन्तु पूजकों के दो भेद अवश्य बतलाये हैं—एक पुष्पादि में पूजा की स्थापना करके पूजन करने वाले और दूसरे प्रतिमा (मूर्ति) का अवलम्बन लेकर पूजन करने वाले । प्रतिमा के अभाव में पुष्पादि में अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य की स्थापना करके प्रत्येक की अष्टद्रव्य से पूजा करना बतलाया गया है । उसके बाद क्रम से दर्शनभक्ति, ज्ञानभक्ति, चारित्र्यभक्ति, अर्हद्भक्ति, सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति, शान्तिभक्ति और आचार्यभक्ति करना बतलाया है । इससे यह सिद्ध होता है कि प्रतिमा के अभाव में भी पूजा की जा सकती है ।

सोमदेव ने यशस्तिलक में पूजा की पद्धति या प्रकार को इस प्रकार बतलाया है—

प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना सन्निधानम् ।

पूजा पूजाफलं चेति षड्विव देवसेवनम् ॥

अर्थात् प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधान, पूजा और पूजा का फल, इस तरह छह प्रकार से देव की पूजा की जाती है ।

जिनेन्द्र देव का गुणानुवाद करते हुए अभिषेक विधि की प्रस्तावना करना प्रस्तावना है । पीठ के चारो कोणों पर जल से भरे हुए चार कलशों की स्थापना करना पुराकर्म है । पीठ पर यथाविधि जिनेन्द्रदेव की स्थापित करना स्थापना है । ये जिनेन्द्रदेव हैं, यह पीठ मेरुपर्वत है, जल से पूर्ण ये कलश क्षीरोदधि से पूर्ण कलश हैं और मैं इन्द्र हूँ जो इस समय अभिषेक के लिए उद्यत हुआ हूँ, ऐसा विचार करना सन्निधान है । अभिषेक के बाद अष्टद्रव्य से पूजा करना पूजा है, और सबके कल्याण की भावना करना पूजा का फल है ।

आचार्य वसुनन्दी ने पूजा के ६ भेद बतलाये हैं—

गामट्ववणादब्बे खित्ते काले विद्याण भावे य ।

छव्विहपूया भणिया समासउ जिणवरिं देहि ॥

अर्थात्, नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव यह छह प्रकार की पूजा जिनेन्द्र भगवान् ने संक्षेप में कही है ।

अर्हन्त आदि का नाम उच्चारण करके शुद्ध स्थान में पुष्प क्षेपण करना नामपूजा है । सद्भाव और असद्भाव के भेद से दो प्रकार की स्थापना होती है । साकार वस्तु में भगवान् के गुणों का आरोपण करना सद्भाव स्थापना है । अक्षत, कमल के बीज या किसी पुष्प में यह मंकल्प करना कि यह भगवान् के देव हैं और वैसे उच्चारण करना असद्भाव स्थापना है । पं० आशाधर जी ने भी जिन-प्रतिमा के न रहने पर अक्षत आदि में जिनेन्द्र की स्थापना करने का विधान बतलाया है । जल, चन्दन, अक्षत आदि द्रव्य से जो पूजा की जाती है उसे द्रव्यपूजा कहते हैं । जिनेन्द्रदेव की जन्मभूमि, दीक्षाभूमि, केवलज्ञानभूमि और मोक्ष प्राप्त होने की भूमि में जो पूजा की जाती है वह क्षेत्रपूजा है । भगवान् के गर्भकल्याणक आदि केंद्रों में नन्दीश्वर पर्व के आठ दिनों में तथा अन्य पर्व के दिनों में जो पूजा की जाती है वह कालपूजा है और अनन्त लाभदायि गुणों की स्तुति करके जो त्रिकाल बन्दना की जाती है वह भावपूजा है ।

उपर्युक्त विवेचन से यही तात्पर्य निकलता है कि पूजा दो प्रकार से की जाती है—द्रव्य से और भाव से । जो साधु है वह भावपूजा करता है । किन्तु आदिक द्रव्यपूजा और भाव पूजा दोनों ही कर सकता है । पं० आशाधर

जी ने सागारधर्मावृत मे श्रावक की दिनचर्या का वर्णन करते हुए त्रिकाल देववन्दना के समय दोनों प्रकार से पूजा करने का विधान किया है।

वर्तमान पूजा विधि

वर्तमान पूजा विधि मे वे सब गुण नहीं रह गये हैं जो षट्सण्डागम, मूलाचार आदि मे प्रतिपादित है। त्रिकाल देववन्दना, प्रतिक्रमण और आलोचना की विधि समाप्तप्राय है। अब श्रावक का कृतिकर्म देवदर्शन और देवपूजा दो भागो मे विभक्त हो गया है। यद्यपि देवदर्शन भी पूजा का एक प्रकार ही है किन्तु उसे दर्शन ही कहते हैं। जिन मन्दिर मे जाकर देवदर्शन करना प्रत्येक श्रावक और श्राविका का नित्य कर्तव्य है। वह जिन मन्दिर मे जाकर मूर्ति के समक्ष स्तुति पाठ करते हुए जिन भगवान् को नमस्कार करके तीन प्रदक्षिणा देता है। यह देवदर्शन है। पूजा करने के लिए पहले स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहिनकर सबसे पहले मूर्ति का जल से अभिषेक किया जाता है। कहीं-कहीं दूध, दधि, घृत, इक्षुरस और सर्वोषधिरस से भी अभिषेक करने की पद्धति है। अभिषेक के बाद पूजा के प्रारम्भ मे जिस देव की पूजा करते हैं उसका आह्वानन, स्थापन और सन्निधिकरण किया जाता है। उसके बाद क्रमशः जल आदि आठ द्रव्यों से पूजन किया जाता है। अन्त मे आठ द्रव्यों को मिलाकर अर्घ्य चढ़ाया जाता है। प्रत्येक द्रव्य चढ़ाते समय उमका उद्देश्य बोलकर उसे चढ़ाते हैं। जैसे जल चढ़ाते समय कहते हैं—जन्मजरा मृत्युविनाशनाय जलं निर्वपामीति स्वाहा। अर्थात् जन्म, जरा और मृत्यु के विनाश के लिए जल चढ़ाता हूं। पूजा के अन्त में सबके लिए शान्तिपाठ पढ़ा जाता है।

शान्ति पाठ मे—

क्षेमं सर्वप्रजाना प्रभवतु बलवान् धामिको भूमिपालः,
काले काले च सम्यग्बर्षतु मधवा व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्ष चौर-मारी क्षणमपि जगतां मास्म भूज्जीवलोके,
जैनेन्द्र धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि॥

यह पद्य मुख्य है और इसमे सम्पूर्ण राष्ट्र की सब प्रकार से भलाई की कामना की गई है। शान्तिपाठ के अन्त मे विसर्जन किया जाता है।

मूर्तिपूजा का प्रारम्भ और उपयोगिता

जैनधर्म में मूर्तिपूजन की परम्परा बहुत प्राचीनकाल से प्रचलित है। द्वितीय शताब्दी ई० पू० के सम्राट् खारवेल के शिलालेख मे ऋषभनाथ की मूर्ति का उल्लेख है जिसे मगध का राजा नन्द कलिंग विजय के बाद पाटलिपुत्र (पटना) ले गया था और जिसे खारवेल ने मगध पर चढ़ाई करके पुनः प्राप्त किया था। इससे सिद्ध होता है कि आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व राजधरानो तक मे जैनो के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की मूर्ति की पूजा होती थी। एक मौर्यकालीन मूर्ति पटना के संग्रहालय मे स्थित है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय मे अरहन्त, सिद्ध, चंत्य और प्रवचन भक्ति का उल्लेख किया है तथा प्रवचनसार मे देवता, यति और गुरु की पूजा का विधान किया है। उत्तरकाल मे तो जिन प्रतिमा और जिन मन्दिरों का निर्माण अधिक सख्या मे हुआ है। इसी युग मे प्रतिष्ठापाठो आदि की रचनाएं हुई हैं। पूजन साहित्य भी इस युग मे विशेषरूप से लिखा गया है।

जैनधर्म मे अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच पद बहुत प्रतिष्ठित माने गये हैं। इन्हें पञ्च परमेष्ठी कहते हैं। इन पाँच परमेष्ठियों मे से अरहन्त परमेष्ठी की मूर्ति जैन मन्दिरों मे विराजमान रहती है। ये मूर्तियाँ ४ तीर्थंकरों मे से किसी न किसी तीर्थंकर की होती हैं किन्तु होती अरहन्त अवस्था की ही हैं, क्योंकि अरहन्त अवस्था के बिना धर्म तीर्थ का प्रवर्तन नहीं हो सकता है। अतः धर्म तीर्थ के प्रवर्तक जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ जैन मन्दिरों मे विशेषरूप से पायी जाती हैं। निराकार सिद्धों की मूर्तियाँ भी मन्दिर मे प्रायः रहती हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु की मूर्तियाँ भी कहीं-कहीं पायी जाती हैं। इनकी मूर्तियों में साधु के चिह्न पीछी और कमण्डलु अंकित रहते हैं। ये सभी मूर्तियाँ ध्यानस्थ अवस्था की होती हैं। आत्मध्यान मे लीन योगी की जैसी आकृति होती है वैसे ही आकृति उन मूर्तियों की होती है। उनके मुख पर शान्ति, निर्भयता और निर्विकारता विद्यमान रहती है। उनके शरीर पर कोई आभरण नहीं होता और न हाथ मे कोई अस्त्र-शस्त्र। दिग्म्बर जैन मूर्ति निरावरण (नग्न) और अलंकार रहित होती है।

जो लोग सबस्त्र और सालकार मूर्ति की उपासना करते हैं उन्हें नग्न मूर्ति अश्लील प्रतीत हो सकती है। यहां प्रश्न यह है कि क्या नग्नता वास्तव में अश्लीलता की प्रतीक है। इस विषय में प्रसिद्ध गान्धीवादी बाबा कालेलकर ने श्रवणबेलगोला (कर्णाटक) में स्थित भगवान् बाहुबलि की विश्वविख्यात नग्न मूर्ति को देखकर जो भाव व्यक्त किये थे वे ध्यान देने योग्य हैं—

“जब मैं कारकल के पास गोमटेश्वर की मूर्ति को देखने गया उस समय हम स्त्री, पुरुष, बालक और वृद्ध अनेक थे। हममें से किसी को भी इस मूर्ति का दर्शन करते समय सकोच जैसा कुछ भी मालूम नहीं हुआ। मैंने अनेक नग्न मूर्तियाँ देखी हैं और मन विकारी होने के बदले उल्टा इन दर्शनों के कारण ही निर्विकारी होने का अनुभव करता हूँ। अतः हमारी नग्नता विषयक दृष्टि और हमारा विकारों की ओर झुकाव दोनों बदलना चाहिए।”

मूर्ति के द्वारा मूर्तिमान् की उपासना की जाती है तथा मूर्ति को देखते ही मूर्तिमान् का स्मरण हो जाता है। मूर्ति मनुष्य के चंचल चित्त को स्थिर रखने के लिए एक आलम्बन है। उस आलम्बन के निमित्त से मनुष्य का चंचल चित्त कुछ क्षण के लिए पूज्य के गुण कीर्तन या चिंतन में लीन हो जाता है। मूर्ति पूजा उस आदर्श की पूजा है जो प्राणिमात्र का सर्वोच्च लक्ष्य है। मूर्ति के द्वारा हमें उस सूर्तिमान् के स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है। अतः वर्तमान काल में तो मूर्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है। प० आशाधर जी ने मूर्ति की उपयोगिता के विषय में सागारधर्मांमृत में कहा है—

धिक् दुःषमाकालरान्नि यत्र शास्त्रदृशामपि ।

चैत्यालोकादूते न स्यात् प्रायो देवविशामतिः ॥

अर्थात् इस बंचमकाल में शास्त्रवेत्ताओं को भी मूर्ति के दर्शन के बिना देवबुद्धि नहीं होती है।

जिनपूजा का उद्देश्य

जिनेन्द्र देव की पूजा किसी भीतिक सुख की कामना से नहीं की जाती है, किन्तु उसका उद्देश्य आत्मा में निर्मलता द्वारा आध्यात्मिक सुख और शान्ति की प्राप्ति

है। जिनदेव वीतराग होते हैं। अतः उनकी पूजा या स्तुति करने से न तो वे प्रसन्न होते हैं और न प्रसन्न होकर कुछ देते हैं। अपरिग्रही और वीतराग होने से उनके पास देने को कुछ है ही नहीं। उनकी निन्दा करने से वे नाराज भी नहीं होते हैं। तब उनकी पूजा से क्या लाभ है? इसका उत्तर यही है कि उनके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पापों से बचाता है। इसी विषय में आचार्य समन्तभद्र ने बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र में कहा है—

न पूजयाथंस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि तव पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्त दुरिताञ्जनेभ्यः ॥

हे नाथ ! तुम वीतराग हो इसलिए तुम्हें अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है, और वीत द्वेष होने के कारण निन्दा से भी कोई प्रयोजन नहीं है। फिर भी तुम्हारे पवित्र गुणों की स्मृति हमारे चित्त को पापरूपी मल से बचाती है।

अभिषेक

पूजा के प्रारम्भ में अभिषेक की परम्परा है। जिन प्रतिमा का अभिषेक तीर्थंकरों के जन्मकल्याण के समय सुमेरु पर्वत पर इन्द्र के द्वारा किये गये अभिषेक का ही प्रतिरूप है। इन्द्र ने केवल क्षीरसागर के जल से ही भगवान् का अभिषेक किया था। अतः शुद्ध आम्नाय के अनुसार जल से अभिषेक करना ही ठीक है। फिर भी जैन परम्परा में कही-कही दूध, दधि, घृत आदि से भी अभिषेक किया जाता है। यह परम्परा कब से चली? पञ्चा-मृत से सम्बन्ध रखने वाले दुग्ध, दधि, घृत इक्षुरस और सबौषधिरस का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख हरिवंश पुराण में मिलता है। किन्तु वराहचरित्र में जो हरिवंशपुराण से प्राचीन है, अभिषेक के समय दूध, दधि आदि से भरे हुए कलशों का उल्लेख होते हुए भी उनसे अभिषेक किये जाने का उल्लेख नहीं है, केवल जल से ही अभिषेक का उल्लेख है। पद्मपुराण में भी अभिषेक के लिए घृत, दूध आदि से पूर्ण कलशों का उल्लेख है। किन्तु जिनसेन ने महापुराण में और उनके शिष्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण में जल से ही अभिषेक करने का विधान किया है। सोमदेव ने उपासकाध्ययन में इक्षुरस, घृत, धारोष्ण दूध, दधि और अन्त

में जल से अभिषेक करने के पश्चात् पूजा करने का विधान किया है।

ब्राह्मणन और विसर्जन

वर्तमान में जो पूजा की विधि प्रचलित है उसमें जिसकी पूजा की जाती है उसका ब्राह्मणन और विसर्जन किया जाता है। यह विधि कहां तक उचित है इस पर भी विचार करना आवश्यक है। जैन सिद्धान्त के अनुसार जिस देव की पूजा की जाती है वह न तो कहीं से आता और न कहीं जाता है। मोघदेव ने पूजन से पूर्व जो स्थापन और सन्निधापन क्रियाएँ बतलाई हैं वे आज के प्रचलित ब्राह्मणन, स्थापन और सन्निधिकरण से भिन्न हैं। उनकी विधि में ब्राह्मणन तो है ही नहीं, विसर्जन भी नहीं है। विसर्जन का सम्बन्ध तो ब्राह्मणन के साथ है। जब किसी को बुलाया नहीं जाता है तो भजने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसा प्रतीत होता है कि ५० यासावर (५० स० १३००) के बाद ही पूजा में उक्त प्रक्रिया समाविष्ट हुई है। धर्मसंग्रह श्रावकाचार (सोलहवीं शताब्दी) और लाटी महिना (सत्रहवीं शताब्दी) में ब्राह्मणन, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जन ये पाँच प्रकार पूजा के बतलाये हैं। यथार्थ में बात यह है कि भगवान् के पंचकल्याणक में देव आने थे। अतः पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में देवों का ब्राह्मणन और विसर्जन तो ठीक प्रतीत होता है। इसी बात का ध्यान में रखकर देवसेन कृत भावसंग्रह में इन्द्रादि देवताओं का ब्राह्मणन तथा उन्हें यज्ञ का भाग अर्पित करके पूजन के अन्त में उन आहूत देवताओं का विसर्जन भी किया गया है। इस प्रकार जो पहले ब्राह्मणन और विसर्जन इन्द्रादि देवताओं के लिए किया जाता था उसको उत्तर काल में पूजा का आवश्यक अंग मानकर जिनेन्द्र देव के लिए भी किया जाने लगा। पूजन के अन्त में विसर्जन करते समय निम्नलिखित श्लोक भी पढ़ा जाता है—

आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमम् ।
ते मयाऽभ्यर्चिता भक्ष्या सर्वे यान्तु यथास्थितिम् ॥
इसको हिन्दी में इस प्रकार पढ़ते हैं—
आये जो जो देवगण पूजे भक्ति प्रमाण ।
ते सब जाबहु कृपाकर अपने-अपने धान ॥

यथार्थ में यह विसर्जन इन्द्र आदि देवताओं के लिए है, जिनेन्द्र देव के लिए नहीं।

देवपूजा का माहात्म्य

सातवीं शताब्दी के आचार्य रविषेण ने पञ्चचरित में मूर्ति निर्माण तथा उसकी पूजा के फल के विषय में लिखा है—

जिनविम्बं जिनाकारं जिनपूजां जिनस्तुतिम् ।

यः करोति जनस्तस्य न किञ्चिद् दुर्लभं भवेत् ॥

अर्थात् जो व्यक्ति जिनदेव की आकृति के अनुरूप जिनविम्ब बनवाता है तथा जिनदेव को पूजा और स्तुति करता है उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

इसी प्रकार, सातवीं शताब्दी में रचित अध्यात्म ग्रन्थ परमात्म-प्रकाश में लिखा है—

दाणं न दिण्णं मुणिवरहं ण वि पुज्जिउ जिण्णहु ।

पच्च ण वदिय परमगुह किमु होसइ सिवलाहु ॥

अर्थात् जिसने न तो मुनिवरो को दान दिया, न जिन भगवान् की पूजा की और न पञ्च परमेष्ठी को नमस्कार किया उसको मोक्ष का लाभ कैसा होगा।

आचार्य ग्रामिणगति ने सुभाषितरत्नमन्दोह में लिखा है—

येनागुष्ठप्रमाणार्चा जनेन्द्री क्रियतेऽविना ।

तस्याऽप्यनन्वरी लक्ष्मीर्न दूरे जातु जायते ॥

अर्थात् जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान् की अगुष्ठ प्रमाण मूर्ति बनवाता है वह भी अविनाशी लक्ष्मी को प्राप्त करता है।

आचार्य पद्मनन्दि पञ्चसंग्रह में उनसे भी आगे बढ़कर कहते हैं—

बिम्बाबलोनन्तियवोन्ततिमेव भक्ष्या ये

कारयन्ति जिनसद्य जिनाकृतिं वा ।

पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्नोति स्तोतुं

परस्य किमु कारयितुं द्वयस्य ॥

अर्थात् जो बिम्बपत्र के प्रमाण जिनमन्दिर बनवाकर उसमें जो बराबर जिन प्रतिमा की भक्तिपूर्वक स्थापना करते हैं उनके पुण्य का वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकती, फिर जो बड़ा मन्दिर और बड़ी प्रतिमा बनवायें उनका तो कहना ही क्या है।

आचार्य वसुनन्दी ने अपने श्रावकाचार में पद्मनन्दि से भी आगे कहा है—

कुंथुभरिदलमेते जिणभवेण जो ठवेइ जिणपडियं ।

सरिसवमेत्त पि लहइ सो णरो तित्थर पुण्ण ॥

अर्थात् जो कुंथुभरि के पत्र बराबर जिन मन्दिर बनवा कर उसमें सरसों के बराबर भी जिनप्रतिमा की स्थापना करता है वह मनुष्य तीर्थंकर पद के योग्य पुण्यबन्ध करता है ।

अन्त में कहते हैं—

एयारसंगधारी जीहसहस्सेण सुखरिदो वि ।

पूजाफलं ण सवको णिस्सेस वणिणउ जम्हा ॥

अर्थात् ग्यारह अंग के धारी मुनि तथा देवन्द्र भी हजार जिह्वा से पूजा के फल को पूरा वर्णन करने में समर्थ नहीं है ।

आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकण्ठश्रावकाचार में पूजा के माहात्म्य को इस प्रकार बतलाया है—

ग्रहञ्चरणसपर्यामिहानुभाव महात्मनामवत् ।

भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥

अर्थात् राजगृह नगर में हर्ष से आनन्दित मेंढक ने एक पुष्प के द्वारा भव्य जीवों को अरहन्त भगवान् के चरणों की पूजा के माहात्म्य का बतलाया था । तात्पर्य यह है कि जिस समय भगवान् महावीर का समवशरण राजगृह में आया हुआ था उस समय राजा श्रेणिक आदि नगर के सब लोग भगवान् की वन्दना के लिए गये । उस समय एक मेंढक भी धर्म की भावना से प्रेरित होकर मुख में एक कमलपुष्प लेकर भगवान् की पूजा के लिए चला । इसी बीच वह मेंढक राजा श्रेणिक के हाथीके पैर से कुचल कर मर गया और पूजा करने की पवित्र भावना के कारण उपाजित पुण्य के प्रभाव से सोधर्म स्वर्ग में ऋद्धिधारी देव हुआ, और तत्काल ही वह मुकुट के अग्रभाग में मेंढक का चिह्न बनकर भगवान् के समवशरण में आ गया । इस प्रकार उसने सबके समक्ष पूजन के माहात्म्य को प्रकट कर दिया ।

अष्ट द्रव्य से पूजन करने का पृथक्-पृथक् फल

सोमदेव ने जलादि अष्ट द्रव्य से पूजा करने

का पृथक्-पृथक् कोई फल नहीं बतलाया है किन्तु वसुनन्दी ने पूजा के समय जल आदि चढ़ाने का फल इस प्रकार बतलाया है—

पूजा के समय जलधारा छोड़ने से पापरूपी मल धुल जाता है और चन्दन चढ़ाने से पूजा करने वाला भगवान् होता है । अक्षत से पूजा करने वाल ६ निचि और १४ रत्नों का स्वामी होता है । पुष्प से पूजा करने वाला मनुष्य कामदेव तुल्य होता है । नैवेद्य को चढ़ाने वाला मानव अति सुन्दर होता है । दीप से पूजा करने वाला मनुष्य केवलजानी होता है । धूप से पूजा करने वाला नर निर्मल कीर्ति को प्राप्त करता है, और फल से पूजा करने वाला मनुष्य निर्वाण सुख को प्राप्त करता है ।

पं० आशाधर जी ने इस विषय में साधारणार्थमृत में लिखा है—

वार्धारा रजस शमाय पदयो मम्यक् प्रयुक्ताहंतः,

सद्गन्धः तनुमौग्धाय विभवाच्छेदाय मन्त्रधाराः ।

यष्टुः स्रग्दिविस्त्रजे चरुमास्वाम्याय दीपस्त्वयै,

धूपो विश्वदृगुत्सवाय फलमिष्टार्थाय चार्पाय सः ॥

अर्थात् ग्रहन्त देव के चरणों में जल की धारा चढ़ाने से पापों का शमन होता है, चन्दन चढ़ाने से शरीर सुगन्धित होता है, अक्षत से अविनाशी ऐश्वर्य प्राप्त होता है, पुष्प-माला चढ़ाने से स्वर्गीय पुष्पों की माला प्राप्त होती है, नैवेद्य के अर्पण से पूजा करने वाला लक्ष्मी का स्वामी होता है, दीप से शरीर की कान्ति प्राप्त होती है, धूप से परम सीमाय प्राप्त होता है, फल के चढ़ाने से इष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है और अर्थ के चढ़ाने से मूल्यवान् पद प्राप्त होता है । भाव संग्रह में इसी प्रकार का फल बतलाया गया है ।

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि आचार्य वसुनन्दी, पं० आशाधर आदि के समय में जलादि द्रव्यों के चढ़ाने का फल प्रायः सीमाय-सूचक वस्तुओं की प्राप्ति था । किन्तु दूसरे आचार्यों के मत से उस समय भी पूजा के फल में पूर्ण आध्यात्मिकता रही होगी । उसी के अनुसार पं० आशाधर के बाद की पूजाओं में जन्म, जरा और मृत्यु के विनाश के लिए जल, संसार ताप के विनाश

के लिए चन्दन, अक्षय पद की प्राप्ति के लिए अक्षन, काम बाण के विनाश के लिए पुष्प, क्षुधारोग के नाश के लिए नैवेद्य, मोहान्धकार के नाश के लिए दीप, अष्टकर्मों के नाश के लिए घूप और मोक्ष फल की प्राप्ति के लिए फल चढ़ाने का विधान किया गया है। पूजा करने का यही वास्तविक फल है जो पूर्णरूप से आध्यात्मिक है।

जिनेन्द्र देव की पूजा से भौतिक सुख की कामना करना ठीक नहीं है।

इस प्रकार जिनपूजा के माहात्म्य तथा फल को जानकर प्रत्येक गृहस्थ को यथाशक्ति देवदर्शन, पूजन और स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। इसी में मानव जीवन की सफलता है।



(पृ० ४० का शेषांश)

मीच कर। इसमें विवेक की सम्भावना तो कदाचित् ही हो, भावना भी अपर्याप्त ही दिखती है; और जो दिखता है वह है लोकलाज, अध्यानुकरण और अन्धकारमय भविष्य की विभीषिका। इसी प्रकार, व्रत, तप आदि के आचरण में भी विवेक का पुट कम ही रहा दिखता है। किसी वरदान, प्रेमी, निधि आदि की प्राप्ति के लिए घर्मस्थान, श्मशान, वन आदि में जाकर उपवास करना, विभिन्न प्रकार के तप करना आदि घर्मविरुद्ध प्रवृत्तियों के पीछे विवेक का तो सर्वथा अभाव होना ही है, व्यावहारिक या नैतिक-मूल्यों से भी वे शून्य होती हैं। देव-देवियों की उपासना^१ चाहे जिस उद्देश्य की जाए, जीवन के जैन-मूल्यों की दृष्टि से मूलतः अशास्त्रीय है। जा

देव-देवियां न केवल राग-द्वेष से ओत-प्रोत होती हैं, प्रत्युत किसी भी दशा में चतुर्थ गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ सकती उनकी उपासना चौदहवें गुणस्थान तक अर्थात् उसी पर्याय में मोक्ष तक प्राप्त करने का अधिकारी मानव करे, यह शास्त्रीय दृष्टि से तो अवैध है ही व्यावहारिक दृष्टि से भी असंगत है। साहित्य में उपयुक्त अनेक विषम स्थितियों के जो चित्रण, अधिकांश यथोचित चित्रणों के मध्य बिखरे मिलते हैं उनका कारण किसी हद तक सहज माना जा सकता है, किन्तु उन्हें अनुकरणीय उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

जैन स्यातक, चीराखाना,
वैदवाड़ा, दिल्ली



पृ० ११६, खं. ५, स. ७६, क. १३; पृ० १६६, खं. ५, स. ८३, क. १८; पृ० २७५, खं. ५, स. ८६, क. १८; पृ० २७७, खं. ५, स. ८६, क. १६; पृ० ३२५, खं. ५, स. ८८, क. ११; कनकामरः पूर्वोक्त, पृ० १५६, स. १०, क. २४; नरसेनः पूर्वोक्त, पृ० ८५, स. २, क. ३६; कवि वीरः पूर्वोक्त, पृ० ५८, स. ३, क. १३; पृ० २१२, स.

१०, क. २१; पुष्पदन्तः जसहरचरित, नई देहली, १६७२, पृ० १२५, स. ४, क. ७।

१. स्वयंभूः पूर्वोक्त पृ० ८३-८५ खं ३, स० ४७१, क. ३-६।

२. कनकामरः पूर्वोक्त, पृ० ६६, स. ७, क. १२; पुष्पदन्तः पूर्वोक्त, पृ० ५१, स. २, क. १४।

नियतिवाद नामा नियमवाद

□ श्री महेन्द्रसेन ब्रन, नई दिल्ली

जितनी उलझन और जितना विवर्णवाद भाग्य और पुरुषार्थ, कर्म और नियति को लेकर है, शायद ही किसी दूसरे विषय पर हो। अक्सर उदाहरण दिया जाता है कि एक गिलास में आधा पानी है - भाग्यवादी कहता है कि मेरा गिलास आधा खाली है, गरी भाग्य में यही था। कर्मवादी कता है कि मेरा गिलास आधा भरा है और अपने पुरुषार्थ से बाकी आधा भी मैं भर लूँगा। इससे चाहे जो भी अर्थ निकले, एक बात तो बहुत स्पष्ट है कि भाग्यवादी का गिलास भरने की तो कोई सम्भावना ही नहीं है क्योंकि अन्य कोई ऐसी दैवी शक्ति का प्रमाण नहीं है जो आकर किसी का आधा खाली गिलास भर दे। पुरुषार्थी यह कर सकता है ऐसा उसे विश्वास है, जिसके बल पर वह कर्म में जुटा हुआ है।

वास्तव में बात दोनों की अधूरी है। जहाँ यह सच है कि स्वयं मानव के अलावा और कोई शक्ति नहीं है जो उसका कल्याण-अकल्याण कर सके या उसे प्रत्याशित-अप्रत्याशित फल दिला सके, वहाँ यह भी स्पष्ट है कि दुनिया का हर कार्य नियमों से बसा है और उनकी परिधि के अन्दर मानव की सीमाएँ हैं, सामाजिक नियम हैं, कानूनी नियम हैं और उसी प्रकार प्राकृतिक नियम हैं। झूठ बोलना, न बोलना हमारे पुरुषार्थ के अधीन है, परन्तु झूठ बोलकर झूठा कहलाना यह नियमबद्ध है, झूठ बोलकर मैं सच्चा ही कहलाऊँगा यह व्यर्थ का अहंकार है। हत्या की, नियम ने फाँसी चढ़ा दी। हत्या करना, न करना पुरुषार्थ के अधीन है, परन्तु हत्या करने का फल नियम के अनुसार मिलेगा। आम का पेड़ बोएँ या बबूल का, यह पुरुषार्थ हमारे अधीन है, परन्तु उसमें फल लगना नियम के अधीन है। आम में नियम के अनुसार आम लगेगा और बबूल में कटि।

दूसरे शब्दों में, पुरुषार्थ भी तभी वांछित फल देगा

जब नियमों को समझकर (शिक्षा-दीक्षा) उनके अनुकूल सही पुरुषार्थ करे। नीला-पीला मिलकर हरा रंग बन जाता है, चित्रकार यह नियम जानता है। जब हरे रंग की बाछा हो तो वह दोनों को मिलाकर प्राप्त कर लेता है, परन्तु उसके मिलाने का पुरुषार्थ किए बिना उसको अपने आप हरा रंग कभी भी नहीं मिलेगा। दूमरी और, यदि पुरुषार्थ नीले-पीले रंग को तो पकड़े नहीं और दुनिया भर के अन्य रंगों का घोंटा लगाता फिर और बहे कि मैं हरा रंग बनाकर छोड़ूँगा तो यह मित्राण शैशविल्ली के अहंकार के और कुछ नहीं है।

इसके अतिरिक्त, नैसर्गिक सीमाएँ और क्षमताएँ भी हैं। मानव चाहे कि मैं हाथी के बराबर बौद्ध उठा लूँ, तो नहीं हो सकता। परन्तु उसमें इतनी बुद्धि जरूर है कि यंत्र से हाथी की शक्ति पैदा करके उससे उठा ले। फिर भी इससे तो उसकी सीमा की ही पुष्टि होती है। दूसरी ओर, बुद्धि भी तो क्षमता ही है। चीटी की अपनी सीमाएँ व क्षमताएँ हैं, मानव की अपनी, पशु-पक्षी की अपनी, पेड़-पौधों की अपनी, इत्यादि-इत्यादि। इन सीमाओं और क्षमताओं को कान जी स्वामी ने संज्ञा दी है—‘पर्याय योग्यता’ अर्थात् जो जिस पर्याय में है, उसकी कितनी क्षमता है और उसकी क्या सीमाएँ हैं। पुरुषार्थ उन्हीं की परिधि में हो सकता है। उनके बाहर भी मैं चाहे जो करके दिखा दूँगा, यह मात्र अहंकार है और उनके अनुरूप भी पुरुषार्थ न करके भाग्य मेरे खुले मुँह में आसमान से बेर टपका देगा, यह महामुढ़ता है। वहाँ भी मुँह खोलकर रखने का पुरुषार्थ तो करना ही पड़ेगा।

अब प्रश्न उठता है कि यह भाग्य नाम की चीज आई कहाँ से? पुरुषार्थ तो स्पष्ट अनुभव में आता है और प्रत्यक्ष है, परन्तु भाग्य के सम्बन्ध में हम अक्सर से काम नहीं लेना चाहते। हम रोज देखते हैं कि हर कार्य (शुष पृष्ठ ५१ पर)

कबीर की वाणी में वीर-वाणी की गूँज

□ श्रीमती कुसुम जैन सौरया, एम. ए., बी. एड.

क्रान्तिद्रष्टा कबीर

मध्ययुगीन काव्य जगत् में जिन कवियों ने जीवन को बड़ी सूक्ष्मता और गहरे उतर कर देखा, उनमें सन्त कबीर का नाम प्रमुख है : इन्होंने रूपकों और जीवन के व्यावहारिक प्रतीकों के माध्यम से अध्यात्म की अभिव्यक्ति बड़ी कुशलता से की है। गूढ़ रहस्यों और तत्त्वों को बोलचाल की भाषा में रखकर साहित्य जगत् को एक उपलब्धि प्रदान की है। प्रस्तुत लेख में कबीर के ऐसे विचार-प्रमून प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनमें जैन-दर्शन के सिद्धान्तों के पराग पूर्णरूपेण परिलक्षित है। ऐसा लगता है कि महात्मा कबीर उस धर्म से ज्यादा प्रभावित रहे, जो बाह्य क्रियाकाण्डों, अन्धविश्वासों और रूढ़ मान्यताओं के पक्ष में अपनी अस्वीकृति का हाथ उठाये रहा। इसके साथ नसे ही सच्चा धर्म माना, जिसमें आत्मा या जीव तत्त्व को परमात्मा तक पहुँचाने की घोषणा है; जो सत्य दृष्टि, सद्ज्ञान और सदाचरण के ऐक्य पर जोर देता है। जनकल्याण से अभिभूत कबीर न तो किसी सम्प्रदाय के दलदल में ही पड़े और न ही पाखण्डों के पोषण में अपनी जीवन साधना गंवाई। इसलिए वे निष्पक्ष रूप से एक समाज सुधारक और आध्यात्मिक भावनाओं के समर्थक कहे जा सकते हैं।

वीर-वाणी के अनुगूँज-स्वर

१. स्वयं बोध

भ० महावीर की वाणी वीतराग-वाणी है, जिसमें जीव के परम कल्याण और आत्म पुरुषार्थ की जीवन्तता है। भ० महावीर स्वामी ने किसी बात पर प्रमुख और अन्तिम रूप से जोर दिया तो वह है—‘स्वयं बोध।’ स्वयं से अपरिचय के कारण ही यह जीव दुःखमूलक सम्पदाओं को एकत्र कर उनसे तादात्म्य स्थापित कर

रहा है; जीवतत्त्व या चैतन्य शक्ति ही इस दृश्यमान जगत् में वह पारस-निधि है, जिसके बिना संसार की अनन्त वस्तुयें निरर्थक और अनुपयोगी हैं। इस सन्दर्भ में कबीर की यह साखी कितनी युक्तिपुक्त है :

पारस रूपी जीव है, लौह रूप संसार।

पारस से पारस भया, परख भया टकसार ॥

यह जीव पारस के समान अमूल्य है। इस जीव की व्यापकता का ज्ञान कर लेने पर ही यह संसारी प्राणी (लौह) पारस की तरह अमूल्य बन जाता है। यहाँ ‘परख’ से तात्पर्य अपनी पहिचान करने से है, क्योंकि बिना पहिचान के यह अपनी अनन्त शक्तियों को भूला हुआ है।

जीवत्व में सिद्धत्व

प्रत्येक जीव अपने में अनन्त सम्भावनायें समेटे हुए है। भ० महावीर ने कहा : शक्तिरूप तू सिद्ध बुद्ध है, निरजन है। परन्तु इसकी अभिव्यक्ति प्रसूत है। जागृति बिना सच्ची दृष्टि कैसे प्राप्त की जा सकती है? कबीर-दास जी ने एक मार्मिक साखी के द्वारा इस तथ्य को उजागर करने का प्रयास किया है :

बूंद जो परा समुद्र में, सो जानत सब कोय।

समुद्र समाना बूंद में, सो जाने बिरला कोय ॥

इस बात को सभी जानते हैं कि यह जीवात्मा शरीर धारण कर संसार में जन्म और मरण की प्रक्रिया कर रही है, लेकिन इसकी अनन्त शक्ति और योग्यता को बिरला ही कोई जान पाता है। जिसमें इस सृष्टि को जानने की योग्यता है, वह बूंद हमारी आत्मा, अपने में समुद्र अर्थात् संसार को ही सोव लेती है, अर्थात् जीव के सहज स्वरूप में संसार विसर्जित हो जाता है। जीव की इस विलक्षणता को सब नहीं जान पाते। जैनदर्शन की कितनी गहरी अनुभूति कबीर में उपजी होगी, इस

इस साखी को लिखते समय । एक दूसरी साखी में कबीर कहते हैं :

हंसा तू तो सबल था, हलुकी अपनी चाल ।
रग कुरमे रंगिया, तैं किया और लगवार ॥

हे मानव ! तू तो शक्तिमान् ईश्वर जैसा घबल स्वच्छ है, अर्थात् कर्म-कालिमा से रहित है । फिर भी तूने अपनी उस शक्ति पर एक दृष्टि नहीं दी और निकृष्ट आचरणों में गिरकर तथा स्वयं को कर्म-कालिमा से लिप्त कर अपने को रग-विरंगा बना लिया है । इस प्रकार, स्वयं के अज्ञान ने तुझे स्वामी से दास बना दिया है ।

३. कर्म-वेड़ियों का विनाश

भ० महावीर ने इस कर्म-कालिमा का कारण जीव की बहिर्दृष्टि बताया है । जीव की आसक्तिपूर्ण या मूर्च्छा-सहित क्रियाये ही कमरूप सूक्ष्म शरीर में परिणत होकर नये कर्मों से गठबन्धन करती रहती है । कबीर ने इसे उस सञ्चित बीज का रूप दिया जो योग्य भूमि और काल में पड़ कर कई गुनी फसल प्राप्त करके बढ़ता जाता है । परन्तु यदि यही जीव अन्तर्दृष्टि प्राप्त करके अपने चैतन्य स्वभाव को मूर्च्छा से तोड़कर एक तटस्थ भाव में आ जाये तो वह अपने कर्मों को जर्जरित कर सकता है, जैसे भुंजे हुए बीज में उसकी मौलिकता समाप्त हो जाती है और वह नये अकुरण नहीं कर सकता । कबीर ने इसे इस प्रकार कहा :

एक कर्म है बावना, उपजै बीज बहूत ।

एक कर्म है भुंजना, उदय न अकुर सूत ॥

इस प्रकार, जीव की बहिर्बुद्धि उसके ससार-भ्रमण का कारण बनी हुई है । एक ओर जहाँ वह पुण्य के फल का आत्मविस्मृति के मूल्य पर भोग कर उन्हे अपना स्वरूप ही समझ बैठता है, वहाँ दूसरी ओर दुखमूलक पापरूप सततियों से वह विपन्न होता है और उनसे उपरत भी होना चाहता है । परन्तु शिवस्व की प्राप्ति में कर्मों की गुरुता से निर्भर होने के लिए ये दोनों जीव की अदृश्य बेड़ियाँ हैं, जो जीव को कालचक्र के नीचे घसीट ले जाती है । इन्हीं भावों को कबीर ने कितने सरस रूप

में कहा—

तीन लोक भी पींजरा, पाप पुण्य भी जाल ।

सकल जीव सावज भये, एक ग्रहेरी काल ॥

अर्थात् संसार की चौरासी लाख योनियों के कारागृह में पाप और पुण्य बेड़ियाँ हैं । सजा देने वाला कालचक्र अथवा मृत्यु इस जीव के पीछे प्रत्येक समय लगा रहता है ।

४. शरणागत : एक स्वानुभूति

भ० महावीर ने ससारी जीवों को सम्बोधित हुए कहा है—‘संसार में जरा और मरण के तीव्र प्रवाह में डूबते प्राणियों को धर्म ही एक शरण है, प्रतिष्ठा है, गति है । तुम स्वयं अपने दीपन हो । अपनी ही ज्योति में अपने को देखो । स्व के प्रति जागो । स्वानुभूति के अलावा और कोई शरण नहीं । संसार में ऐसा कोई प्रभु नहीं है जो तुम्हारी अंगुली पकड़ कर तुम्हें भवसागर पार करा दे ।’ इन्हीं भावों को कबीर ने बड़े सहज ढंग से कहा :

जो तू चाहे मूझको, छाड़ सकल की आस ।

मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास ॥

पराश्रय बुद्धि से जीव अज्ञान के गहन अन्धकार में डूबा है । इस अज्ञान के घूँघट को ऊपर उठाने के लिए एक जगह महात्मा कबीर लिखते हैं :

तोहि पीय मिलेंगे, घूँघट का पट खोल री ।

घट घट में वहि स्वामी रमता, कटुक वचन मत बोल री ।
बाहर आप भूल गई सजनी, पियो विषय रस घोल री ।
घन योवन को गवं न कीजै, झूठी पचरंग चोल री ।

वस्तुतः अज्ञान पर्दे को हटाने से ही सम्यक् दृष्टि प्राप्त होती है और घट-घट में व्याप्य आत्मा के सहज दर्शन हो सकते हैं । भ० महावीर ने विषय वासनाओं को भीठा जहर कहा है जिसे पीकर जीव अपने अकालिक स्वभाव को भूला बैठा है और घन, योवन जैसे बीच के क्षणिक सयोगों में ही अपनत्व बुद्धि कर अपने ऊपर झूठे मुखौटे ओढ़े हुए है । महावीर स्वामी का संदेश इस विषय राग

के रंग में रंगे चीले से उम्मुक्त होने का संदेश था जिसे कबीर ने 'संतो ! जागत नौद न कीजै' कहा ।

बैसे कबीर के प्रत्येक पद, दोहे और साखियों में आध्यात्मिक पुट है । माया, मोह, भ्रम, अज्ञान, इच्छाओं आदि के बारे में प्रतीकात्मक शैली में पद और साखियाँ हैं । परन्तु यहाँ एक दृष्टि में उनकी अन्तस् को छूती हुई उन भावनाओं की झलक दिखाई गई है, जो लगती है कि वह प्रभू बीर की ही वाणी है । सच है—एक सच्चे सत का हृदय खले आकाश की भाँति होता है ।



‘अनेकान्त’ के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—बीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशक—बीर सेवा मन्दिर के निमित्त
प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक श्री भोमप्रकाश जैन
राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२१, दरियागंज, दिल्ली-२
सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन राष्ट्रिकता—भारतीय
पता—बीर सेवा मन्दिर २१, दरियागंज, नई दिल्ली-२
स्वामित्व—बीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
मैं, भोमप्रकाश जैन, एतद्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है ।
—भोमप्रकाश जैन, प्रकाशक

(पृ० ४८ का शेषांश)

का उद्देश्य पूर्ण होने में पुरुषार्थ करने पर और फल मिलने में कुछ अन्तराल होता है । किसान खेत बोता है और तीन-चार मास बाद फसल मिलती है । यदि किसी ने उसको खेत बोते नहीं देखा । तो फसल मिलने पर कहे उसका है कि खाली जमीन में से उसे गेहूँ का भण्डार मिल गया । वह भण्डार किसी भगवान का, किसी देवी-देवता का, किसी अन्य दैवी शक्ति का दान नहीं है, कृपा नहीं है; उसके पूर्व कर्म (पुरुषार्थ) का फल है जो उसे भाग्यरूप मिला है । खेत न बोता तो अर्चना-प्रार्थना, जप-तप, मंत्र-तन्त्र कोई भी उसे गेहूँ का भण्डार उपलब्ध कराने में समर्थ नहीं था ।

भगवान् कृष्ण के निष्काम-कर्म के दर्शन का भी यही अर्थ होना चाहिए कि सही उद्देश्य निर्धारित करके, सही पुरुषार्थ करो, फल तो नियम के अनुसार मिलेगा ही । उसकी चिन्ता तुम्हें नहीं करनी पड़ेगी और उसके अलावा चाहे जितनी चिन्ता करते रहना कुछ मिलेगा ही नहीं, कदापि नहीं । पुरुषार्थ करने तथा उद्देश्य की पूर्ति में

जो अन्तराल है, वही भाग्य का, नियति का भ्रम पैदा करता है । कभी-कभी तो वह अन्तराल इतना अधिक हो जाता है कि आदि-अन्त कल्पना में ही नहीं आ पाता । तब अकल काम नहीं करती कि यह जो हुआ सो क्यों हुआ और किसके किए हुए हुआ । तब वह मान कर बैठ जाता है कि प्रभु के किए हुआ, मेरे भाग्य में ऐसा ही था । परन्तु बिना पुरुषार्थ के कुछ मिलता नहीं, कुछ होता नहीं, जो कुछ भी मिल रहा है, हो रहा है, किसी न किसी पूर्व पुरुषार्थ से अवश्य जुड़ा है । आगे क्या चाहिए उसका उद्देश्य निर्धारित करो, उसको पाने के सहो पुरुषार्थ का अध्ययन करो और उसी में लगे रहो । फल तो नियम के अनुसार मिलेगा ही, इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु स्मरण रहे कि विपरीत पुरुषार्थ से भी सही फल कभी नहीं मिलेगा । यह उद्देश्य निर्धारण सम्मदर्शन, उसकी प्राप्ति के मार्ग का अध्ययन, सम्मज्ञान और उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ सम्यक् चरित्र है ।

बीर सेवा मन्दिर
२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

देश के बौद्धिक जीवन में जैनों का योगदान

□ डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर

जैन धर्मानुयायी प्रारम्भ से ही देश के सबसे अधिक सुसंस्कृत, शिक्षित एवं विचारक रहे हैं। अपनी दार्शनिक बुद्धि के माध्यम से उन्होंने सभी क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये और भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर एवं उनके पश्चात् होने वाले आचार्यों ने देश के बौद्धिक विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। मुनि, आश्रित, श्रवक एवं श्राविका इन चार भागों में समस्त जैन संघ को विभक्त करके भगवान् महावीर ने सभी को बौद्धिक विकास का सुझाव प्रदान किया। यही कारण है कि जैनाचार्यों, मनीषियों एवं विचारकों ने अपने विचारों से, साहित्यिक एवं दार्शनिक कृतियों से देश के जनमानस को सदैव जाग्रत रखा। इसे परम्पराओं से चिपटे रहने से बचाकर बुद्धिपूर्वक सोचने पर विवश किया और स्याद्वाद एवं अनेकान्त जैसे दार्शनिक सिद्धान्तों को व्यावहारिक जीवन में खुलकर उतारा। अपरिग्रहवाद के माध्यम से लोगों में संग्रह वृत्ति की भावना को उभारने से बचाया और स्वाध्याय की प्रेरणा देकर जन-जन को ज्ञानार्जन की दिशा में प्रवृत्त होने के मार्ग को प्रशस्त बनाया।

प्रमुख आचार्यों का योगदान

भगवान् महावीर के आचार में अहिंसा, विचारों में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और जीवन में अपरिग्रह जैसे सिद्धान्तों से देशवासियों को बौद्धिक विकास की ओर प्रवृत्त होने की विशेष प्रेरणा मिली। महावीर के पश्चात् होने वाले आचार्यों एवं साधुओं ने उक्त सभी सिद्धान्तों को दृढ़ता से अपने जीवन में उतारा और वे उन्हीं के अनुसार श्रावकों एवं सामान्य जनता को इस ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा देते रहे। सर्व प्रथम आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थाधिगम की रचना करके चिन्तन के क्षेत्र में एक

नयी क्रान्ति उपस्थित की। उन्होंने प्राकृत के भागम ग्रंथों में विकीर्ण जैन तत्त्वज्ञान को अपने तत्त्वार्थ-सूत्र में समेटकर रख दिया।^१ उमास्वामी प्रथम जैनाचार्य थे जिन्होंने जैन तत्त्वज्ञान को योग, वैशेषिक आदि दार्शनिक पद्धतियों के अनुरूप वैज्ञानिक ढंग से बुद्धिजीवियों के समक्ष उपस्थित किया। सूत्र रूप में लिखे इस ग्रन्थ में दर्शन, आचार एवं कर्मसिद्धान्त आदि का जी विवेचन हुआ है वह अवर्णनीय है। जैन साहित्य के क्षेत्र में यह इतना प्रभावशील सिद्ध हुआ कि दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में यह ग्रन्थ समान रूप से समादृत ही नहीं हुआ, किन्तु अनेक आचार्यों ने इस पर छोटी-बड़ी टीकाएँ लिखकर उसके प्रचार को सर्वोच्च प्राथमिकता दी।

दूसरी-तीसरी शताब्दी में होने वाले आचार्य समन्तभद्र का बहुचर्चित व्यक्तित्व था। दे उच्चकोटि के दार्शनिक थे। शास्त्रार्थ में अपने विरोधियों को परास्त करने में अत्यधिक पारंगत थे। उन्होंने अपने आपको आचार्य, कवि, वादिराज, पंडित, ज्योतिषी, वैद्य, यात्रिक एवं तांत्रिक आदि सभी की तो घोषणा की थी। शास्त्रार्थ करते-करते उन्होंने पाटलिपुत्र, मालवा, सिन्धु, ढाका, कांचीपुर एवं विदिशा में अपनी विद्वत्ता एवं तार्किकपने की दुन्दुभि बजायी।^२ उन्होंने आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन एवं स्वयम्भूस्तोत्र जैसे दार्शनिक ग्रन्थों तथा रत्नकरण्डश्रावकाचार जैसे आचार प्रधान ग्रन्थों की रचना करके जन साधारण में तार्किक बुद्धि के विकास में योग दिया।

चतुर्थ शताब्दी में होने वाले आचार्य सिद्धसेन का जैन दार्शनिकों में उल्लेखनीय स्थान है। वे बड़े ही तार्किक विद्वान् थे तथा उन्होंने सन्मतिसूत्र एवं सिद्धसेनट्ठात्रिशिका जैसे दार्शनिक ग्रन्थों की रचना करके देशके बौद्धिक चिन्तन के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।^३ इन दार्शनिकों के

१. जैन लक्षणा वली, प्रस्तावना, पृ. १६।

२. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ १७२।

३. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ. ५०१।

अतिरिक्त अकलंक, हरिभद्रसूरि, सिद्धसेन, अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, अनन्तकीर्ति, माणिक्यनन्द, प्रभाचन्द्रदेव सूरि, मल्लिखेण आदि दार्शनिकों ने देश के बौद्धिक धरातल को समुन्नत बनाने में उल्लेखनीय योगदान किया और अपने दार्शनिक विचारों से देश के वातावरण को चिन्तनशील बनाया। १३वीं शताब्दी में होने वाले हेमचन्द्राचार्य बहु-श्रुत विद्वान् थे जिन्होंने समूचे भारत में ज्ञान के प्रति जन-जन में अपूर्व श्रद्धा उत्पन्न की। उनकी लेखनी सशक्त थी। वाणी में अद्भुत आकर्षण था एवं वे चुम्बकीय व्यक्तित्व के धनी थे। ज्ञान के किसी भी भ्रग को उन्होंने अछूता नहीं छोड़ा। काव्य लिखे। पुराण, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, कोष आदि सभी पर तो उन्होंने लिखा और देश में हजारों-लाखों को बुद्धिजीवी बनाने में अपना योग दिया।^१

व्याकरणों का योगदान

वैयाकरणों ने दार्शनिकों के समान ही देश के बौद्धिक विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। मेधा शक्ति के स्वतंत्र विकास और चिन्तन की परमोच्च स्थिति का निर्माण करने में व्याकरण का पहला स्थान रहा है। पूज्यपाद प्रथम जैनाचार्य थे^२ जिन्होंने अष्टाध्यायी पर टीका लिखी और जैनेन्द्र-व्याकरण की रचना की। इस पर अमयनन्द (८वीं शताब्दी) एवं सोमदेव (११वीं शताब्दी) ने टीकाएं लिखकर वे उसके प्रचार में सहायक बने। नवमी शताब्दी में होने वाले शाकटायन ने शब्दानु-शासन की रचना की। इस कृति की टीका भी स्वयं ने ही लिखी जिसका नाम अमोघवृत्ति है। यह व्याकरण शाकटायन के नाम से ही प्रसिद्ध हो गया। ११वीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र ने शब्दानुशासन लिखकर इस क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। इसी तरह शिववर्म ने एक नये कातन्त्र व्याकरण को जन्म दिया। यह व्याकरण अत्यधिक सरल एवं संक्षिप्त है।^३ इसके प्रारम्भिक संघि के सूत्र जन-जन के जीवन में उतर गये थे और जैन विद्यालयों के अतिरिक्त ब्राह्मण पंडितों द्वारा भी अपनाये

गये और सर्वप्रथम इसी व्याकरण के सूत्रों का अपभ्रंश रूप करके पढ़ाया जाने लगा। 'ओ नामा सीधम्' (ओम् नमः सिद्धेभ्यः), पंचोवरणा (पंचवरणाः), वऊ चिबारा (दो स्वराँ) जैसे सूत्रों के साथ अध्ययन प्रारम्भ किया जाने लगा और छात्रों को याद कराया जाने लगा। एक और वैदिक विद्वान् जहाँ केवल संस्कृत से ही चिपके रहे, वहाँ जैनाचार्यों ने देश की सभी लौकिक भाषाओं का आदर किया और उनमें नयी-नयी कृतियों का निर्माण करके जन-जन में ज्ञान प्रसार का विशेष प्रयास किया।^४

जैनाचार्यों ने बौद्धिक क्षेत्र में और भी अनेक क्रान्ति-कारी प्रयोग किये। उन्होंने भाषा विशेष से चिपके रहने की नीति को छोड़कर उन सभी भाषाओं में साहित्य निर्माण किया जो जनभाषायें थी। इनमें अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी एवं मराठी भाषाओं के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

अपभ्रंश में साहित्य निर्माण

अपभ्रंश भाषा के महाकवि स्वयम्भू ने लौकिक एवं प्रादेशिक भाषाओं को समान आदर देकर देश के बौद्धिक विकास में जबरदस्त योग दिया। उन्होंने उन सभी तत्त्वों को शपना लिया जो तत्कालीन समाज में अत्यधिक लोक-प्रिय थे। इसलिए एक तो जन सामान्य में उनकी कृतियों को पढ़ने में अभिरुचि जाग्रत हुई; दूसरे, इन आचार्यों एवं विद्वानों को अपनी कृतियों के माध्यम से अपने क्रान्तिकारी विचारों को जनसाधारण तक पहुंचाने में सहायता मिली।^५ इस दृष्टि से पुष्पदन्त, धनपाल, बीर, नयनन्द, नरसेन, यशःकीर्ति एवं रङ्गू के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। यशःकीर्ति को छोड़कर शेष सभी आवक थे, लेकिन सभी बुद्धिजीवी थे। अपभ्रंश काव्यों एवं पुराणों के माध्यम से ज्ञान के प्रसार का जितना कार्य कवियों ने किया, वह साहित्यिक इतिहास का एक शानदार अध्याय है। इनकी सशक्त लेखनी के द्वारा जनप्रिय काव्यों के निर्माण के कारण कुछ समय तक तो पाठक प्राकृत एवं संस्कृत काव्यों को भुला बैठे और चारों ओर अपभ्रंश काव्यों की मांग

१. राजस्थान के जैन सन्त, व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रस्तावना

२. जैन लक्षणावली, प्रस्तावना, पृ. १८।

३. जैन ग्रंथ भण्डार्स इन राजस्थान, पृ. १६८।

४. महावीर दौलगत्य नामावली—व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रस्तावना, पृ. २।

५. प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य, पृ. १०२।

होने लगी। इस भाषा में प्रमुखतः काव्य, चरित्र, पुराण एवं कथाएँ ही लिखी गयीं, इसने स्पष्ट है कि उनकी रचना जनरुचि को देखकर ही होती थी। महाकवि स्वयम्भू एवं पुष्पदन्त दक्षिण भारत के कवि थे, लेकिन उनके काव्यों का सबसे अधिक प्रचार उत्तर भारत में हुआ। अपभ्रंश के सभी कवियों ने काव्यों की रचना स्वाध्याय प्रेमी श्रावकों के आग्रह से की, जिनकी प्रशस्तियां काव्यों के अन्त में लिखी हुई मिलती हैं जो उन कवियों की लोक-प्रियता की ओर स्पष्ट संकेत है।^१

अपभ्रंश ग्रन्थों की प्रशस्तियों के आधार पर तत्कालीन समाज की साहित्यिक अभिरुचि का पता लगता है। उस समय श्रावकगण विद्वानों से ग्रन्थ निर्माण की प्रार्थना करते थे। अपभ्रंश एवं हिन्दी साहित्य के निर्माण में ऐसे ही श्रावकों की विशेष प्रेरणा रही थी। कविवर बुलाकी-दास को तो उनकी माता जैनी ने पाण्डवपुराण एवं प्रसी-त्तरोपासकाचार के निर्माण में प्रेरणा दी थी^२ जिसका कवि ने पाण्डवपुराण में स्पष्ट उल्लेख किया है। महाकवि रघू का सारा साहित्य ऐसी ही प्रेरणा देने वाले व्यक्तियों के परिचय से भरा पड़ा है।

हिन्दी को प्रोत्साहन

अपभ्रंश के पश्चात् जैन कवियों ने प्रादेशिक भाषाओं में ऐसे काव्य-साहित्य का निर्माण किया जिसे जन साधारण भी बड़े चाव से पढ़ सके। उन्होंने चरित्र काव्यों की रचना की। रास काव्य लिखे। वेलि फागु के नाम से उनमें कुछ नवीनता दिखलाई। बारहमासा लिखकर घटना वर्णन के साथ-साथ प्रकृति वर्णन किया। सतसई, शतक, पंचासिका, चौबीसी नाम देकर पाठकों में संख्या-वाचक कृतियों के प्रति अभिरुचि पैदा की। विभिन्न प्रकार के स्तवन लिखे और उनमें भक्ति का अलग-अलग पुट भी दिया। इन काव्यों में तत्कालीन समाज की आर्थिक दशा, व्यापार, व्यापार के तरीके, रहन-सहन, खान-पान आदि का अच्छा परिचय मिल सकता है। साहित्य निर्माण के प्रतिरिक्त तात्विक एवं दार्शनिक ग्रंथ में विद्वानों एवं जन-

साधारण द्वारा रस लेना बौद्धिक जायृति का एक अमूल्य लक्षण है। देश में छोटे-छोटे स्वाध्याय-मंडल खोले गये। आध्यात्मिक शैलियां चलायी गयीं जिनमें विभिन्न श्रावक श्राविकायें भाग लेकर चर्चाएँ करते थे। यही नहीं, गुण-स्थान, मार्गणा, अष्टकर्म एवं उनकी प्रकृतियों पर विस्तृत चर्चा ग्रंथ लिखे गये। आगरा में इसी प्रकार की एक आध्यात्मिक शैली थी जिसका महाकवि बनारसीदास ने उल्लेख किया है।^३

आध्यात्मिक चर्चा

जैनाचार्यों ने आध्यात्मिक साहित्य का निर्माण करके जनजीवन को जाग्रत बनाने का प्रयास किया। “पुनरपि जननं पुनरपि मरणं” के भुलावे से बचाने के लिए उन्होंने आध्यात्मिक ग्रंथों की रचना की। आत्मा की सच्ची अनुभूति के लिए उन क्रियाओं पर जोर दिया जिनमें भेद विज्ञान की चर्चा की गई है। ईश्वर के प्रभाव से बचने, उसमें आस्था रखकर स्वयं निष्क्रिय बनने से बचाने के लिए स्वयं परमात्मा बनाने की कल्पना अनूठी है तथा इससे उसमें स्वयं ही एक कर्तृत्व शक्ति पैदा होती है। आध्यात्मिक साहित्य के रचयिताओं में आचार्य कुब्जकुन्द का नाम सर्वोपरि है जिन्होंने प्राकृत भाषा में प्रवचनसार, समयसार जैसी कृतियां लिखकर बुद्धिजीवियों का महान् उपकार किया। हमारे आगम साहित्य में तो अध्यात्म का अनूठा वर्णन मिलता ही है। लेकिन उनके पश्चात् लिखे जाने वाले प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत ग्रन्थों में आत्मा, परमात्मा, जन्म-मरण आदि की जो चर्चाएँ मिलती हैं उन सबसे बौद्धिक जीवन पर गहरी छाप पड़ी तथा उसने वैचारिक क्रान्ति करने में अपना विशेष योग दिया।^४

शास्त्रार्थ परम्परा

शास्त्रार्थों की परम्परा ने भी बौद्धिक विकास में विशेष योग दिया। शंकराचार्य ने शास्त्रार्थों द्वारा ही बौद्ध धर्म को देश से बाहर जाने को मजबूर किया था। लेकिन जैनाचार्य शंकराचार्य की भाँधी में भी अप्रभावित रहे और (शेष पृष्ठ ५८ पर)

१. अपभ्रंश साहित्य, प्रो० हरिवंश कोछड़, पृ० ५१।

२. देखिये, राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रंथ सूची, भाग ३, पृ० ६४।

३. अर्धकथानक—नाथूराम प्रेमी, पृ० ३५।

४. जैन लक्षणावली, असाखना, पृ० ५।

५. अपभ्रंश साहित्य, पृ० २६५।

स्याद्वाद या अनेकान्त : एक चिन्तन

□ पंडित वर्धमान पा० शास्त्री, सिद्धान्ताचार्य

परमाणुस्य बीजं निषिद्धगर्भं सिद्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथन नमाम्यनेकांतम् ॥

—अमृतचन्द्र

अनेक अर्थों ने हाथी कभी नहीं देखा था। हाथी देखने चले गये। किसी अर्थ ने कहा कि हाथी खम्भे के समान है। किसी अर्थ ने कहा कि हाथी पंखे के समान है। किसी ने कहा कि हाथी केले के खूंट के समान है। किसी ने कहा कि ढोल के समान है। किसी ने डंडे के समान बताया। साथ ही इन अर्थों ने अपनी-अपनी बात का समर्थन करते हुए दूसरे के विरोधी कथन को अस्वीकार करते हुए आपस में झगड़ा भी किया। झगड़ा बढ़ता ही जा रहा था। कोई आँखों वाला बुद्धिमान् जा रहा था। उसने देखा कि ये आपस में लड़ रहे हैं, वास्तव में झगड़ा क्या है? सो उसकी समझ में आया। उसने सोचा कि इन्होंने हाथी के एक-एक अंग को हाथ लगाया है; अपनी-अपनी अपेक्षा से हाथी का वर्णन करते हैं। यह हाथी का सम्पूर्ण वर्णन नहीं है। हाथी तो सभी अवयवों का पिण्डरूप है। अस्तु इनका आपस का झगड़ा मिटाना चाहिए, किमी नय की अपेक्षा एक-एक का कथन भी सत्य है। अतः उसने कहा कि तुम्हारा कहना भी सत्य है, तुम्हारा कहना भी सत्य है। सभी अर्थों को आनन्द हुआ। झगड़ा मिट गया, 'भी' से झगड़ा मिटा, 'ही' से विरोध नहीं मिटता। इस 'ही' और 'भी' का अन्तर अनेकान्त है। इसे ही स्याद्वाद कहते हैं।

मैं कहता हूँ सो सत्य ही है, ऐसा कहने वाला सत्य से बहुत दूर है। आप जो कहते हैं वह भी सत्य हो सकता है, यह कहने से विरोध हो ही नहीं सकता है।

इसलिए यह अनेकान्त या स्याद्वाद नयों के द्वारा उत्पन्न विरोध को मिटा है। वस्तुस्थिति के साध्य में

यह स्याद्वाद किसी प्रकार का कोई विघ्न उपस्थित नहीं करता।

अनेकांत—अनेके अंता धर्म जिसमें हों उसे अनेकांत कहते हैं। स्याद्वाद का वही अर्थ है। किसी ने पूछा कि क्या पदार्थ नित्य है? अनेकांतवादी यह नहीं कहेगा कि पदार्थ नित्य ही है। वह कहेगा कि स्यात्, होगा, अर्थात् नित्य होगा। इसमें यह भी अर्थ गभित है कि अनित्य भी होगा।

फिर तो लोग कहेंगे कि यह संशय है, किसी विषय का निर्णीत रूप से कथन नहीं करता है। तो यह संशय नहीं है।

विरुद्धानेककोटिस्पर्शज्ञानं संशयः ।

विरुद्ध अनेक कोटि को स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय है। यह साँप होगा? या रस्सी होगी? क्या और कुछ है? इस प्रकार बिचार करने वाला संशय है। संशय में किसी भी विषय का निर्णय नहीं हो पाता है, परन्तु इस स्यात् अथवा अपेक्षावाद के ज्ञान में निश्चितता है, अमुक अपेक्षा से पदार्थ नित्य है, अमुक अपेक्षा से पदार्थ अनित्य है, अमुक अपेक्षा से उसमें वस्तुत्व है, अमुक अपेक्षा से उसमें प्रमेयत्व है, इत्यादि अनन्त धर्म होने पर भी अपेक्षावाद से वह निश्चित है। सो यह संशय, विपरीत व अनध्यवसाय आदिक ज्ञानाभास नहीं हो सकता है। अतः स्याद्वाद सम्यग्ज्ञान है।

दूसरी बात, इसका कथन वस्तुस्वरूप के अनुसार है। कोई भी कृत्रिमता या बनावटी बात यहाँ नहीं है, क्योंकि पदार्थ उसी प्रकार मौजूद है। उसका कथन उसी प्रकार किया जा रहा है। इसमें कृत्रिमता क्या है? पदार्थों में अनन्त धर्म विद्यमान, है उसे अपेक्षावाद से ही हम समझ सकते हैं। अपेक्षावाद को छोड़ दिया जाय तो उसका कथन हम नहीं कर सकते हैं। अतः अपेक्षावाद की अत्यन्त

आवश्यकता है। अपेक्षावाद के बिना एक पता भी हिल नहीं सकता है, जीम तो कैसे हिले ?

पदार्थ जिस प्रकार अस्तित्व में हो, उसका उसी प्रकार कथन करना चाहिए। उस प्रकार कथन न करें तो उसका कथन ही अर्थार्थ होगा, अर्थात् वह ज्ञान सत्य ज्ञान नहीं है।

अनेकान्त या स्याद्वाद हमें अपेक्षावाद को सिखाता है। यह भी कहता है कि पदार्थ जिस प्रकार है, उसे उसी प्रकार कथन करने का अभ्यास करो।

जहां अनेकान्त है वहां पर कोई विवाद उत्पन्न नहीं होता है। अनेक समस्याएँ इस अनेकान्त के कारण अपने आप सुलभ जाती हैं। अतः प्रत्येक पदार्थ को समझने के लिए इस अपेक्षावाद का उपयोग आवश्यक है, इसमें परस्पर कोई विरोध भी नहीं है।

प्राकाश-अन्धकार, शत्रु-मित्र, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, बैठना-उठना, सोना-जागना, गेहूं-चावल, घी तेल, नमक-मिर्च आदि सर्व व्यवहार अपेक्षावाद से युक्त है, अपेक्षावाद को छोड़कर हम इन शब्द प्रयोगों को नहीं कर सकते हैं।

एक ही व्यक्ति में पितृत्व, पुत्रत्व, भ्रातृत्व, कनिष्ठ भ्रातृत्व, ज्येष्ठ भ्रातृत्व, मामापना, भानजापना, आदि सम्बन्ध विद्यमान हैं। इन सबको अपेक्षावाद से जानना चाहिए। अपेक्षावाद के बिना हम पदार्थों को समझने में असमर्थ रहेंगे, अज्ञानी बने रहेंगे।

पदार्थ को जैसा है वैसा समझना ही सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञान के बिना वस्तु के निश्चित स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता है। वस्तु के निश्चित स्वरूप के बिना अपना भी ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः वह निरपेक्षावादी सर्व ज्ञानों से वंचित रहता है। स्याद्वाद समन्वयवाद है, पदार्थ को सर्वथा स्वीकार नहीं करना है, उसमें कथंचित् अर्थ अभिप्रेत है। कथंचित् अर्थ जहां अभिप्रेत हो वहां पर कोई विवाद उत्पन्न नहीं हो सकता है।

जहां पक्षपात है वहीं विवाद उत्पन्न होता है, पक्षपात रहित स्वाभाविक कथन में विवाद ही उत्पन्न नहीं हो सकता है। इसीलिए कहा गया है कि—

स्याद्वादो विद्यते यत्र, पक्षपातो न विद्यते।

जहां स्याद्वाद है वहां पक्षपात नहीं। आचार्य हेमचन्द्र ने इससे भी आगे बढ़कर कहा कि—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादियु।

युक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

मुझे भगवान् महावीर में भी पक्षपात नहीं है, और कपिलवादिकों के प्रति द्वेष भी नहीं है, जिनका कथन युक्तियुक्त है उसे स्वीकार मैं करता हूं।

स्याद्वाद की उत्पत्ति क्यों ?

नय दो प्रकार के है। नय दो प्रकार के कहने की अपेक्षा, अपेक्षावाद दो प्रकार का है यह कहने से काम चन सकता है। अपेक्षावाद दो प्रकार का है यह कहने की अपेक्षा पदार्थ उसी प्रकार से है यह कह दिया जाय तो अधिक समझस दिख सकेगा।

नय विवक्षा दो प्रकार से है—द्रव्याधिक और पर्यायाधिक।

द्रव्य की अपेक्षा रखने वाला, द्रव्य ही जिसका प्रयोजन हो, द्रव्य की दृष्टि को रखकर कथन करने वाला नय द्रव्याधिक है। पर्याय की दृष्टि को रखकर पदार्थ का विचार करने वाला, पर्याय की अपेक्षा रखकर विचार करने वाला, पर्याय ही जिसका प्रयोजन हो वह पर्यायाधिक नय है। नयों का समुदाय ही प्रमाण है। अतः यह नय भी प्रमाण का एकदेश होने से प्रमाण-स्वरूप है।

इसे महर्षि पूज्यपाद ने 'क्षीराण्वजल घटगृहीतमिव', क्षीरसमुद्र के पास से एक घड़े में जैसा लेबें तो वह क्षीर-समुद्र है क्या—नहीं, क्षीरसमुद्र का जल है क्या ? है, इस प्रकार प्रमाण एकदेश प्रमाणात्मक उत्तर मिलेगा, इसी प्रकार नय में प्रमाण का एकदेशत्व है।

फिर द्रव्य-पर्याय दृष्टि क्या है ?

आचार्य उमास्वामी ने द्रव्य का लक्षण करते हुए कहा कि 'सत् द्रव्यलक्षणम्', सत् द्रव्य का लक्षण है। सत् क्या है। इसका उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा है कि 'उत्पादव्ययप्रौढ्ययुक्तं सत्'; उत्पत्ति, विनाश और ध्रुवता

सत् कहलाता है, अर्थात् ये तीनों बातें उस द्रव्य में है। पूर्व पर्याय का विनाश, वर्तमान पर्याय की उत्पत्ति, यह जिस प्रकार पर्याय में होती है उसी प्रकार ध्रुवता द्रव्यत्व में रहती है। उदाहरण के लिए, एक मनुष्य जीव को लीजिए। वह पहले तिर्यञ्च योनि में था। अब पर्याय की दृष्टि से मनुष्य योनि में उसकी उत्पत्ति हुई, तिर्यञ्च योनि का विनाश हुआ, अर्थात् तिर्यञ्च भी उसका पर्याय था, मनुष्य गति भी एक पर्याय है। अतः पर्याय की दृष्टि से उसकी उत्पत्ति व विनाश हुआ। परन्तु द्रव्य दृष्टि से वह जीव था, अभी भी जीव है, आगे भी जीव रहेगा। जीवत्व का विनाश कभी नहीं होगा, उसमें ध्रुवता है। इस दृष्टि से उसका नाश कभी नहीं होगा। अतः नित्य है, पर्याय अनित्य है।

इन दोनों नयों का विचार करने पर स्याद्वाद की उत्पत्ति होती है। इन दोनों नयों की अपेक्षा पदार्थ को सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य नहीं कह सकते हैं। स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य कह सकते हैं।

मानवीय प्राणी की शक्ति, बुद्धि आदि सीमित होने के कारण अनन्त धर्मों से युक्त पदार्थ का अनन्त धर्मों से उल्लेख नहीं किया जा सकता है, इसलिए सात विवक्षाओं में उन सभी धर्मों का अन्तर्भाव कर कह दिया जाता है। उसे सप्तभंगी कहते हैं, इस प्रकार का अर्थ भग है, सात प्रकारों से युक्त है। अतः वह स्याद्वाद सप्तभंगी कहलाता है।

सप्तभंगी क्या है ?

पदार्थ का स्वचतुष्टय-परचतुष्टय की दृष्टि से विचार किया जाता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव वे चतुष्टय हैं, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव स्वचतुष्टय हैं, दूसरों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव परचतुष्टय हैं।

स्यादस्ति—अपने चतुष्टय (स्वचतुष्टय) की अपेक्षा पदार्थ मौजूद है।

स्यान्नास्ति—परचतुष्टय की अपेक्षा से पदार्थ नहीं है, अर्थात् पदार्थ में अस्तित्व नास्तित्व दोनों धर्म आये।

स्यादस्ति नास्ति—कथञ्चित् वह पदार्थ उभयरूप है, क्योंकि क्रम से दोनों की अपेक्षा है।

स्यादवक्तव्य—कथञ्चित् वह अवक्तव्य है क्योंकि दोनों की एक साथ विवक्षा होने से कथन नहीं किया जा सकता है। अतः अवक्तव्य है।

अवक्तव्य होने पर उसका अस्तित्व कैसे माना जावे ? तब पाचवां भंग उदय में आया।

स्यादस्ति अवक्तव्य—पदार्थ मौजूद है, परन्तु अवक्तव्य है। अपने स्वचतुष्टय की अपेक्षा से वह अस्तित्व में है तथापि हम उसका कथन नहीं कर सकते हैं।

स्यान्नास्ति अवक्तव्य परचतुष्टय का उसमें अभाव है। अतः कथञ्चित् नास्ति अवक्तव्य है। यहाँ परचतुष्टय की अपेक्षा नहीं होने पर भी अवक्तव्य है।

स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य—दोनों विवक्षा से अस्तित्व नास्तित्व धर्म के एक काल में होने पर भी अवक्तव्य है।

इन सब भंगों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की अपेक्षा कर लेनी चाहिए। इसे स्वामी समन्तभद्र ने एक सुन्दर उदाहरण देकर समझाया है—

घटमीलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादश्चितिष्वयम्।

शोकप्रमोदमाध्यस्थां जनो याति सहेतुकम्॥

—आप्तमीमासा, ५६.

एक मनुष्य को सोने के घड़े की जरूरत थी, दूसरे को सोने के मुकुट की जरूरत थी, तीसरे को सोने की जरूरत थी। तीनों सराफ की दुकान में गये। जिसको घड़े की जरूरत थी वह निराश हुआ, क्योंकि सराफ ने कहा कि मेरे पास सोने का घड़ा था, परन्तु उसके लिए कोई ग्राहक न होने से उसे तुड़वाया एवं सोने का मुकुट बनवाया; मुकुट को लेने वाले को हर्ष हुआ, क्योंकि वह मुकुट चाहता था, परन्तु जो केवल सोना चाहता था उसे न हर्ष न विषाद, मध्यस्थ भाव है, क्योंकि घड़े में भी सोना है, मुकुट में भी सोना है। इसलिए उसे तोड़ने का न विषाद है और न बनाने का हर्ष।

यहाँ पर आचार्य ने द्रव्य और भाव दोनों में उत्पाद,

व्यय, ध्रुव्य का निरूपण किया है। बड़े का विनाश व मुकुट की उत्पत्ति, ये सोने में दो पर्याय दृष्टिगोचर होते हैं। उसके साथ ही एक में शोक की उत्पत्ति और हर्ष का नाश दीख रहा है, तो दूसरे में विषाद का नाश व हर्ष की उत्पत्ति दीख रही है, तथा तीसरे उदाहरण में जिस प्रकार सोने में सर्वत्र ध्रुवता है उसी प्रकार परिणाम में भी माध्यस्थ्य या ध्रुवता है। न हर्ष है और न विषाद है। परिणाम ध्रुवता है।

इउ प्रकार सर्व तत्त्वों को प्रकाशित करने वाले स्याद्वाद का आचार्य ने केवलज्ञान के रूप में वर्णन किया है—
स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशके।

भेदः साक्षादसंक्षयाच्च ह्यवस्त्वन्यतम भवेत् ॥

—आप्तमीमांसा १०५

सर्व तत्त्व की प्रकाशित करने वाला स्याद्वाद भी केवलज्ञान के समान ही है। भेद सिर्फ इतना ही है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष रूप से जानता है। स्याद्वाद परोक्ष रूप से जानता है। दोनों में ज्ञान की दृष्टि से कोई भेद नहीं है। एक केवल है, दूसरा श्रुतकेवल है। एक प्रत्यक्ष है, दूसरा परोक्ष है। इस बात का समर्थन नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने भी किया है।

सुदकेवलं च णाण दोष्णवि सरिसाणि होति बोहादो।

सुदणानं तु परोक्ख पच्चक्ख केवल णाणम् ॥

—गोमटसार जीवकांड

अर्थात् श्रुतज्ञान में और केवलज्ञान में ज्ञान की अपेक्षा

(पृष्ठ ५४ का शेषांश)

अकलंक, विद्यानन्दि, हरिभद्र सूरि, समन्तभद्र जैसे आचार्यों ने अपने शास्त्रार्थों द्वारा देश में एक नयी लहर पैदा की। आचार्य समन्तभद्र के ये दो पद्य तत्कालीन बौद्धिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डालते हैं :

‘पूर्व पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चात्पालवसिन्धुश्वकविषये काचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सकट,
बादार्थी विचराम्यहं नरपते शाहूँलविक्रीडितम्।
‘आचार्योऽहं कविरहमहं मांत्रिकस्तान्त्रिकोऽहम्।
देवोऽहं भिषगहमहं मांत्रिकस्तान्त्रिकोऽहम्।
राजनस्या जलविबलयामेखलायामिलायामाज्ञा-
सिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वनोऽहम् ॥

से कोई भेद नहीं है। श्रुतज्ञान परोक्ष है, केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, इतना ही अन्तर है।

इस प्रकार समझकर स्याद्वादरूपी श्रुतकेवलज्ञान से जो पदार्थों का ज्ञान करता है वह न भूलता है, वस्तु स्वरूप के समझने में न धोका खाता है, और न वहां पर विवाद उत्पन्न होता है। परस्पर वैषम्य को वह अनेकांत दूर कर हर एक में समन्वय दृष्टि को निर्माण करता है। यही कारण है कि स्याद्वाद लोक में शांति को उत्पन्न करने के लिए कारण है।

नयचक्र पारंगत आचार्य अमृतचन्द्र स्पष्टतः निर्देश करते हैं कि—

इति विविधभंगगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्।

गुरवो भवन्ति शरण प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः ॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ५८.

इस प्रकार विभिन्न नय के प्रयोग में अनेक भंग हैं, और कठिन है। मिथ्यादृष्टि जीव इस भवकानन में चलते हुए कभी-कभी मार्ग भूल जाता है, इधर-उधर भटकता रहता है। भटकना भी चाहिए ससार में भटकना या परिभ्रमण करना ही ससार का वास्तविक लक्षण है। जो इस नयचक्र का ठीक-ठीक प्रकार से प्रयोग नहीं कर सके और नयचक्र में चक्कर खाकर भटकते रहे, वे इसे समझने के लिए, इस नयचक्र में संचार करने में प्रवीण, सदा निश्चक विचरण करने वाले सद्गुरुओं की शरण जावें। अपने आप उसका परिज्ञान ही जायगा। □□□

जन सामान्य के बौद्धिक विकास के लिए शिक्षण-संस्थान स्थापित किये गये। देश के प्राचीनतम नगरों में ऐसे ही विद्यालय थे, जिनमें प्राइमरी शिक्षा के पश्चात् विद्यार्थियों को दार्शनिक, साहित्यिक एवं धार्मिक शिक्षा दी जाती थी। नालन्दा के समान अन्य शिक्षण संस्थाएँ भी थी जिनमें गुरुकुलों के रूप में विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाती थी। १०वीं शताब्दी में बारा मे^३ और १५वीं शताब्दी में नैणवा^४ (राज०) में ऐसी ही शिक्षण संस्थाएँ थी। इनके अतिरिक्त, राजस्थान में ही आमेर, अजमेर, जैसलमेर, नागौर, सागवाडा में विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए शिक्षण संस्थान थे।^५

१. जैन साहित्य और इतिहास पर विस्तृत प्रकाश, पृ. १७।

२. वही, पृ. २४२।

३. जैन ग्रन्थ भण्डार इन राजस्थान, पृ. २२७।

४. वही, पृ. २३१।

५. वही, पृ. २०२।

सन्तकवि रङ्गू और उनका साहित्य

□ डा० राजाराम जैन, एम. ए., पी-एच. डी.

भारतीय वाङ्मय के उन्नयन में जिन बरेण्य साधकों ने धनवरत श्रम एवं अधिक साधना करके अपना उल्लेख्य योगदान किया है, उनमें महाकवि रङ्गू अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। उन्होंने अपने जीवनकाल के सीमित समय में २३ स भी अधिक विशाल ग्रन्थों, प्राकृत ग्रन्थों की रचना करके साहित्य-जगत् को आश्चर्यचकित किया है। रचनाओं का विषय वैविध्य, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी आदि भाषाओं का असाधारण पाण्डित्य, इतिहास एवं संस्कृति का तलस्पर्शी ज्ञान, समाज एवं राष्ट्र को साहित्य, संगीत एवं कला के प्रति जागरूक कराने की क्षमता जैसी उक्त कवि में दिखाई पड़ती है, वैसी अन्यत्र कठिनाई से ही प्राप्त हो सकेंगी।

कवि की कवित्व-शक्ति उसके वर्ण्य-विषय में तो स्पष्ट दिखती ही है, किन्तु समाज एवं राजन्यवर्ग के लोगों को भी उसने साहित्य एवं कलाप्रेमी बना दिया था। यह महाकवि रङ्गू की अद्वितीय देन है। ऐसी लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि लक्ष्मी एवं सरस्वती का सदा से बँरभाव चला आया है। कई जगह यह उक्ति सत्य भी सिद्ध हुई है, लेकिन कवि ने उनका जैसा समन्वय किया-कराया, वही उसकी विशिष्ट एवं अद्भुत मौलिकता है; उदाहरणार्थ कवि की प्रशस्तियों में से एक अत्यन्त मार्मिक प्रसंग उपस्थित किया जाता है, जिससे कवि प्रतिभा का चमत्कार स्पष्ट देखने को मिल जाता है।

महाकवि रङ्गू की साधना-भूमि गाँवाचल (बालियर) में तत्कालीन तोमरवंशी राजा डूगरसिंह के मन्त्री सबबी कमलसिंह निवास करते थे, जो स्थितिपालक एवं उदार-मना थे। राज्यपदाधिकारी होने से वे राज्यकार्यों में बड़े व्यस्त रहते थे। एक दिन वे उससे घबराकर रङ्गू से भेंट करते हैं तथा निवेदन करते हैं—

सयणासण तवेर तुरग,

धय-छत-चमर-भामिणि-रहग।

कंचण-धण-कण-घर-दविण-कोस,

जाणइ जपाइ जणिय तोस।

तह पुण णयरायर-देस-गाम,

बंधव णंदण णयणाहिराम।

सारयर घण पुण बच्छ भाउ,
ज ज दीसइ णाणा सहाउ।
तं त जि एत्थु पावियइ सव्वु,
लब्भइ ण कव्व-मणिकु भव्वु।
एत्थु जि वट्ट बह णि वसहिउ किट्टु,
णउ सुकउ को वि दीसइ मणिट्टु।
भो णिसुणि वियक्खण कहमि तुज्झु,
"क्खमि ण किपि णियचित्तुज्झु।

घत्ता—

तह पुणुकवरयण-रयणायर बालमित्तु अमहं णेहाउरु।
तुह महु सच्चउ पुण सहायउ महु मणिच्छ पूरण अणुरायउ॥

—सम्मत० १।७।१-७ तथा १।१४।८-९

अर्थात् "हे कविवर, क्षयनासन, हाथी, घोड़े, ध्वजा, छत्र, चमर, सुन्दर रानियाँ, रथ, सेना, सोना, धन-धान्य, भवन, सम्पत्ति, कोष, नगर, देश, ग्राम, बन्धु-बान्धव, सुन्दर सन्तान, पुत्र, भाई आदि सभी मुझे उपलब्ध हैं। मीमांस से किसी भी प्रकार की भौतिक सामग्रियों की मुझे कमी नहीं है। किन्तु इतना सब होने पर भी मुझे एक वस्तु का अभाव सदैव खटकता रहता है, और वह यह कि मेरे पास काव्यरूपी एक भी सुन्दर मणि नहीं है। इसका बिना मेरा सारा ऐश्वर्य फीका-फीका लगता है। हे काव्य-रूपी रत्नों के रत्नाकर, तुम तो मेरे स्नेही बालमित्र हो, तुम्हीं हमारे सच्चे पुण्य-सहायक हो, मेरे मन की इच्छा परिपूर्ण करने वाले हो। इस नगर में बहुत से विद्वज्जन निवास करते हैं, किन्तु मुझे आप जैसा कोई भी ग्रन्थ सुकवि नहीं दिखता। अतः हे कवि श्रेष्ठ, मैं अपने हृदय की ग्रन्थि खोलकर सच-सच अपने मन की बात आप से कहता हूँ कि आप एक काव्य की रचना करके मुझ पर अपनी महती कृपा कीजिए।" कमलसिंह के उक्त निवेदन पर कविने 'सम्मतगुणिहाणकव्व' नामक एक अध्यात्म एवं दर्शन के ग्रन्थ की रचना की।

उक्त महाकवि का काल अन्तर्वाह्य साक्ष्यों के आधार पर वि० स० १४४०-१५३० सिद्ध होता है। पिछले १५ वर्षों के निरन्तर प्रयासों से उक्त कवि के २१ ग्रन्थ इन पत्तियों के लेखक को भारत के विविध शास्त्रभण्डारों से

उपलब्ध अथवा ज्ञात हो सके हैं, जिनकी वर्गीकृत सूची इस प्रकार है—

चरित साहित्य

(१) महेसर चरिउ (मेषेश्वरचरित), (२) बलहृद-चरिउ (बलभद्रचरित), (३) जिमधरचरिउ (जीमन्धर-चरित), (४) सिरि सिरिवालचरिउ (श्री श्रीपालचरित), (५) जसहरचरिउ (यशोधरचरित), (६) सम्भइजिण-चरिउ (सम्भतिजिनचरित), (७) हरिवंशचरिउ (हरि-वंशचरित), (८) सुवकोसलचरिउ (सुकोशलचरित), (९) धणकुमारचरिउ (धन्यकुमारचरित), (१०) सति-णाहचरिउ (शान्तिनाथचरित), (११) पासणाहचरिउ (पाश्वनाथचरित)।

आचार, दर्शन एवं सिद्धान्त साहित्य

(१२) पुण्णासवकहा (पुण्याश्रवकथा), (१३) साव-यचरिउ (श्रावकचरित), (१४) सम्मतगुणनिहाणकव्व (सम्यक्त्वगुणनिधान काव्य), (१५) अप्पसवोहकव्व (आत्मसम्बोध काव्य), (१६) अणयमिउकहा (अनस्त-मित कथा), (१७) सिद्धंतत्थसार (सिद्धान्तार्थसार), एवं (१८) वित्तसार (वृत्तसार)।

अध्यात्म साहित्य

(१९) बारा भावना, (२०) सोलहकारण जयमाला, (२१) दशलक्षणधम्म जयमाला।

उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त कवि द्वारा विरचित महा-पुराण, सुदसणचरिउ (सुदर्शनचरित), पञ्जुणचरिउ (प्रद्युम्नचरित), भविसयत्तचरिउ (भविष्यदत्तचरित), करकडचरिउ (करकडुचरित) प्रभृति ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं, किन्तु उनका अन्वेषण कार्य जारी है।

रङ्ग साहित्य की विशेषताएँ

रङ्ग-साहित्य की सर्वप्रथम विशेषता है उसकी विस्तृत आद्यन्त प्रशस्तियाँ। कवि ने अपने प्रायः सभी ग्रन्थों के आदि एवं अन्त में प्रशस्तियों का अंकन किया है, जिनके माध्यम से कवि ने समकालीन साहित्यिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थि-तियों पर सुन्दर प्रकाश डाला है। इन प्रशस्तियों से विदित होता है कि तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह एवं कीर्त्ति-सिंह तथा चौहानवंशी राजा रूद्रप्रताप कवि के परमभक्त तथा साहित्य एवं कथा रसिक थे। राजा डूंगरसिंह तथा

उनके पुत्र राजा कीर्त्तिसिंह ने राज्य की कोटि-कोटि मुद्राएं व्यय करके तैंतीस वर्षों तक लगातार अगणित जैन मूर्तियों का निर्माण गोपाल दुर्ग में कराया था। उनमें से कई मूर्तियाँ विशाल हैं। एक मूर्ति तो ५७ फुट ऊँची है। सख्या, विशालता एवं कला-वैभव में वे अनुपम हैं।

इसी प्रकार चन्द्रवाडपट्टन (आधुनिक चन्दुवार, जिला फिरोजाबाद, उ० प्र०) निवासी श्री कुन्थुदास नगरसेठ ने भी कवि की प्रेरणा से हीरे, मोती, माणिक्य की अनेक मूर्तियों का निर्माण कराकर पचकल्याणक प्रतिष्ठाएं की थीं। उपलब्ध भारतीय इतिहास में मूर्तिकला सम्बन्धी उक्त घटनाओं की चर्चा नहीं की गई। ऐसा क्यों हुआ? यह कारण अज्ञात है। किन्तु अब रङ्ग-साहित्य-प्रशस्तियों के आधार पर मध्यकालीन भारतीय इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता है।

प्रशस्तियों की दूसरी विशेषता यह है कि उनमें काष्ठासघ, माथुरगच्छकी पुष्करगण शाखा के अनेक भट्टारकों की क्रमवद्ध परम्परा प्राप्त है। कवि ने देवसेन, विमलसेन, धर्मसेन, भावसेन, सहस्रकीर्त्ति, गुणकीर्त्ति, यश-कीर्त्ति, श्रीपालब्रह्म, खेमचन्द्र, मलयकीर्त्ति, गुणभद्र, विजय-सेन, क्षेमकीर्त्ति, हेमकीर्त्ति, कमलकीर्त्ति, शुभचन्द्र एवं कुमारसेन के उल्लेख किये हैं। यद्यपि ये उल्लेख सक्षिप्त एवं प्रसंगप्राप्त हैं, किन्तु उनके क्रम एवं समय निर्धारण तथा उनके साधनापूर्ण कार्यों की समझने के लिए वे महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ-सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

रङ्ग ने पूर्ववर्ती अपभ्रंश कवियों में चउमुह (चतु-मुख) द्रोण, ईशान, स्वयम्भू, पुष्पदन्त, घनपाल, वीर, धवल, धीरसेन, पविषेण, सुरसेन तथा दिनकरसेन तथा संस्कृत कवियों में देवनन्दि, जिनसेन (प्रथम और द्वितीय) एवं रविषेण के उल्लेख किये हैं। अपभ्रंश एवं हिन्दी के अनुसन्धित्सुओं के लिए धीरसेन, पविषेण, सुरसेन एवं दिनकरसेन इन चार कवियों के नाम नवीन हैं। रङ्ग ने उनकी क्रमशः प्रमाण, नय प्रमाण, नेहेसरचरिउ एवं अणगचरिउ नाम की कृतियों के उल्लेख किये हैं। इन ग्रन्थों के अन्वेषण एवं प्रकाशन से निश्चय ही साहित्यिक इतिहास के पुनर्निर्माण में कई दृष्टियों से सहायता मिलेगी।

महाकवि रङ्घू ने अपने आश्रयदाताओं की ११-११ पीढ़ियों तक की कुल परम्पराएँ एवं उनके द्वारा किए गये साहित्य, धर्म, तीर्थ, मूर्ति-निर्माण, मन्दिर-निर्माण, दान एवं राज्य-सेवा सम्बन्धी कार्यों पर अच्छा प्रकाश डाला है। इन सन्दर्भों के आधार पर मालवा के मध्यकालीन समाज के सांस्कृतिक इतिहास का प्रामाणिक लेखा-जोखा तैयार हो सकता है। इस विषय में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रङ्घू-साहित्य मध्यकालीन परिस्थितियों का एक प्रतिनिधि साहित्य है। उसमें राजतन्त्र एवं शासन-व्यवस्था, सामाजिक-जीवन, परिवार-गठन एवं परिवार के घटक, वाणिज्य-प्रकार, आयात-निर्यात की सामग्रियों की सूची, समुद्र-यात्राएँ, आचार-व्यवहार, मनोरंजन, शिक्षा-पद्धति सम्बन्धी बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होती है।

प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय भूगोल की दृष्टि से भी रङ्घू साहित्य कम महत्वपूर्ण नहीं। भारतवर्ष की मध्यकालीन राजनैतिक सीमाएँ; विविध नगर, देश, ग्राम, पत्तन, पर्वत, नदियाँ, वनस्पतियाँ, जीव-जन्तु, आदिम जातियाँ, खनिज पदार्थ, यातायात के साधन आदि सम्बन्धी सामग्री इसमें प्रस्तुत है।

साहित्यिक दृष्टि से रङ्घू के प्रबन्धात्मक आख्यानों का गम्भीर अध्ययन करने से उनकी निम्नलिखित विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं—

१. पौराणिक पात्रों पर युग-प्रभाव।

२. प्रबन्धों की अन्तरात्मा में पौराणिकता का पूर्ण समावेश रहने पर भी कवि द्वारा प्रबन्धों का स्वेच्छया पुनर्गठन।

३. चरित-वैविध्य।

४. पौराणिक प्रबन्धों में काव्यत्व का संयोजन।

५. प्रबन्धावयवों का संतुलन।

६. मर्मस्थलों का संयोजन।

७. जटिल की दृष्टि से सभी प्रबन्ध-काव्यों का सादृश्य, किन्तु जीवन की आद्यन्त अन्वितिका पृथक्त्व-निरूपण।

प्रबन्ध आख्यानों के अतिरिक्त कवि ने 'सम्पत्तगुण-निहाणकव्व', 'वित्तसार', 'सिद्धान्ताथसार', जैसे दार्शनिक,

निक, सैद्धान्तिक एवं आध्यात्मिक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है। यद्यपि उक्त ग्रन्थों में निरूपित विषय कुन्दकुन्द प्राभूत पूर्वाचार्यों से ही परम्परा-प्राप्त है, इस कारण उनमें मौलिकता भले ही न हो, तो भी 'नया नवघटे जलम्' वाली उक्ति के अनुसार विषय के प्रस्तुतीकरण में अवश्य ही निम्न प्रकार के वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होते हैं—

१. सिद्धान्त-प्रस्फोटन के लिए आख्यान का प्रस्तुतीकरण।

२. बहुमुखी प्रतिभा द्वारा सिद्धान्तों का सरल रूप में प्रस्तुतीकरण।

३. विषयों का क्रम-नियोजन।

४. दार्शनिक विषयों का काव्य के परिवेश में प्रस्तुतीकरण।

५. आचार के क्षेत्र में मौलिकता का प्रवेश।

महाकवि रङ्घू ने अपने समस्त वाङ्मय में चार भाषाओं का प्रयोग किया है—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी। संस्कृत में कवि ने कोई स्वतन्त्र रचना नहीं की, किन्तु ग्रन्थों की सन्धियों के आदि एवं अन्त में आदि मंगल या आशीर्वादात्मक विचार संस्कृत के आर्षा, वसन्त-तिलका, मालिनी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, खग्धरा, शार्दूलविकीटित जैसे विविध श्लोकों के माध्यम से व्यक्त किये हैं। उपलब्ध ग्रन्थों में ऐसे श्लोकों की संख्या १२० के लगभग है। श्लोकों की संस्कृत भाषा पाणिनी-सम्मत ही है, किन्तु कहीं-कहीं उस पर प्राकृत, अपभ्रंश का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है।

रङ्घू की प्राकृत रचनाओं में शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग मिलता है। उसमें वचित् अर्धमागधी एवं महा-गण्दी के शब्द प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं।

कवि की एक रचना हिन्दी में भी उपलब्ध है। यद्यपि वह अत्यन्त लघुकृति है, जिसमें मात्र ३६ पद्य हैं, किन्तु भाषा, विधा एवं छन्दरूपों की दृष्टि से वह महत्वपूर्ण कृति है। उस रचना का नाम है—'बारा भावना'। इसमें दोहा, चौपाई, मिश्रित गीता-छन्द में द्वादशानु-प्रेक्षाओं का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया गया है। इस रचना की हिन्दी अपभ्रंश से प्रभावित है और उसके 'करउ', 'केरो' जैसे परसर्गों के प्रयोग उपलब्ध हैं। उसमें राजस्थानी ब्रज, बुन्देली एवं बघेली, शब्दों के प्रयोग भी

प्राप्त होते हैं। वस्तुतः कवि की इस लघुकृति में प्राचीन हिन्दी के विकास की एक निश्चित परम्परा वर्तमान है।

महाकवि रङ्गू मूलतया अपभ्रंश के कवि हैं। अतः उनकी तीन कृतियाँ छोड़कर शेष सभी अपभ्रंश भाषा में लिखे हैं। उनकी अपभ्रंश परिनिष्ठित अपभ्रंश है, पर उसमें कहीं-कहीं ऐसी शब्दावलियाँ भी प्रयुक्त हैं, जो आधुनिक भारतीय भाषाओं की शब्दावली से समकक्षता रखती हैं। उदाहरणार्थ कुछ शब्द यहाँ प्रस्तुत हैं—

टोपी, मुग्गदालि (मूग की दाल), लङ्गड (ले गया), साली (पत्नी की बहिन), पटवारी, बक्कल (बुन्देली, बकला—छिलका), डोर, जगल, पोदलु, (पोटली), खट्ट (खाट), गाली, झड़प्प, खोज (खोजना), लक्कड़ी, पीट्टि (पीट कर), डिल्ल (ढीला) आदि।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी महाकवि रङ्गू निस्सन्देह ही भारतीय वाङ्मय के इतिहास के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। बिपुल एवं विविध साहित्य रचनाओं की दृष्टि से उनकी तुलना में ठहरने वाले किसी अन्य प्रतिस्पर्द्धि

कवि या साहित्यकार के अस्तित्व की सम्भावना नहीं की जा सकती। रस की अमृत स्रोतस्विनी प्रवाहित करने के साथ मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के चिरन्तन आदर्शों की प्रतिष्ठा करने वाला यह प्रथम सारस्वत है, जिसके व्यक्तित्व में एक साथ इतिहासकार, दार्शनिक, आचार-शास्त्र-प्रणेतृ एवं श्रान्तिद्रष्टा का समन्वय हुआ है।

कवि की उपलब्ध समस्त रचनाओं का परिशीलन बिहार सरकार के शिक्षा-विभाग की ओर से 'अपभ्रंश के महाकवि रङ्गू की रचनाओं का आलोचनात्मक परिशीलन' नामक शोधग्रन्थ के रूप में शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है तथा 'जीवराज ग्रन्थमाला', शोलापुर (महाराष्ट्र) की ओर से 'रङ्गू-ग्रन्थावली' के रूप में समग्र रङ्गू-साहित्य १६ भागों में सर्वप्रथम सम्पादित होकर प्रकाशित होने जा रहा है। उसका प्रथम भाग प्रकाशित है तथा द्वितीय एवं तृतीय भाग यन्त्रस्थ हैं। इनके प्रकाशन से कई नवीन तथ्यों पर प्रकाश पड़ने की सम्भावनाएँ हैं।

□ □ □

(आवरण पृ० ३ का शेषार्थ)

हरिवंशपुराण का समस्त वर्णन किसी न किसी प्रकार से मुक्ति आदि कार्यों से सम्बद्ध है। तीर्थंकरों, पंच परमेष्ठियों के स्तवन के साथ-साथ विभिन्न आचार्यों और व्यवहारों का वर्णन किया गया है। पुराण में सर्वतोभद्र,^{३२} महासर्वतोभद्र, "चान्द्रायण" आदि अनेक व्रतों, उपवासों की विधियों एवं उनके फलों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

वर्णन के प्रमुख तीन अंग हैं—(१) सम्यग्दर्शन (२) सम्यग्ज्ञान और (३) सम्यक्चारित। जैनागम में जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, पाप और पुण्य ये नौ तत्त्व बड़े गये हैं। इन जीवाजीवादितत्त्वार्थों की सच्ची श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन है।^{३५}

वस्तु अनन्तघर्मत्मक होती है। उनमें से किसी एक निश्चित धर्म का ग्रहण करने वाला ज्ञान नय कहलाता है—इसके द्रव्याधिक और पर्यायाधिक के भेद से दो भेद हैं—इनमें द्रव्याधिक नय यथार्थ है और पर्यायाधिक नय

अयथार्थ है; नैगम, सग्रह, व्यवहार ऋजुसूत्र, शब्द, समभि रूढ और एवम्भूत—ये सात नय हैं। पूर्व तीन तो द्रव्याधिक के भेद हैं और अवशिष्ट चार पर्यायाधिक के भेद हैं।

पापों की पांच प्रणालियाँ हैं—हिंसा, असत्य, स्तेय, कुशोल और परिग्रह। इनसे विरक्त होना चारित्र्य है।^{३६} उक्त पाचों पापों से पूर्णतः विरक्ति का नाम सम्यक् चारित्र्य है। व्यवहार नय और निश्चय नय को क्रमशः श्रावक और मुनि पालन करते हैं।^{३७}

व्रत, उपवास, तप आदि का धार्मिक साधना से अभिन्न सम्बन्ध है। इस देश में लोग नाना प्रकार के व्रतोपवास आदि धर्मभावना से करते रहे हैं। जैनैतर सम्प्रदायों में चान्द्रायण व्रत करने का प्रचलन रहा है। स्वयं चन्द्रमा के द्वारा चान्द्रायण व्रत^{३८} किये जाने के व्याज से हरिवंशकार ने इस व्रत के प्रचलन का उल्लेख किया है। (३४वाँ सर्ग)। □ □

३२. हरिवंशपुराण, ३४।५२-५५।

३३. हरिवंशपुराण, ३४।५७-५८।

३४. हरिवंशपुराण, ३४।६०।

३५. तत्त्वार्थश्रद्धानम्, सम्यग्दर्शनम्, तत्त्वार्थसूत्र, १।२

३६. हिंसानृतचौर्येभ्यो मेथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च। पाप प्रणालिकाभ्यां विरक्तिः संज्ञस्य चारित्र्यम्।।

३७. हरिवंशपुराण, १।०।७।

—रत्नकरण्डश्रावकाचार।। ४६।।

३८. इस व्रतमें कृष्ण प्रतिपदा के दिनसे चन्द्रमा घटने के साथ-साथ प्रतिदिन एक-एक ग्रास भोजन घटाते हुए अमावस्या के दिन पूर्ण निरोहार रहा जाता है, और शुक्ल प्रतिपदा की एक ग्रास भोजन लेकर प्रतिदिन एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए पूर्णिमा के दिन केवल १५ ग्रास आहार लिया जाता है। इस प्रकार यह व्रत एक मास में पूर्ण होता है।

‘जैन’ हरिवंशपुराण कालीन भारत की सांस्कृतिक झलक

□ डा० प्रेमचन्द जैन एम. ए., पी-एच. डी.

प्रत्येक युग का सच्चा साहित्यकार, कवि या महाकवि स्वयं अपने समय की भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में एवं पृष्ठभूमि के पट पर ही अपने वर्ण्यविषय के काल की अमुक स्थिति के चित्र की रेखाएँ अंकित करता है। चाहे वह किसी भी काल की स्थितियों का वर्णन करे, परन्तु उसके अनुमान का आधार तो उसका वर्तमान ही होता है। इसी वर्तमान के तट पर, उसकी कल्पना रूपी तूलिका मन-माने रंग भर-भरकर नये-नये चित्र बनाती है। उसका सजागरूक यत्न रहता है कि वह 'पाठक' को वर्तमान से उठाकर, उसके मानस को अपने वर्ण्य काल के स्तर पर ले जाये और इस यत्न में उसे जितनी सफलता मिलती है, वही उसके साहित्य साफल्य का मापदण्ड बनती है। पर सम-सानयिक युग की स्थितियों का सही-सही चित्रण भी उसके साफल्य की उतनी ही महत्वपूर्ण कमीटी है जितनी कथा-वस्तुगत वर्ण्य काल के चित्रण की। इस दृष्टि से जिनसेनाचार्य ने तत्कालीन भारत की भौगोलिक स्थिति, देश, प्रान्त और प्रमुख पर्वत, नगर, नदियाँ, वृक्ष, वन-स्पतियाँ, पशु-पक्षी, दक्षिण से लगाकर उत्तरपूर्व और उत्तर-पश्चिम के दक्षिण पथ के मार्ग और विध्य के उत्तर म उत्तर के प्रमुख महाजनपथों के सम्बन्ध में प्रभूत व प्रामाणिक जानकारी प्रदान की है। देश के तत्कालीन सामाजिक जीवन, व्यापार, कृषि, शिक्षा, साहित्य, सामाजिक रीतिरिवाज एवं धार्मिक विश्वासों तथा ग्रामीण व नागरिक जीवन का सटीक परिचय प्राप्त करने की दृष्टि से भी यहाँ प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। देश की राजनैतिक अवस्था के सम्बन्ध में कवि ने प्रत्यक्ष तो नहीं परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से जो संकेत दिये हैं उनसे तत्कालीन समय की राजनैतिक अवस्था का अच्छा बोध हो जाता है।

भौगोलिक स्थिति

भारतवर्ष के भौगोलिक विभाजनों का कवि का ज्ञान विशद और प्रामाणिक था। इसकी अनुभूति हमें

हरिवंशपुराण के ११वें सर्ग में वर्णित भगवान् ऋषभदेव की दीक्षा के प्रकरण में चारों दिशाओं के अनेक नगरों के उल्लिखित होने से होती है—कुरुजागल, पांचाल, सुरसेन, पटंचर, यवन, अभीर और भद्रक, स्वाधतीय, तुलिंग, काशी, कौशल्य, भद्राकार, वृकार्थक, सोल्व, आवृष्ट, त्रिगतं, कुशाग्र, आत्रेय, काम्बोज, शूर, वाटवाना, कैकय, गान्धार, सिन्धु, सीवीर, भारद्वाज, दशरूक, प्रास्थाल और तीर्ण-कर्ण ये देश उत्तर दिशा की ओर थे। खग, अंगारक, पोण्डू, मल्ल, युवक, मस्तक, प्राग्ज्योतिष, वग, मगध, मानवर्तिक, मलद और भागवं ये देश पूर्व सीमा में स्थित थे। वाणमुक्त, वेदर्भमाणव, सक्कापिर, मूलक, अश्मक, दाण्डिक, कलिंग, आशिक, कुन्तल, नवराष्ट्र, माहिष्क, पुरुष, और भोगवर्दन ये दक्षिण दिशा के देश थे। माह्य, कल्लोवनोपान्त, दुर्ग, सुपार्त, कर्वुक, काशि, नामारिक, अगतं, सारम्बत, तापम, महिम, भरुकच्छ, सुराष्ट्र और नर्मद ये पश्चिम दिशा के देश थे। दशार्णक, किष्किन्ध, त्रिपुर, आवत्तं, नैषध, नेपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पत्तन और विनिहात्र ये देश विन्ध्याचल के ऊपर स्थित थे। भद्र, वत्स, विदेश, कुश, भग, सैतव और वज्रखण्डिक ये देश मध्यदेश के आश्रित थे। इनमें वत्स, अवन्ती, कौशल और मगध में राजतन्त्र था, बाकी गणतान्त्रात्मक थे।

राजतन्त्रों का राजा निरंकुश नहीं होता था, यह मंत्रिपरिषद की राय से कार्य करता था और प्रजा की भावना का समादर करता था। गणतन्त्र में कहीं एक मुख्य राजा होता था, कहीं गणराजाओं की परिषद् थी, कहीं मुख्य राजा होते हुए भी गणपरिषद प्रधान थी और कहीं मुख्य-गण बारी-बारी से राज्य करते थे। कुछेक महत्त्वाकांक्षी विस्तार-लोलुप सम्राट् भी थे। गणतन्त्रों से इनके सम्बन्ध अच्छे नहीं थे और कभी-कभी वे युद्ध तक कर बैठते थे। गणतन्त्रों के सम्बन्ध आपस में प्रायः अच्छे थे। कारण विशेष से कभी कभी कुछ विवाद भी उठते रहते थे। नदी, जल, परिवहन, ग्राम आदि के कारणों से विवाद उठना ही इनमें मुख्य था। कभी-कभी किसी

कन्या को लेकर भी भगड़े खड़े हो जाते थे ।

राजा का पद परम्परागत होता था । राजा के अप-दस्थ होने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्याधिकारी होता था ।^१ पुत्र-विहीन राजा का उत्तराधिकारी उसकी पुत्री का पुत्र होता था । राज्यासन पर पदारूढ़ होने से पूर्व अभिषेक होने की परम्परा थी ।^२

इस काल का भारतीय समाज युद्ध-विज्ञान में प्रयाप्त उन्नति कर चुका था । स्वार्थसिद्धि के लिये देव, असुर, मानव और पशु सबका चरम साधन एकमात्र युद्ध ही था । पशुओं और मनुष्यों में भी युद्ध होने के उदाहरण दृष्टिगत होते हैं ।

इस काल में रथयुद्ध,^३ पदाति युद्ध,^४ मत्तयुद्ध,^५ दृष्टियुद्ध,^६ जलयुद्ध,^७ प्रभृति विविध प्रकार के युद्धों के उदाहरण मिलते हैं । युद्ध में प्रमुखतः हाथी, घोड़े, रथ, पैदल सैनिक, बैल, गान्धर्व और नर्तकी ये सात अंग होते थे । वृहों में कौच, गरुड़,^८ चक्रादि के उल्लेख प्राप्त होते हैं । असि, उलूखल, कायत्राण, कार्मूक, कौमुदगदा, खग, खुर, गदा, गाण्डिव, चक्र जानु, तल, तोमर, त्रिशूल, दण्ड, बाणादि अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्र थे । कतिपय शस्त्रास्त्रों में अद्भुत चमत्कृतिपूर्ण अलौकिक शक्ति भी विद्यमान थी । गज, घोड़े, रथ, ऊँट, खच्चर आदि भी युद्ध की सवारियाँ थी । राजमहिषियाँ भी रण-कोशल में निष्णात होती थी और आवश्यकता पड़ने पर युद्ध भी करती थीं । कभी-कभी अपने पतियों की सहायतार्थ भी युद्ध में साथ-साथ जाती थीं ।^९

सामाजिक जीवन

हरिवंशपुराण में एक सगठित समाज का स्वरूप मिलता है । समाज में चारों वर्गों (ब्राह्मण, क्षत्रिय,

वैश्य और शूद्र) की स्थिति ज्ञात होती है, पर उनके घेरे कठिन नहीं थे । चारों वर्गों के अतिरिक्त भी समाज में व्यावसायिक और औद्योगिक वर्ग थे, इनमें राजक, चाण्डाल, चर्मकार, स्पर्णकार, दारुशिल्पी आदि प्रमुख थे ।

प्राचीन काल से ही विवाह जीवन की सर्वोत्कृष्ट घटना मानी जाती है । उसका इस काल में ह्रास देखने को मिलता है । विवाह अब दैविक विधान न रह कर, योग्यता, पराक्रम और शक्ति का मापदण्ड रह गया था । इस काल में स्मृतियों में प्रतिपादित आठ प्रकार के विवाहों में से ब्राह्म, प्राजापत्य और आर्ष को ही धर्मसम्मत माना जाता था । अन्य विवाहों के प्रकार (आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच) को निन्दनीय या परित्याज्य माना जाता था ।^{१०}

इस काल में उक्त आठ विवाह विधियों में से कोई भी एक विशुद्ध रूप में प्रचलित नहीं थी । समाज में ऊँचे आदर्शों के बीच स्थान न मिलने पर भी गान्धर्व व राक्षस विधि का प्रसार था ।^{११} अन्य विवाहों में वाग्दान से, भविष्यवाणी से, साटे से विवाह,^{१२} विधवा विवाह^{१३} एवं विधुर विवाह आदि भी प्रचलित थे । समाज में बहुपत्नी प्रथा^{१४} प्रचलित थी । मातुल कन्या से विवाह सम्भव था ।^{१५} चारुदत्त का विवाह उसके मामा की लड़की से किया गया था (२१/३८) । अर्जुन और सुभद्रा का सम्बन्ध भी ऐसा ही था । विवाह दो विकसित व्यक्तियों का सम्बन्ध था । कन्याएं पिता के घरमें ही युवा हो जाया करती थीं । प्रथाओं में दहेज प्रथा का भी उल्लेख है । यद्यपि स्पष्ट रूप से 'दहेज' शब्द का न नाम आता है और न उसकी माँग की जाती थी । खुशी से लड़की वाला लड़के को यथाशक्ति और यथेच्छानुसार कुछ दे देता था ।

२. हरिवंशपुराण, २७।५४, २१।१२ । ३. हरिवंशपुराण, २७।४७-६० । ४. लेखक का शोध प्रबन्ध, पृ० ८६ ।

५. हरिवंशपुराण, ४२।८०, ५०।१०३-१०४, ४२।८१ । ६. हरिवंशपुराण, ३६।३०-३४, २४।८, ११।८४, ३६।४१-४३, ३६।४५ । ७. हरिवंशपुराण, ११।८०-८२ । ८. हरिवंशपुराण, ११।८३ ।

९. हरिवंशपुराण, ५०।१०२-११० । १०. हरिवंशपुराण ५२।५ । ११. हरिवंशपुराण, ६।३६ ।

१२. पाटील, बा० के० के०, कल्चरल हिस्ट्री फ़ोम वायुपुराण—पूना, १९६४, पृष्ठ १५६ ।

१३. हरिवंशपुराण, ४४।२१-२५, ४३।१७१-१७६, ४४।२६-३२, ४२।७४-६७, ४४।६-१६ ।

१४. हरिवंशपुराण, ३३।१०-२६ । १५. (i) नारद स्मृति, १२।६७ । (ii) बाल्लवकर, हिन्दू सोशल इन्स्टिट्यूशन्स, बम्बई, १९३६ । (iii) विवाह सम्बन्धी अध्याय—प्लेटेकर : पोजीशन आफ़ वुमन इन ऐनशियन्ट इण्डिया, पृष्ठ १८१-१८३ । १६. हरिवंशपुराण, १२।३२, २४।६, ४४।३-५०, ५६।११६ । १७. हरिवंशपुराण, ३३।११-२४, ३३।१-३६, २१।३८ ।

इस समय स्त्री जाति का समाज में कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं था। स्त्रियाँ पुरुषों की इच्छा के अनुसार उनके उपभोग के लिए उपकरण मात्र थी। स्त्रियों को चल सम्पत्ति के रूप में भी माना जाता था।

हरिवंशकालीन व्यक्ति का जीवन सम्य और सुसज्जित था। वह विविध परिधानों द्वारा शरीर का प्रलक्षण करता था। उसके वस्त्रों में वासस्, उपवासस्, नीवि, कम्बल आदि प्रमुख थे।^{१७} आभूषणों में मुकुट,^{१८} कुण्डल, केंयूर, चूड़ामणि, कटक, कंकण, मुद्रिका, हार, मेखला, कटिसूत्र, कटक, रत्नावली, नूपुर आदि का प्रचलन था (८/२६), प्रसाधन सामग्रियाँ भी अनेक थी। साधारण से लेकर बहुमूल्य सामग्रियाँ व्यवहृत होती थी। चन्दन,^{१९} कुकुम, अंगराराग, आलवतक, अंजन, शतपाक, तेल, गंध, आदि अनेक सुगन्धित द्रव्य मिश्रित लेप सिन्दूर, कस्तूरी, माला, ताम्बूल आदि के प्रयोग का उल्लेख मिलता है (८वां सर्ग)। वृद्धाये प्रायः त्रिपुण्ड्राकार तिलक लगाती थी (२२/४७)।

समाज में शाकाहारी और मांसाहारी दोनों ही तरह के भोजन भोज्य होते थे। शाकाहारी भोजन में जौ, धान, गेहूँ, तेल, शाक, उडद, मूँग आदि मुख्य थे।^{२०} पशुओं का मांस मांसाहारियों के लिए भोजन में सम्मिलित होता था।^{२१} पेय पदार्थों में दूध,^{२२} सुरा, मधु^{२३} आदि उल्लेखनीय है। भोजन करने के बाद सुगन्धित द्रव्यों से मिश्रित पानी से कुरला किया जाता था।^{२४} बाद में पान-सुपारी खिलाई जाती थी। पान को धूंकने के लिये पीकदान भी रखा रहता था।^{२५} महाकवि बाण की कादम्बरी और हर्ष चरित में भी इनके उल्लेख प्राप्त होते हैं।

विश्राम के लिए शय्या (आसन्दी), उपधान, पर्यकादि हुआ करते थे। मनोरंजन के लिए नाटक, गीत, वाद्य, चित्रकला, छत-क्रीडा^{२६}, वनविहार^{२७} जलक्रीडा^{२८} आदि का प्रमुखता से प्रचलन था। विशेष अवसरों पर अनेक सामूहिक महोत्सव भी होते थे।

उन दिनों भी व्यायाम करने की प्रक्रिया आज जैसी ही थी। गोलाकार अवाडा होता था जिसमें पहलवान लोग अपने-अपने दावपेंच दिखाते थे। इस ग्रन्थ की देखने से यह भी पता चलता है कि आजकल जो यह मुष्टियुद्ध

प्रचलित हो रहा है, वह पाश्चात्य देशों की देन नहीं है। हमारे देश में प्राचीन काल में मुष्टियुद्ध का आम रिवाज था।^{२९} श्री कृष्ण और बलभद्र ने चाणूर और मुष्टिक पहलवान को मुष्टियुद्ध से ही पराजित किया था (३६/४५)।

आर्थिक जीवन

आर्थिक दृष्टि से भी भारतवर्ष सम्पन्न था। कृषि, पशुपालन, व्यापार, वाणिज्य और कला-कौशल में भी यह देश काफी प्रगति कर चुका था। आन्तरिक व्यापार के साथ ही विदेशों से जलपोतों के द्वारा व्यापार होता था। यहाँ से कपास और बहुमूल्य रत्नादि का व्यापार किया जाता था। दूर देशों या विदेशों से व्यापार के लिए कई व्यापारी समूह में जाते थे और मार्ग दिखाने के लिए सार्थ होते थे। सार्थों को मार्ग का पूरा ज्ञान होता था। सार्थ सम्पन्न भी होते थे। वे व्यापारियों को निश्चित शुल्क या भागीदारी के आभार पर ऋण भी देते थे। सार्थों के अपने यान, वाहन, चालक, वाहक, रक्षक आदि भी होते थे। प्राचीन भारत में सार्थों की भूमिका की विशेष जानकारी डा० मोतीचन्द्र की पुस्तक 'सार्थवाह' से मिलती है।

व्यापार में लेने देने के लिए निष्क, शतमान, कार्षापण आदि का व्यापार था। मुद्राओं पर जनपद श्रेणी ग्रथवा धार्मिक चिह्न हुआ करते थे। वाणिज्य-व्यापार पर राजकीय नियन्त्रण नहीं था। कर भाग भी प्रायः के दसवें से छठे भाग तक सीमित था। विशेष परिस्थितियों में युद्ध, दुर्निक्ष आदि^{३०} के समय यह अवश्य ध्यान रखा जाता था कि कोई अनुचित लाभ न ले सके। जंगलों, दुर्गम स्थानों में कहीं-कहीं दस्युदल भी सक्रिय होते थे। और अपराध बहुत कम होते थे।

धार्मिक जीवन

यदि धर्म और विश्वास जाति या समाज की उत्कृष्टता का द्योतक है तो हरिवंशपुराण एक ऐसे व्यक्ति के धार्मिक जीवन का चित्र प्रस्तुत करता है जो तपः प्रधान था। इस युग में प्राचीन धार्मिक परम्परायें टूट रही थी। बलि, यज्ञादि क्रियाकाण्डों का स्थान भक्ति, उपासना, सत्कर्म और सदाचार ने लिया था। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों सस्कृतियाँ साध-साध चल रही थी।

(शेष पृ० ६२ पर)

१८. हरिवंशपुराण, २६/७, ५/१८-३८।

२१. हरिवंशपुराण, १८/१७१, ११/११६, ३६/२७-२८, १८/१६१-१६३। २२. हरिवंशपुराण, २१/१०४-११०।

२३. हरिवंशपुराण, १८/१७१।

२४. हरिवंशपुराण, ६१/२३, ६१/५१, ६१/३६, ६१/२५।

२५. हरिवंशपुराण, ३६/२७-२८।

२६. हरिवंशपुराण, ८/५०।

२७. हरिवंशपुराण, ४८/१४, ४६/३, २१/५४-६२।

२८. हरिवंशपुराण, ५२/२६, १४/८१।

२९. हरिवंशपुराण, ५/१५१-५५। ३०. हरिवंशपुराण, २४/८, ११/८६, ३६/४१-४३। ३१. हरिवंशपुराण, २१/७६।

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

- पुरातन जैनवाक्य-सूची :** प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक : मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००
- प्राप्तपरीक्षा :** श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, प्राप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००
- व्ययम्भू स्तोत्र :** समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... २-००
- स्तुतिविद्या :** स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुस्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत, सुन्दर, जिल्द-सहित। १-५०
- अध्यात्मकमलमातंड :** पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १-५०
- वृक्षयन्त्रशासन :** तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५
- समीचीन धर्मशास्त्र :** स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ :** संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और ५० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक माहित्य-परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ४-००
- समाधितन्त्र और इष्टोपदेश :** अध्यात्मकृति, ५० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००
- अवधबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ :** श्री राजकृष्ण जैन ... १-२५
- अध्यात्म रहस्य :** पं० आशाधर की सुन्दर कृति, मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ :** अवधेश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पंचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित। स. प. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००
- न्याय-वैपिका :** आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०। ७-००
- जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश :** पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ५-००
- कसायपाहुडमुत्त :** मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिमूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २०-००
- Reality :** आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ६-००
- जैन निबन्ध-रत्नावली :** श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ०-५०
- ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) :** संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००
- आवक धर्म संहिता :** श्री दरयाबाईसह सोषिया ५-००
- जैन लक्षणवली (तीन भागों में) :** (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग २५-००
- Jain Bibliography (Universal Encyclopedia of Jain References) (Pages 2506) (Under print)**

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेकान्त

साहू शान्तिप्रसाद जैन स्मृति अंक

सम्पादन-मण्डल

डा० ज्योतिप्रसाद जैन
डा० प्रेमसागर जैन
श्री गोकुलप्रसाद जैन



सम्पादक

श्री गोकुलप्रसाद जैन
एम.ए., एल-एल. बी.,
साहित्यरत्न



वर्ष ३१ : किरण १-४
जनवरी-दिसम्बर १९७८



वार्षिक मूल्य ६) रुपये
इस अंक का मूल्य :
६ रुपये



उद्धारमना श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन

वीर-सेवा-मन्दिर के यशस्वी संरक्षक

वीर-सेवा-मन्दिर के यशस्वी संरक्षक बम्बई, के सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री साहू श्रेयामप्रसाद जैन का जन्म नजीबाबाद (जिला बिजनौर) के प्रतिष्ठित जमोन्दार घराने में ३ नवम्बर, १९०८ को हुआ था। साहू जी बड़े उदारमना, दानवीर, राष्ट्रमेवी एवं धर्मनिष्ठ हैं तथा समाज सेवा, नागरिक सेवा, शैक्षिक एवं साहित्यिक सेवा के प्रति समर्पित हैं।



आपने अल्पायु में ही अपने परिवार के दायित्व को सम्भाल लिया था। आपको नजीबाबाद म्युनिमिपैल्टी का उपाध्यक्ष एवं बिजनौर एजुकेशन समिति का अध्यक्ष चुना गया। इसके पश्चात् आपका जीवन क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों की ओर हो गया जिससे आपने देश की आजादी के लिए राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भाग लिया।

सन् १९४३ में आपको "भारत छोड़ो" आन्दोलन में भाग लेने के कारण गिरफ्तार कर लिया गया और लाहौर जेल में दो माह तक रखा गया।

उद्योग के क्षेत्र में आपकी प्रशंसनीय और सराहनीय सेवाओं के कारण आपका सदा उच्च स्थान रहा है जिससे विगत वर्षों में आप देश की विभिन्न व्यावसायिक संस्थाओं के अध्यक्ष रहे हैं। इनमें प्रमुख हैं : फेडरेशन आफ इण्डियन चैम्बर्स आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज, नई दिल्ली; इण्डियन नेशनल कमेटी-इण्टरनेशनल चैम्बरस आफ कामर्स, ऐल्कली मैन्युफैक्चरर्स एसोसियेशन आफ इण्डिया, बम्बई; आर्थिक सहयोगार्थ ऐफी-एशियन आगे-नाइजेशन। इसके साथ-साथ आपका क्षेत्र इतना व्यापक बनता गया कि आप इन्जीनियरिंग, वस्त्र, खड़, आटोमोबाइल, रासायनिक और विद्युत्

श्री साहू श्रेयास प्रसाद जैन
आदि की वस्तुओं के निमाताओं की परिषद् के डाइरेक्टर हुए।

आपका जैन समुदाय में सुविशिष्ट स्थान है जिससे आप अनेकों सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक संस्थाओं के संरक्षक हैं और साथ ही अनेकों सगठनों के ट्रस्टी हैं। आप अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् और भारत जैन महामण्डल के भी अध्यक्ष रहे। आप महावीर कल्याण केन्द्र, बम्बई के अध्यक्ष हैं जिसके माध्यम से आपने अकाल व बाढ़-पीड़ितों के कार्यों में अभिरुचि लेकर पूर्ण सहयोग दिया।

आपकी सेवाओं के सम्मानस्वरूप आपको महाराष्ट्र सरकार ने स्पेशल एग्जीक्यूटिव मैजिस्ट्रेट नियुक्त किया। आप जस्टिस आफ पीस रहे तथा छह वर्ष तक संसद् सदस्य रहे। साहूजी महाराष्ट्र के महानगर बम्बई के 'बम्बई हास्पिटल ट्रस्ट' के ट्रस्टी एवं अध्यक्ष हैं।

आपने १९५७ में भारतीय औद्योगिक प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य के रूप में अमेरिका व रूस की यात्रा की जिसमें भारत के अन्य देशों के साथ व्यापार में वृद्धि हुई। आपने सितम्बर १९६७ व १९७० में जापान-भारत प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य के रूप में जापान यात्रा की।

आपकी भारतीय धर्म दर्शन, इतिहास तथा सांस्कृतिक विषयों के अध्ययन में भी आन्तरिक अभिरुचि है। भारतीय कला एवं पुरातत्व के क्षेत्र में भी आपने महत्वपूर्ण कार्य किया। भारतीय भाषाओं की शिरोमणि सस्था भारतीय ज्ञानपीठ के आप अध्यक्ष हैं। आप भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के कोषाध्यक्ष तथा वैशाली प्राकृत, जैन धर्म एवं अग्नि सा शोध सस्थान के अध्यक्ष हैं।

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के कार्यक्रमों को सफल बनाने में आपका बड़ा योगदान रहा है। आप चाने सम्प्रदायों की ओर से गठित "भगवान महावीर मेमोरियल समिति" के कार्यध्यक्ष हैं। आपको दिगम्बर जैन समाज की उत्कट आकांक्षा के अनुरूप, आपके कनिष्ठ भ्राता स्व० साहू शान्ति प्रसाद जी द्वारा स्थापित, दिगम्बर जैन महामणि के अध्यक्ष का, उनके निधन पर, दायित्व भार सौंपा गया। □□□

सम्पादकीय

स्वनामधन्य स्व० साहू शान्तिप्रसाद जैन वर्तमान युगीन जैन जगत की अप्रतिम विभूति थे। सन् १९११ में नजीबाबाद (जिला बिजनौर, उत्तर प्रदेश) के साहू घराने में, प्रसिद्ध साहू सलेखचन्द्र जी के पौत्र और साहू दीवानसिंह के कनिष्ठ पुत्र के रूप में माता मूर्तिदेवी की कुक्षि से इस महाभाग का जन्म हुआ था। लगभग २३-२४ वर्ष की आयु में विद्यार्थी जीवन समाप्त करके और सेठ रामकृष्ण डालमिया की सुपुत्री स्व० रमारानी के साथ विवाहित होकर वह कर्मक्षेत्र में उतरे। पुण्य और पुरुषार्थ का कुछ ऐसा सुखद संयोग हुआ कि वह लौकिक अभ्युदय में द्रुतवेग से उत्तरोत्तर वृद्धि करते गये, यहां तक कि दो दशकों के भीतर ही वह चोटी के भारतीय उद्योगपतियों में परिगणित होने लगे। साथ ही, धर्म, संस्कृति, समाज एवं भारतीय जन सामान्य की सेवा की ऐसी विलक्षण लगन थी कि इन क्षेत्रों में उन्होंने अनगिनत श्रेष्ठ उपलब्धियां प्राप्त कीं, जो उनके जीवनोपरान्त भी उनकी स्मृति को सजीव बनाये हुए हैं और बनाये रखेंगी। स्वभावतः उन्हें यश, मान और प्रतिष्ठा भी प्रभूत मिली; सत्कार्यों के करने में जो आनन्द और आत्मसन्तोष मिलता है, वह तो मिला ही। लगभग ६६ वर्ष की आयु में दिनांक २७ अक्टूबर, १९७७ को कालकवलित होने तक, लगभग चार दशक साहू शान्तिप्रसाद जैन, जैन समाज के तो सर्वमान्य सर्वोपरि नेता एवं प्रायः एकच्छत्र सम्राट् बने रहे। निश्चय ही उनका शील, सीजन्य, उदारता, दानशीलता, सामाजिक चेतना, उत्साह और लगन इस मान-प्रतिष्ठा के कारण थे। अनेक धर्म एवं सम्प्रदाय-निरपेक्ष लोकहितकारी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त प्रायः सभी जैन तीर्थों को, अनगिनत जैन संस्थाओं, संगठनों एवं प्रवृत्तियों को तथा दर्जनों सांस्कृतिक एवं शिक्षा संस्थाओं को उनसे उदार संरक्षण एवं पोषण प्राप्त हुआ। अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद तो उनके जीवनकाल में प्रायः उन्हीं के अवलम्बन पर जीवित रही। कम से कम पूरे दिगम्बर जैन समाज में एकता, एकमूर्तता स्थापित करने के उद्देश्यों से, अपने निधन से कुछ ही पूर्व उन्होंने दिगम्बर जैन महासमिति की स्थापना के लिए सफल प्रेरणा दी।

स्व० प० जुगलकिशोर जी मुख्तार के साहूजी प्रारम्भ से ही बड़े प्रशंसक थे। अतः वह मुख्तार साहब द्वारा स्थापित बीर-सेवा-मन्दिर और 'अनेकान्त' पत्रिका को सदैव संरक्षण प्रदान करते रहे। मुख्तार साहब द्वारा चलाये गये 'बीर-शासन-जयन्ती' अभियान को साहूजी का पूरा समर्थन प्राप्त हुआ, और उनके तथा स्व० बाबू छोटेलाल जी के सहयोग से ही सन् १९४४ की आवण कृष्ण प्रतिपदा के प्रातःकाल राजगृह के विपुलाचल पर बीरशासन का २५००वीं जयन्ती समारोह मनाई गई। भगवान् के उक्त पुनीत प्रथम देशना स्थल पर शिलालेखांकित स्मारक स्थापित किया गया और 'बीर-शासन सभ' के नाम से दस लाख रुपये का एक विशाल योजना बनी। कतिपय कारणों से वह योजना सफल न हो सकी, जिसका साहूजी और छोटेलाल जी, उसके उक्त दोनों ही कर्णधारों को दुःख हुआ।

प्रब विकल्प रूप में उन्होंने निश्चय किया कि बीर-सेवा-मन्दिर को सरसावा जैसे छोटे-से कस्बे से हटाकर राजधानी दिल्ली में लाया जाय और अधिक व्यवस्थित रूप से चलाया जाय । अतएव दिल्ली के दरियागंज में भूमि लेकर एक चौमजिला विशाल भवन 'बीर-सेवा-मन्दिर' के नाम से निर्माणित हुआ, और संस्था एवं उसके अधिष्ठाता मुख्तार साहब भी वहां स्थानान्तरित हो गये । संस्था की नई सोसाइटी, ट्रस्ट, विधान आदि भी बन गये और कार्य होने लगा । यह बात दूसरी है कि कतिपय मतभेदों के कारण कुछ समय बाद मुख्तार साहब ने स्वयं को संस्था से प्रत्यक्ष रूप में पृथक् कर लिया, किन्तु संस्था चलती रही और साहूजी उसका संरक्षण बराबर करते रहे । 'अनेकान्त' जब सरसावा से प्रकाशित होता था तब भी साहूजी ने उसके मुद्रण-प्रकाशन की बेहतरी एवं सुविधा के लिए उसे अपने भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित कराना प्रारम्भ कर दिया था । यह व्यवस्था भी कुछ ही वर्ष चल पायी । तथापि बीर-सेवा-मन्दिर और 'अनेकान्त' पर उनका प्रेम बराबर बना रहा, और ये दोनों आज भी जो जीवित एवं सक्रिय हैं, उसका बहुत-कुछ श्रेय साहूजी को है ।

अस्तु, बीर-सेवा-मन्दिर एवं 'अनेकान्त' के लिए यह उचित ही था कि वे अपने उस परमोपकारी महानुभाव के स्वर्गस्थ हो जाने पर उनकी स्मृति में कम से कम एक उपयुक्त विशेषांक तो निकाल ही दें । इसी आशय से इस विशेषांक की योजना बनी, और भले ही कुछ विलम्ब से, यह अपने पाठकों के हाथ में है । विशेषांक की तैयारी में उसके सम्पादक श्री गोकुलप्रसाद जैन ने जो मोत्साह श्रम किया वह सराहनीय है । बीर-सेवा-मन्दिर के महासचिव श्री महेन्द्रसेन जैनों का भी पूरा सहयोग प्राप्त हुआ । संस्था एवं पत्र के अन्य प्रेमियों, विद्वान लेखकों और स्व० साहूजी के प्रशंसकों के अमूल्य सहयोग के लिए भी सम्पादक-मण्डल आभारी है ।

अन्त में, हम प्रबुद्ध समाजचेतना एवं सस्कृति-सेवी तथा अपने चिरस्मरणीय महामना स्व० साहूशान्तिप्रसाद जैन की स्मृति में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं ।

ज्योति निकुञ्ज,
भारबाग, लखनऊ-१

ज्योतिप्रसाद जैन

विषयानुक्रमिका

क्र०	विषय	पृ०	क्र०	विषय	पृ०
१.	श्री वर्द्धमान स्तघन	१	१७.	अनुपम आदर्श जीवन—डा० प्रेमचन्द रावका	२६
	व्यक्तित्व और कृतित्व		१८.	उन्हे श्रमण दीक्षा की आकाक्षा थी	
२.	नररत्न साहू जी और जैन सस्कृति का उद्धार	२		—श्री गणेश लल्लवानी	२७
	—श्री अग्रचण्ड नाहटा, बीकानेर		१९.	उनकी लगन और दृष्टि—मृनिश्री यशोविजयजी	२९
३.	साहू जी और भावी समाजोत्थान योजना	३	२०.	सामाजिक इतिहास का एक युगात्	
	—डा० विद्याधर जांहरापुरकर, जबलपुर			—श्री चन्दनमल	३०
४.	जैन समाज के शिरोमणि—श्री भगतराम जैन, दिल्ली	५	२१.	उनके नेतृत्व का फल—श्री मिश्रीलाल पाटनी	३२
५.	सौजन्य-मूर्ति साहू जी : कुछ सस्मरण	७	२२.	आदर्श एवं अभूतपूर्व व्यक्तित्व	
	—प० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर			—श्री मदनप्रकाश जैन, दिल्ली	३३
६.	आदर्श समाज नेता—श्री वशीधर शास्त्री, जयपुर	८	२३.	जैनत्व के जीवन्त प्रतीक	
७.	ज्योतिर्मय व्यक्तित्व—श्री मिश्रीलाल जैन, गुना	९		—डा० राजेन्द्रकुमार बमल, शहडोल	३५
८.	संगत श्री-सरस्वत्योः—डा० हरीन्द्रभूषण जैन, एम. ए., पी.एच. डी, उज्जैन	१०	२४.	अनम् को सालती स्मृति	
९.	साहू शान्तिप्रसाद . सेठ और साधु	११		—डा० शोभनाथ पाठक, मेघनगर	३७
	—डा० प्रेमसागर जैन, बडौत		२५.	समाज और राष्ट्र की सेवा के लिए समर्पित व्यक्तित्व—श्री सत्यधर कुमार सेठी, उज्जैन	३९
१०.	बीसवीं सदी के भोज—श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली	१४	३६.	पुरातत्व के अमर प्रेमी—डा० सुरेन्द्रकुमार आर्य, उज्जैन	४१
११.	उदारमना सदाशय व्यक्तित्व	१६	३७.	महाप्रभावक श्रावक शिरोमणि	
	—डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच			—प० सुमेरचन्द्र जैन दिल्ली	४२
१२.	पुण्यश्लोक प्रेरणाप्रद व्यक्तित्व	१७	३८.	युग के भामाशाह—श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज', जावरा	४५
	—डा० रमेशचन्द्र जैन, विजनौर		३९.	सरस्वती के पुजारी—श्रीमती रूपवती 'किरण' जबलपुर	४६
१३.	आधुनिक भामाशाह— विद्यावारिधि डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया, झेलगढ़	१९	४०.	दानवीर श्रावक शिरोमणि	
१४.	सरस्वती के परम उपासक	२०		—श्री महेन्द्रकुमार जैन, दिल्ली	४८
	डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर		४१.	सरस्वती के परम उपासक	
१५.	महान् कर्मयोगी की जीवन-साधना	२१		—डा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर	५०
	—प० परमानन्द शास्त्री, दिल्ली		४२.	आधुनिक खारबेल—श्री ब्रिशनचन्द्र जैन, शिकारपुर	५२
१६.	यशस्वी सरस्वती पुत्र—श्रीमती जयवन्ती देवी जैन, नई दिल्ली	२५			



सौजन्य-मूर्ति श्री साहजी



गरिमाकुलन : अटूट निष्ठा और धर्म-वत्सलता ,



श्री साहजी के सान्निध्य में एक अविस्मरणीय सांस्कृतिक आयोजन

ग्रोम् ग्रहम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमयनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३१
किरण ३-४

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण संवत् २५०५, वि० सं० २०३५

{ जुलाई-दिसम्बर
१९७८

श्री वर्द्धमान स्तवन

श्रियं त्रिलोकीतिलकायमानामात्यन्तिकीं ज्ञातसमस्ततत्त्वाम् ।

उपागतं सन्मतिमुज्ज्वलोक्ति वन्दे जिनेन्द्रं हृतमोहमन्द्रम् ॥

श्रीवीर यद्यथ वचोर्चिरं न ते स्याद् भव्यात्मनां खलु कुतो भुवितत्त्वबोधः ।

तेजो बिना दिनकरस्य बिभातकाले पद्मा विकासमुपयान्ति किमात्मनेव ॥

अस्नेहसंयुतदशो जगदेकदीपदिचिन्तामणिः कठिनतारहितान्तरात्मा ।

अव्यालवृत्तिसहितो हरिचन्दनागस्तेजोनिधिस्त्वमसि नाथ निराकृतोष्मा ॥

—वर्द्धमानचरिते असगः

श्री वर्द्धमान-वचसा पर-मा-करेण, रत्नत्रयोत्तम-निधेः परमाऽऽकरेण ।

कुर्वन्ति यानि मुनयोऽजनता हि तानि, वृत्तानि सन्तु सततं जनता हितानि ॥

—सिद्धप्रियस्तोत्रे देवर्षिः

जो तीनों लोकों में श्रेष्ठ, अविनाशी सर्वज्ञत्वलक्ष्मी को प्राप्त थे, जिनके वचन निर्दोष (पूर्वापर विरोध रहित) थे, और जिन्होंने मोहकपी तन्द्रा को नष्ट कर दिया था, उन सन्मति जिनेन्द्र महावीर की मैं वन्दना करता हूँ ।

हे वीर जिनेन्द्र ! यदि आपके मनोहारी वचन न होते तो निश्चय से इस भूतल पर भव्य जीवों को तत्त्व-बोध कैसे होता ? प्रभातकाल में सूर्य के तेज के बिना क्या कमल आप से आप विकसित हो जाते हैं ?

हे नाथ ! आप जगत के ऐसे अद्वितीय दीपक हैं कि जिसकी दशा (बाती) स्नेह (तैल) रहित है (अर्थात् आप वीतराग दशा में स्थित हैं), आप चिन्तामणि (मनवाञ्छित देने वाले रत्न) हैं, किन्तु आपकी अन्तरात्मा कठोरता (निर्दयता) से शून्य है, आप हरिचन्दनतरु हैं किन्तु वहाँ सर्पों का अभाव है (अर्थात् आप परोपकारी दयालु चेष्टाओं से युक्त हैं), आप तेज के निधि हैं किन्तु (मन की) ऊष्मा (गर्व) का निराकरण करने वाले हैं ।

उत्कृष्ट लक्ष्मी के कारण, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र रूप रत्नत्रय के भंडार, श्री वर्द्धमान के वचनों के आश्रय से मुनिजन आत्महिन माघन करते हैं और सामान्य जन पर अविनाशी मन्त्र प्रदान करते हैं । उन भगवान का ऐसा वृत्त समस्त जनों के लिए सतत हितकारी हो !

नररत्न साहू जी और जैन संस्कृति का उद्धार

□ श्री अग्ररचन्द नाहटा, बीकानेर

मानव मानव में बहुत अन्तर है जैसे कि हीरे व कांकरे में। एक मनुष्य दूसरो का हृदय सम्राट बन जाता है, दूसरा दूसरो के लिए आफत बन जाता है। अपनी प्रवृत्तियों से ही मनुष्य नर व नारायण बन सकता है और अपनी दुष्प्रवृत्तियों में पशु व नारकीय भी बन जाता है। इसलिए जो जो व्यक्ति अपने गुणों का उत्थान करते हैं तथा दूसरो के उत्थान में सहयोगी बनते हैं, वे सभी का आदर पाते हैं व स्वयं का भी कल्याण करते हैं। परन्तु अधिकतर लोग स्वार्थी होते हैं, परमार्थी बहुत ही कम। साहू जी का जीवन हमारे सामने है। उन्होंने अपनी खूब उन्नति की। खूब धन कमाया, पर साथ ही अच्छे कामों में खूब लगाया भी। सभी में सद् व्यवहार रखा। धन का मद नहीं किया। विलासिता में डूबे नहीं। अपने व्यवहार को बहुत संतुलित रखा, इसीलिए सभी के प्रिय भाजन हुए। हजारों-हजारों मुखों से उनकी प्रशंसा के गीत गाये जाते हैं और वे अपनी मुक्तियों से मर कर भी अमर बन गये। उनका कीर्तिध्वज बड़ी ही ऊँचाई पर लहरा रहा है। उनकी सहृदयता सबके दिल में घर कर गई है।

साहू जी ने थोड़े वर्षों में जितनी अधिक उन्नति की, उतनी बहुत ही कम व्यक्त कर पाते हैं। उनकी नम्रता व सरलता, सज्जनता और उदारता से जो भी उनके सम्पर्क में आये, प्रभावित हुए। सोभाग्य से रमा देवी जैसी विलक्षण और सुलक्षण वाली धर्मपत्नी उन्हें मिली। इससे उनकी मुक्तियों को बढ़ावा मिला और चार चाद लग गये। भारतवर्ष में एक लाख रुपये का प्रतिवर्ष साहित्यिक पुरस्कार देने की योजना अभूतपूर्व थी। यद्यपि विदेशों में यह परम्परा भारत से पहले प्रारम्भ हो चुकी थी, पर भारत में किसी का भी ध्यान इस ओर नहीं गया। अतः साहू दम्पति ने इसमें पहल की तथा सब के लिए एक कीर्तिमान स्थापित कर दिया। भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना और इतने बड़े साहित्य के प्रकाशन का काम भी जैन समाज के लिए अपने ढंग का एक ही कार्य है।

एक और साहू जी ने माता के नाम से मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला चालू की जिसमें बहुत से उत्कृष्ट जैन ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ व हो रहा है। दूसरी ओर, सर्वजनोपयोगी विविध प्रकार का उच्च स्तर का साहित्य प्रकाशित किया जा रहा है। साहित्य के क्षेत्र में इस प्रकार का व इतना बड़ा काम जैन समाज में तो दूसरे किसी ने नहीं किया।

जैन तीर्थों के उद्धार में भी साहू जी ने मुक्तहस्त एवं उदार भाव से लाखों रुपये खर्च किये और अब भी उनके फण्ड से वह काम चालू है, जिससे अनेकों जैन तीर्थों, मन्दिरों और मूर्तियों का संरक्षण हो सका। जैन शास्त्रानुसार नये मन्दिर व मूर्ति निर्माण की अपेक्षा जीर्णोद्धार में आठ गुना फल माना गया है। साहू जी ने इस कार्य द्वारा बहुत बड़ा पुण्य अर्जन किया। साथ ही, नाम की भी कामना नहीं की। काम को ही महत्त्व दिया। यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

देवगढ के जैन कला धाम तीर्थ का दर्शन-वदन करने मैं गया तो वहाँ देखा कि साहू जी ने वहाँ एक संग्रहालय भवन भी बना रखा है, जिसमें बहुत सी कलापूर्ण भव्य मूर्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह है। इस संग्रहालय द्वारा नष्ट होती हुई उत्कृष्ट जैन कला कृतियों का संरक्षण हुआ देख उनके कलानुराग के प्रति सद्भावना जगी।

वैसे तो साहू जी से हमारा परिचय काफी पहले से था। कलकत्ते में उनके भवन में जाने व उनसे बातचीत करने का प्रसंग मिलता रहा है। पर भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महात्सव के प्रसंग से हमारी घनिष्ठता बढ़ी। वे उस महात्सव के कार्याध्यक्ष थे। अतः सदस्य होने के नाते मेरा कई मीटिंगों में उनसे मिलना होता रहा। मेरी साहित्य साधना और जैन धर्म की गहरी पंड से वे भली भाँति परिचित थे। अतः समय-समय पर वे मेरे सामने अपनी जिज्ञासार्थ व प्रश्न रखते एवं परामर्श भी लेते। उनके दिल्ली के व्यावसायिक कार्यालय एवं उनके निवास-स्थान पर भी जाने व बातचीत करने का अवसर (शेष पृष्ठ ४ पेरे)

साहू जी और भावी समाजोत्थान योजना

□ डा० विद्याधर जोहरापुरकर, जबलपुर

स्वर्गीय साहू शान्तिप्रसाद जी से व्यक्तिगत प्रत्यक्ष संपर्क होने का सौभाग्य हमें प्राप्त नहीं हुआ। फिर भी उनके द्वारा वर्णित और संरक्षित साहित्यिक कार्यों में यत्किंचित् भाग लेने का अवसर अवश्य मिला। अतः उनकी स्मृति में आदरांजलि के रूप में कुछ विचार प्रकट करना अपना कर्तव्य समझ कर यह लेख प्रस्तुत किया जा रहा है।

स्वर्गीय साहू जी के बहुविध यशस्वी कार्यों में अन्तिम, भगवान् महावीर के निर्वाण की पच्चीसवीं शताब्दी के पूर्ण होने पर आयोजित विशाल समारोह था। चार-पांच वर्षों तक चले इन विविध आयोजनों में जैन समाज ने अपने अतीत और वर्तमान के गौरव का विस्तृत अनुभव किया। दर्शन, साहित्य और कला के क्षेत्रों में जैनो के योगदान पर विश्व के जैन-जैनेतर मनीषियों ने प्रशंसा के फूल बरसाये। महावीर निर्वाण सयन् की छब्बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ अत्यन्त उत्साहवर्धक रूप में हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि इस छब्बीसवीं शताब्दी में भी हमारे गौरव को अधिकाधिक उजागर करने वाले कार्यक्रम चलते रहेंगे। इसके साथ ही यह आवश्यक प्रतीत होता है कि जैन विचारक आत्मगौरव के बाँध में लिपटे न रहें तथा आधुनिक युग में प्राप्त नवीन ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में अतीत की उपलब्धियों का यथार्थपरक मूल्यांकन भी करते चलें। इसी दृष्टि से कुछ विचार यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

बिगत डेढ़ शताब्दी में विकसित समीक्षात्मक अध्ययन पद्धति का प्रयोग जैन विद्या के क्षेत्र में स्व० पं० मुल्तार जी, प्रेमी जी, जिनविजय जी आदि मनीषियों ने किया है। इनके प्रयत्नों से विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी के जैन साहित्य में व्याप्त संकीर्णता और भ्रान्तियों को समझने में काफी सफलता मिली है। किन्तु इस पद्धति का प्रयोग विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी के साहित्य के विषय में प्रायः नहीं हुआ है। इसके विपरीत, प्रतिक्रिया के रूप में इस युग के आचार्यों के विषय में पूजा की भावना अधिक बढ़ती

दिखाई देती है। अब समय आ गया है कि हम पुनः समीक्षात्मक अध्ययन पद्धति को अपनायें और सत्यान्वेषण को आदरभाव का बाधक न समझें। इस दृष्टि से विचार-णीय कुछ विषयों की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत है।

पुरातत्त्व :

भारतीय पुरातत्त्वज्ञों द्वारा खोजे गये सहस्रों शिलालेखों से जैन समाज के अतीत के विषय में बहुमूल्य जानकारी मिली है और महावीरोत्तर युग का इतिहास निश्चित करने में जैन पण्डितों ने भी इस सामग्री से लाभ उठाया है। किन्तु महावीर पूर्व युग के विषय में पुरातत्त्व की उपलब्धियों के प्रति जैन पण्डित उदासीन प्रतीत होते हैं। भारत के अनेक स्थानों के वैज्ञानिक उत्खनन के परिणामों का सार संक्षेप आलचिन दगल के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'दि वर्थ आफ सिविलाइजेशन इन इन्डिया' में उपलब्ध है। इसमें ज्ञान होता है कि ईसवी सन् पूर्व तृतीय शताब्दी तक भारतीय पाषाणयुग में ही थे। ई० पू० तेईसवीं शताब्दी में कृषि पर आधारित सम्य जीवन के साथ ताम्रयुग का आरम्भ हुआ जो लगभग एक सहस्राब्दी तक चला और फिर ईसवी सन् पूर्व दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में लोहयुग का प्रारम्भ हुआ। यहाँ ध्यान रखना होगा कि समयनिर्धारण के ये निष्कर्ष रेडियाकार्बन विधि-पर आधारित हैं—इन्हें भौतिक पदार्थ विज्ञान का ठोस आधार प्राप्त है—अतः केवल अनुमानात्मक कह कर इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इनके प्रकाश में भारत में आर्य सभ्यता के इतिहास का प्रारम्भ अब हम ईसवी सन् पूर्व बाईसवीं शताब्दी से करना होगा तथा हमारे पुराण पुरुषों की कथाओं में वर्णित लाखों-करोड़ों वर्षों की कालगणना को छोड़ना होगा। इस दृष्टि से वैदिक पुराण कथाओं के अध्ययन का उत्तम प्रयत्न पं० द्वारका प्रसाद मिश्र के ग्रन्थ 'स्टडोज इन दि प्राटा हिस्टरी आफ इन्डिया' में मिलता है। जैन पुराण कथाओं के विषय में ऐसे प्रयत्न अपेक्षित हैं।

अन्तरिक्ष युग :

पृथ्वी और ग्रह-नक्षत्रों के आकार और गति के विषय में विभिन्न विचार-धारायें पुरातन समय में प्रचलित थीं। वे प्रायः स्थूल निरीक्षण पर आधारित थीं। अतः उनकी ग्राह्यता के विषय में तर्क-वितर्क सम्भव थे। रूसी और अमरीकी वैज्ञानिकों द्वारा प्रवर्तित अन्तरिक्ष यात्राओं के फलस्वरूप यह विषय अब प्रत्यक्ष ज्ञान की कक्षा में आ गया है तथा चन्द्र के घरातल पर खड़े होकर मानव द्वारा लिए गए पृथ्वी के फोटो प्राप्त हो चुके हैं। इस नये ज्ञान के प्रकाश में हमारे त्रिलोक वर्णन सम्बन्धी परम्परागत विवरण परीक्षणयोग्य है। खेद की बात है कि अधिकांश जैन पण्डित केवल श्रद्धा के बल पर पुराने विवरणों से चिपके रहना चाहते हैं। इसके अपवाद स्वरूप जैनेन्द्र-सिद्धान्तकोश में क्षु० जिनैन्द्र वर्णी जी का यह अभिमत पढ़कर हमें सुखद आश्चर्य हुआ (भा० ३, पृ० ४५२) कि वर्तमान के भूगोल की, जिसका आधार इन्द्रियप्रत्यक्ष है, अवहेलना करना या उसे विश्वासयोग्य न मानना युक्त नहीं। इस दृष्टि का विस्तार अपेक्षित है।

संक्षेप में, जिस प्रकार स्वर्गीय साहू जी ने उद्योग के क्षेत्र में नवीन प्रवृत्तियों को आत्मसात् करने में सफलता पाई, उसी प्रकार जैन विचारकों को विद्या के क्षेत्र में नवीन प्रवृत्तियों को आत्मसात् करना होगा। हमारा विश्वास है कि नई पीढ़ी के अधिकतर जैन विद्वान् यही चाहते हैं। किन्तु इस समय उनके विचार आपसी बात-चीत या सीमित विद्वद्गोष्ठियों तक ही सीमित हैं। सामाजिक मंचों पर पुरातन के दोहराव की ही प्रवृत्ति लक्षित होती है। इस स्थिति में सुधार होकर, विद्वज्जन खुले मन से विचार व्यक्त करें तो जैन विद्या को बड़ा लाभ होगा। ऊपर केवल प्रथमानुयोग और करणानुयोग के ही विचारणीय विषयों की ओर संकेत किया गया है। इसी प्रकार, आधुनिक प्राणिशास्त्र आदि की उपलब्धियों से हमारे चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग भी लाभान्वित हो सकते हैं। श्रद्धालु समाज और विचारक इन दो वर्गों में वर्तमान समय में जो अन्तर पड़ा हुआ दिखता है उसे यथासम्भव कम करना तो इसी दिशा में प्रयत्नों से सम्भव होगा। □ □ □

(पृष्ठ २ का शेषांश)

मुझे मिला है। इससे उनकी जैन धर्म के प्रति श्रद्धा और धर्म की अधिक से अधिक सेवा करने की भावना, साहित्य कलानुराग एवं अनेक मानवोचित सद्गुणों का परिचय पाकर उनके प्रति मेरी सद्भावना में वृद्धि होती रही है।

बम्बई में निर्वाण महोत्सव की मीटिंग थी और मैं भी उसमें गया था। वहाँ जैन कला मर्मज्ञ पूज्य मुनि श्री यशोविजय जी के साथ जैन चित्रकला, मूर्तिकला आदि के सम्बन्ध में मैंने बहुत जिज्ञासा व अनुराग साहू जी से पाया। दो दिन तक कई घण्टे वे मुनि जी के सम्पर्क में रहे और काफी प्रेरणा प्राप्त की, इसका मैं साक्षी हूँ।

निर्वाण महोत्सव की अच्छा से अच्छा और अधिक से अधिक प्रभावकारी रूप में मनाने के लिए साहू जी में जितना उत्साह देखा, उतना और किसी में नहीं। वास्तव में जितना काम उन्होंने किया उतना हमारे किसी ने नहीं किया। अपने विशाल व्यापार पर बहुत कम ध्यान देकर वे निर्वाण महोत्सव की सफलता के लिए पूर्ण रूप से जुट गये। जिससे भी, जहाँ से भी, जो अच्छा सुभाव उन्हें

मिला व जो भी अच्छी बात उनके ध्यान में आ गई, तुरंत कार्य रूप में परिणत की। यदि वे और कुछ वर्ष जीते तो जो काम अधूरे रह गये वे काफी हद तक पूरे हो जाते।

जैन समाज के चारों सम्प्रदायों में एकता लाने व दृढ़ करने के लिए उन्होंने बहुत बड़ा प्रयत्न किया। अपनी ओर से वे पूर्ण सावधान रहे कि सभी सम्प्रदायों के प्रमुख मुनियों व व्यक्तियों का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त किया जाय व किसी को भी ऐसा न लगे कि वे दिगम्बर का कुछ भी पक्षपात कर रहे हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय की एकता के लिए भी, अन्तिम समय में भी, उन्होंने बहुत अच्छा प्रयास किया। खेद है कि हम उनकी भावना, कार्यक्षमता, तत्परता उदारता से जितना अधिक लाभ उठाना चाहिए था, नहीं उठा पाये और निर्वाण महोत्सव के बाद हमारी एकता व जागृति में बहुत कमी आ गयी। अतः ऐसे समय में उनका आकस्मिक चला जाना बहुत ही अखरता है। उनके अभाव की पूर्ति असंभव सी हो गई है। एक नररत्न को हम खो बैठे हैं। □ □ □



साहू जी के ज्येष्ठ पुत्र
श्री साहू अशोक कुमार जैन
बीर-सेवा-मन्दिर के वर्तमान अध्यक्ष



तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई के साथ परिवार के सदस्य
[बायें से बायें : श्री अशोक कुमार जैन, श्री साहूजी, श्रीमती इन्दु जैन (पुत्रवधू) एवं श्री आशोक प्रकाश जैन]



ज्ञानपीठ पुरस्कार समारोह : श्री साहूजी तत्कालीन राष्ट्रपति श्री बी० बी० गिरि के साथ

जैन समाज के शिरोमणि

□ श्री भगत राम जैन, बिस्ली

उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत नजीबाबाद के पुराने घरानों में साहू जैन घराना बहुत प्रतिष्ठित रहा है। शान्तिप्रसाद जी का जन्म इसी नगर और घराने में सन् १९१२ में हुआ था। उनके पितामह साहू सलेकचन्द जैन थे। पिता श्री बीबान चन्द जी और माता श्रीमती मूर्तिदेवी जी थी।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा नजीबाबाद के शिक्षा केन्द्रों में हुई। हाई स्कूल करने के बाद आपने काशी विश्व-विद्यालय में प्रवेश किया। वहाँ से फिर आगरा विश्व-विद्यालय में आ गये। आगरा विश्वविद्यालय से ही बी० एस-सी० परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। वस्तुतः आपका समूचा विद्यार्थी जीवन प्रथम श्रेणी का रहा और यह केवल अध्ययन और ज्ञानोपाार्जन की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि अन्य दृष्टियों से भी। वे सभी सद्गुण और सद्गुणियों आप में विकसित हुई जो सफलता के शिखर तक पहुँचने के लिए आवश्यक है।

उद्योग के क्षेत्र में आपने तीसरे दशक में पदार्पण किया था और प्रारम्भ से ही अपनी दृष्टि इस और केन्द्रित की कि न केवल देश के उद्योग व व्यवसाय का विकास और अभिवर्द्धन हो, बल्कि संचालन प्रणालियों में भी नये-से-नये प्राविधिक रूपों का अन्वयन हो। इसके लिए आपने स्वयं विभिन्न आधुनिक पद्धतियों का गम्भीर अध्ययन किया तथा विविध विषय-क्षेत्र में निरन्तर गवेषणायें कराईं। अर्थशास्त्र और वित्तीय सिद्धान्तों और पद्धतियों का आपका बड़ा व्यापक और विशद अध्ययन था और प्रत्येक विषय से सम्बद्ध आँकड़ों एवं विवरण की जानकारी उन्हें इस प्रकार हृदयगम थी कि वह देश-विदेश के प्राथिक मामलों के तथ्य को पूरे परिप्रेक्ष्य में देखकर सही निष्कर्ष निकालते थे और अपनी प्रतिभा से सबको चकित कर देते थे। विशेष रूप से भारतीय उद्यम और भारतीय क्षमता के प्रति आप अपने औद्योगिक जीवन के प्रारम्भ से

ही अग्रगण्य आस्थावान रहे।

साहू साहब ने अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति को दृष्टि में रखते हुए आवश्यकता के अनुरूप अन्त्यान्त्य देशों का भ्रमण-पर्यटन भी किया। सर्वप्रथम १९३६ में वह डच-ईस्ट-इंडीज गये, फिर १९४५ में आस्ट्रेलिया और १९५४ में सोवियत रूस। ये तीनों यात्रायें उन्होंने भारतीय औद्योगिक प्रतिनिधि के रूप में की थी और परिणामों की दृष्टि से ये अग्रगण्य उल्लेखनीय मानी जाती हैं। ब्रिटेन, अमेरीका, जर्मनी तथा अन्य कई योरोपीय देशों का भी आपने परिभ्रमण किया और अनुभवों के समावेशन द्वारा साहू जैन उद्योगों को अविकाषिक समृद्ध किया।

मचमुच जिस सहजता के साथ उद्योग एवं व्यवसाय के क्षेत्र में साहू जी ने सफलता प्राप्त की, वह उनकी स्वभावगत प्रतिभा और सूक्ष्मबुद्धि, संगठन क्षमता तथा अध्यवसाय और सहनशीलता की सम्मिलित देन है। पिछले लगभग ४५ वर्षों में आपने विभिन्न प्रकार और प्रकृति के उद्योग धर्मों की एक सुविस्तृत श्रेणी की स्थापना एवं संचालन करने के देश के औद्योगिक विकास में योगदान किया और अनेक उद्योगों का नेतृत्व किया। इस श्रेणी के अन्तर्गत जहाँ एक ओर कागज, चीनी, वनस्पति, सोमेट, एस्बेस्टस प्रोडक्ट्स, पार्ट निमित्त वस्तुयें, भारी रसायन, नाइट्रोजन खाद, पावर एक्कोहल, प्लास्टिक, साइकिल, कोयले की खानें, लाइट रेलवे व इंजीनियरिंग वर्क्स आते हैं वहाँ दूसरी ओर हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी और गुजराती के दैनिक पत्र और आवधिक पत्रिकायें और महत्वपूर्ण सांस्कृतिक साहित्यिक शोध एवं प्रकाशन के कार्य भी आते हैं।

विगत वर्षों में देश की विभिन्न शीर्ष व्यवसाय-संस्थाओं के आप अध्यक्ष रहे हैं। इनमें प्रमुख हैं—फंडेशन आफ इंडियन चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इन्डस्ट्री,

इंडियन चेम्बर आफ कामर्स, इंडियन शुगर मिल्स एसोसिएशन, इंडियन पेपर मिल्स एसोसिएशन, बिहार चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इन्डस्ट्री, राजस्थान चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इन्डस्ट्री, ईस्टर्न यू० पी० चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इन्डस्ट्री। चार वर्ष तक लगातार आप आल इंडिया आर्गेनाइजेशन आफ इंडस्ट्रियल एम्प्लायर्स के भी अध्यक्ष रहे और इसी अवधि में, भारतीय श्रमव्यवस्था सम्बन्धी नियम बनते समय आपने उद्योग-धर्मों का व्यावहारिक दृष्टिकोण उपस्थित किया।

अपनी विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्नता तथा व्यापक अनुभव के कारण साहू जी देश के उद्योग एवं व्यवसाय वर्ग द्वारा अनेक अवसरों पर सम्मानित किये गये। स्वर्गीय प० जवाहरलाल जी ने देश की औद्योगिक प्रगति की वैज्ञानिक परिकल्पना को कार्यान्वित करने के लिए जो प्रथम राष्ट्रीय समिति बनाई थी उसमें देश के तरुण औद्योगिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के लिए आपको इसका सदस्य बनाया था।

साहू साहब को भारतीय धर्म दर्शन और इतिहास तथा सांस्कृतिक विषयों के अध्ययन में भी प्रतिरिक्त रुचि थी। भारतीय कला एवं पुरातत्त्व के क्षेत्र में भी वे साधिकार चर्चा किया करते थे। धार्मिक श्रद्धा में वे अडिग थे। भारतीय भाषाओं एवं साहित्य के विकासोन्मयन की दिशा में आपका अति विशिष्ट योगदान रहा। आपके द्वारा सन् १९४४ में भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना एवं अपनी सह-धर्मिणी स्वर्गीया श्रीमती रमा जैन के साथ उसकी कार्य-प्रवृत्तियाँ, विशेषकर उसके द्वारा प्रवर्तित भारतीय भाषाओं की सर्वश्रेष्ठ सृजनात्मक साहित्यिक कृति पर प्रतिवर्ष एक लाख रुपये की पुरस्कार योजना की परिकल्पना और अब तक ११ पुरस्कारों के निर्णयों को कार्यविधि में अनवरत रुचि एवं मार्गदर्शन, उनकी दूरदर्शिता एवं क्षमता के बहुप्रशंसित अमर प्रतीक हैं। ज्ञानपीठ के प्रतिरिक्त आपने साहू जैन ट्रस्ट, साहू जैन चैरिटेबल सोसायटी तथा अनेक शिक्षण संस्थाओं की भी स्थापना की। बेंगाली, प्राकृत, जैन धर्म एवं अहिंसा शोध-संस्थान को तथा प्राचीन तीर्थों एवं मन्दिरों आदि के जीर्णोद्धार में आपने प्रचुर धन-

दान दिया है। आप अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ-क्षेत्र कमेटी, बम्बई तथा अहिंसा प्रचार समिति, कलकत्ता, अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् एवं मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी तथा भारत जैन महामंडल के अध्यक्ष रह चुके थे।

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के कार्यक्रमों को सफल बनाने में आपका सर्वाधिक योगदान रहा है। जैन समाज के चारों सम्प्रदायों की ओर से गठित भगवान महावीर २५००वां निर्वाण महोत्सव महा-समिति के आप कार्याध्यक्ष थे। भारत की सम्पूर्ण दि० जैन समाज की ओर से गठित आल इंडिया दिगम्बर भगवान महावीर २५००वां निर्वाण महोत्सव सोसायटी एवं बंगाल प्रदेश क्षेत्रीय समिति के अध्यक्ष के रूप में आपने देश-व्यापी सांस्कृतिक चेतना को जागृति किया। भारत सरकार द्वारा गठित राष्ट्रीय समिति और बिहार तथा बंगाल की समितियों में भी आपने महत्वपूर्ण पदों का दायित्व तन्मयता से सम्भाला। निर्वाण महोत्सव के बहुमुखी कार्यक्रमों को आपने चिन्तन, उत्साहपूर्ण नेतृत्व और मुखर श्रद्धा के प्रत्यक्ष प्रभाव से उपलब्धियों का जो वरदान दिया है वह जैन समाज के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा।

समाज ने अपनी श्रद्धा स्वरूप आपको 'दानवीर' तथा 'श्रावक-शिरोमणि' की उपाधियों से सम्मानित किया। उनके निधन से श्री साहूजी के बड़े भाई श्री श्रेयांसप्रसाद जैन को, साहू जी के बड़े पुत्र श्री अशोककुमार जैन, मंभले पुत्र श्री आलोकप्रकाश जैन एवं कनिष्ठ पुत्र श्री मनोजकुमार जैन को, उनकी पुत्री श्रीमती अलका जालान एवं सारे परिवार को जो मर्यान्तिक आघात पहुंचा है उसके प्रति समाज की सहज सम्बेदना उत्प्रेरित है। वास्तव में, उनका देहान्त सामाजिक इतिहास का एक युगान्त है।

मेरा उनका साथ लगभग सन् १९५० से था। जैन समाज की गतिविधियों में मुझे उनके साथ कार्य करने का बहुत अधिक अवसर मिला। उनके निधन से मुझे तो अपार क्षति हुई है। मैं उनके चरणों अपने श्रद्धा के सुमन अर्पित करता हूँ।

□ □ □

सौजन्य-मूर्ति साहू जी : कुछ संस्मरण

□ पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

दानवीर सर सेठ श्री हुकमचन्द जी के बाद श्री साहू शान्ति प्रसाद जी ने दिगम्बर जैन समाज का नेतृत्व जिस स्तर से संभाला उससे समाज के गौरव की चौमुखी वृद्धि हुई। क्या तीर्थ क्षेत्र, क्या शिक्षा, क्या प्रकाशन, क्या सामाजिक सेवा, सभी कार्यों को आपने जिस तत्परता से संभाला वह सबके समक्ष है। समस्त तीर्थ क्षेत्रों पर नया निर्माण न करा कर जीर्णोद्धार में आपने जो द्रव्य खर्च किया है और द्रव्य ही नहीं आपने निरीक्षकों को भेज कर उनकी देख-रेख में, स्थायी काम कराया है जो उससे अनेक क्षेत्रों का कार्याकारण हो गया है। पपोरा का भोंयरी का मन्दिर और अहारजी का शान्तिनाथ मन्दिर इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। बिहार प्रान्त ही नहीं, भारत के सभी प्रान्तीय क्षेत्र आपके द्वारा उपकृत हुए हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने वाली संस्थाओं का आपने भरपूर पोषण किया है। बनारस के स्याद्वारा विद्यालय और सागर के गणेश दिगम्बर जैन विद्यालय को आपने पर्याप्त सहायता देकर स्थायी बनाया है। आपके द्वारा स्थापित छात्रवृत्ति कोष से अनेक असहाय छात्र, छात्रवृत्ति पाकर अपना जीवन सुसम्पन्न कर रहे हैं।

प्रकाशन की दिशा में भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना कर आपने जो काम किया है, वह देश में ही नहीं विदेशों में भी गणनीय माना गया है। ज्ञानपीठ की मूर्ति देवी ग्रन्थमाला के माध्यम से दिगम्बर जैन प्राचीन ग्रन्थों के जो आधुनिक संस्करण प्रकाशित हुए हैं तथा लोकोदय ग्रन्थमाला के माध्यम से जो विपुल हिन्दी साहित्य सामने आया है उसे देखते हुए हृदय में बड़ा सन्तोष होता है। महापुराण एकन्दो भाग, उत्तर पुराण, पद्मपुराण, १-२-३ भाग, हरिवंश पुराण, गद्य चिन्तामणि, पुरुषोत्तम चम्पू, जीवन्धर चम्पू और धर्मशर्माम्युदय आदि ग्रन्थ जिस साज सज्जा और विविध सामग्री के साथ प्रकाशित

हुए, उससे समाज को बड़ा हर्ष हुआ और कितने ही ग्रन्थों के द्वितीय संस्करण छा चुके हैं।

तीर्थ क्षेत्रों सम्बन्धी जो विशाल सचित्र ग्रन्थ अभी हाल ही में प्रकाशित हुए हैं उनसे दिगम्बर जैन क्षेत्रों के पुरातत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के ४ भाग एक बड़ी निधि के रूप में माने गये हैं।

प्रकाशन के प्रतिवृत्त, आप देश की सभी भाषाओं के सर्वोत्तम लेखक की कृति को एक लाख रुपये के नगद पुरस्कार से सम्मानित करते हैं। इससे लेखकों को जो सहकार और प्रोत्साहन प्राप्त होता है उसकी सर्वत्र सराहना हो रही है।

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के सम्बन्ध में माननीय साहूजी की तत्परता से ही उसे गौरव के साथ सफलता प्राप्त हुई है। समाज में हाने वाले विविध आयोजनों में आप स्वयं पहुँचते रहे हैं और अपने सामयिक सम्बोधनों से समाज को संबोधित करते रहे हैं। पिछले वर्ष अस्वस्थता के रहते हुए भी आप द्रोणगिरि क्षेत्र पर होने वाले गजरथ महोत्सव में शामिल हुए थे। आपके साप्तिह्य तथा सामयिक सम्बोधन से वहाँ की विशाल जनता बहुत ही प्रभावित हुई थी।

पूज्य गणेशप्रसादजी बर्णीजी के आप विनम्र भक्त थे। जब तक वे इसरी में विद्यमान रहे, तब तक उनके जयन्ती समारोहों में पहुँचते रहे हैं। उन्हीं समारोहों में बिहार प्रान्त में फैले हुए सराक जाति के उद्धार की योजना बनी थी और उस योजना के पुरस्कर्ता माननीय साहूजी थे।

साहूजी अत्यन्त विनम्र व्यक्ति थे। कई बार उनसे साक्षात्कार हुआ। कोई न कोई नयी बात उनके साक्षात्कार से प्राप्त होती थी। एक बार वे प्रतिशय क्षेत्र महावीर जी में बन रहे कीर्तिस्तम्भ का शिलान्यास करने गये थे। उसका विधि-विधान मैंने कराया था। विधि

विधान के बाद भगवान महावीर २५००वां निर्वाण समारोह के विविध आयोजनों पर विचार होता रहा। जाते समय स्टेशन पर मेरी पत्नी ने मुझसे पूछा कि साहूजी कौन हैं? मैंने कहा कि वे खड़े हैं काला कोट पहने। ये शब्द उन्होंने सुन लिये। सुनते ही पत्नी के पास खड़े होकर कहने लगे—माता जी जय जिनेन्द्र।

द्रोणगिरि के गजरथ महोत्सव में पास-पास ठहरने में अधिक सम्पर्क रहा। मैंने कहा कि आप यहां तक आ गये हैं, अतः सागर चलकर पूज्य वर्णी जी का विद्यालय भी आपको देखना है। वे बोले कि सागर चलने की इच्छा तो बहुत समय से है, पर शरीर इतनी लम्बी यात्रा करने में समर्थ नहीं है। आपका आग्रह ही तो सागर चलूँ या नैनागिरि जी के दर्शन कर आऊँ। दो जगह में से एक ही जगह जा सकता हूँ। उनके शरीर की स्थिति को देखते हुए मैं चुप हो गया। वे नैनागिरि जी के दर्शन कर द्रोणगिरि जी वापिस आ गये। वहाँ उनके हाथ से छात्रावास का शिलान्यास कराया गया। रात्रि को विशाल जन समूह में आपका सारगर्भित भाषण हुआ। धार्मिक भाषण के बाद उन्होंने समाज की आर्थिक स्थिति को सुधारने के सन्दर्भ में भी अनेक उपाय बतलाये। उन्होंने कहा कि एक व्यक्ति बड़े उद्योगों की क्षमता नहीं रखता है, यह ठीक है, परन्तु अनेक लोग मिलकर परस्पर के सहयोग से बड़े-बड़े कार्य कर सकते हैं। औद्योगिक कार्यों में लगन और धैर्य की आवश्यकता होती है। अन्त में कहा कि पूज्य वर्णी जी की साधना भूमि बुन्देलखण्ड का अतीत गौरवशाली रहा है। तभी तो यहां अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण हुआ है।

एक बार आप अहार जी तथा पपीरा जी गये थे। साथ में रमा जी तथा छोटा पुत्र भी था। उस समय मैं भी वहां गया था। शान्तिनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार देख कर उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रगट की थी।

सागर विद्यालय का स्वर्ण जयन्ती उत्सव सम्मेलन शिखर जी मे करने की स्वीकृति लेने के लिए एक बार हम और संगीरिया जी कलकत्ता गये थे। तब आपने स्वीकृति देते हुए बड़ी प्रसन्नता प्रकट की थी। इसके एक वर्ष पूर्व बनारस के स्याद्वारा विद्यालय का स्वर्णजयन्ती उत्सव सम्मेलन शिखर जी मे सम्पन्न हुआ था और उसकी अध्यक्षता स्वयं साहूजी ने की थी। सागर विद्यालय के उत्सव के समय सम्मेलन शिखर जी नहीं पहुँच सके। परन्तु बाद में पूज्य वर्णी जी के पास गिरीडीह में आकर, न आ सकने पर खेद प्रकट किया और सागर विद्यालय को प्रति वर्ष ५०००) की सहायता देना स्वीकृत कर गये। वह सहायता बराबर आती रही। अब दो वर्ष पूर्व ८०००० के शेषर्स देकर उस सहायता को स्थगित किया है। ईमरी में पूज्य वर्णी जी का स्मारक बनाया गया है। उसके उद्घाटन के समय साहूजी स्वयं पधारे थे। मुझे भी पहुँचने का अवसर मिला था। उस समय वे पूज्य वर्णी जी का गुणगान करते हुए गद्गद हो गये; बोले कि मुझपर कोई आपत्ति आती है और सपने में वर्णी जी के दर्शन हो जाते हैं तो सब आपत्ति टल जाती है। मेरी उनके प्रति बहुत भारी आस्था है।

वे एक सौजन्य-मूर्ति थे। उनके प्रति स्मृति श्रक का प्रकाशन करना कृतज्ञता प्रकाशन का एक प्रशस्त रूप है।

□ □ □

प्राचीन काल में जैन धर्म

महा सम्राट् चन्द्रगुप्त के दरबार में सेल्यूकस के राजदूत मेगास्थनीज ने अपने 'भारतवर्षीय वर्णन' में लिखा कि—“भारतीयों के दो सम्प्रदाय हैं—एक ‘सरमनाई’ (Sarmanai) (अर्थात् भ्रमण) और दूसरा ‘ब्राचमनाई’ (Brachmanai) (अर्थात् ब्राह्मण)। सरमनाई ही के अन्तर्गत वे दार्शनिक हैं जो ‘हाइलोप्योह’ कहलाते हैं। वे नगरों और घरों में नहीं रहते, बूख की छाल से अपने को ढँकते हैं और जल अपने हाथों से मुंह तक ले जाकर पीते हैं। वे न विवाह करते हैं, न सप्तानोत्पादन।”

मीलाना सुलेमान नब्वी द्वारा लिखित ‘ग्रन्थ और भारत के सम्बन्ध’ नामक ग्रन्थ में लिखा है कि—संसार में पहले दो ही धर्म थे—एक समनियन और दूसरा कॅलिडियन। ‘समनियन’ लोग पूर्व के देशों में थे। सुरासान वाले इनको बहुवचन में ‘समनान’ और एक वचन में ‘सामन’ कहते हैं। चीनी यात्री ह्वेन्सांग ने भी ‘भ्रमजेरस’ (Sramaneras) नाम से ‘भ्रमज’ का उल्लेख अपनी यात्रा के प्रसंग में किया है।

आदर्श समाज नेता

□ श्री वंशीधर शास्त्री एम. ए., जयपुर

आदरणीय साहू शान्तिप्रसाद जी की स्मृति हमें उस महान आत्मा का स्मरण कराती है जिन्होंने अपने अथक श्रम व दूरदर्शिता से बड़े-बड़े उद्योगों का संचालन ही नहीं किया, अपितु भारतीय साहित्य, संस्कृति के गौरव को बढ़ाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। वे कोटपा-चीश होते हुए भी समाज, संस्कृति एवं धर्म संस्थानों के लिए साधारण कार्यकर्त्ता बन जाते थे।

वे समाज के उत्थान के लिए सतत जागरूक रहते थे। वे समाज की मान-मर्यादा को उच्च स्तर पर रखना चाहते थे। सन् १९६० में कलकत्ता पुलिस ने वहाँ के प्रसिद्ध रथ यात्रा जुलूस के लिए नग्न साधु के प्रवेश की निषेधाज्ञा युक्त स्वीकृति देनी चाही थी। समाज के अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने यह कह कर ऐसी स्वीकृति के लिए हाँ करना चाहा था कि अभी वहाँ मुनि नहीं है, अतः ऐसी निषेधाज्ञा मान कर जुलूस की स्वीकृति ले लेनी चाहिए। लेकिन साहू जी जैसे स्वाभिमानियों के लिए ऐसा तर्क स्वीकार्य नहीं था। उन्होंने स्पष्ट कहा कि यह किसी व्यक्ति के अभी होने या न होने का प्रश्न नहीं है, यह

बोतराग दिगम्बर धर्म का प्रश्न है, भले ही जुलूस न निकले, किन्तु दिगम्बर साधुओं के प्रवेश की निषेधाज्ञा को हमें स्वीकार नहीं करना चाहिए। पुलिस अधिकारियों ने ऐसी निषेधाज्ञा बिना जुलूस के लिए स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया। अन्त में साहू जी के व्यक्तिगत उच्च-स्तरीय प्रयत्नों से मुनिप्रवेश के निषेध बिना ही रथयात्रा की स्वीकृति मिल गई।

साहू जी ने साहित्य के संरक्षण, सर्वर्द्धन के लिए भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना तो की ही, साथ ही साहित्यकारों को प्रोत्साहित करने के लिए भारत का नोबिल पुरस्कार—‘ज्ञानपीठ पुरस्कार’—की स्थायी योजना बनाई। मेरा ज्ञानपीठ के वर्तमान पदाधिकारियों से निवेदन है कि वे इस पुरस्कार का नाम ‘शान्तिप्रसाद जैन पुरस्कार’ घोषित कर उनकी स्मृति को चिरस्थायी बनावे।

साहूजी जैन तीर्थों के जीर्णोद्धार के लिए सर्वदा चिन्तित रहे। उन्होंने अनेक तीर्थों के विकास के लिए सब प्रकार का सहयोग दिया। उनकी यह विशेषता अनुकरणीय है कि उन्होंने हजारों, लाखों रुपए का दान कर भी कभी अपना नाम लिखाने-छपाने की चिन्ता नहीं की।

वे समाज की फूट एवं संघर्ष में व्यथित रहते थे। उनका हमेशा यही प्रयास रहता था कि समाज में एकता रहे, ताकि समाज अपने धार्मिक आराधनों की रक्षा करता हुआ राष्ट्र की गतिविधियों में अपना समुचित स्थान प्राप्त कर सके। समाज में एकता का स्थायी रूप बना रहे, इसके लिए हम सब प्रयत्न करें यही हमारी उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी। एकता होने से ही समाज अपनी सर्वतोमुखी प्रगति कर सकेगा, अन्यथा नहीं।

□ □

११५५ चाणक्य मार्ग, सुभाष चौक,

जयपुर (राजस्थान)

ज्योतिर्मय व्यक्तित्व

संस्कृति क्षितिज का ज्योतिर्मय,

एक नखत ज्यों टूट गया।

संस्कृति सरगम का ज्यों कोई,

मधुरिम स्वर ज्यों टूट गया ॥

साहित्य, संस्कृति को जिसने —

प्रति क्षण सजीवनी दी;

वह दानी कर्ण, अमण —

संस्कृति का, असमय रूठ गया ॥

—श्री मिश्रीलाल जैन, एडवोकेट

पृथ्वीराज मार्ग, गुना (म० प्र०)

संगत श्री-सरस्वत्योः

□ डा० हरीन्द्र भूषण जैन एम. ए., पी-एच. डी., उज्जैन

विश्ववन्द्य महाकवि कालिदास ने अपने विक्रमोर्वशीय नाटक के भरतवाक्य में लिखा है :—

परस्परविरोधिभ्योरेकसंश्रयदुर्लभम् ।

सङ्गतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम् ॥

अर्थात्—परस्पर विरोधिनी श्री एवं सरस्वती का एक स्थान पर समागम यद्यपि दुर्लभ है, फिर भी सज्जनों की समृद्धि के लिए इन दोनों का समागम हो ।

ऐसा लगता है कि महाकवि की उपर्युक्त कामना को साकार करने के लिए ही भारत के गौरव एवं जैन समाज के अनभिषिक्त सम्राट् साहू शान्तिप्रसाद जून ने इस भारत-भू को अलंकृत किया था ।

‘साहू’ शब्द जैन संस्कृति का महत्वपूर्ण शब्द है । अनादि-निघन-मन्त्र में हम सभी पढ़ते हैं—“णमो लोए सच्च-साहूण” । ‘साहू’ का अर्थ है साधु अर्थात् सरल, निश्छल, विनीत, सेवाभावी, स्वपर-कल्याणी आदि । हमारे शब्दों में, मानवता के जितने विभूषण हम वसुन्धरा पर सम्भव है, ‘साहू’ ने उन सबको समेट लिया है । यदि हम वहे कि श्रद्धेय साहूजी का नामाग्र ‘साहू’ न केवल सार्थक है, प्रत्युत वह उनके समग्र जीवन के लक्ष्य, आदर्श एवं वितन की प्रतिबिम्बित करता है, तो यह कोई अत्युक्ति न होगी । अन्तिम क्षणों में उनकी अभिलाषा हस्तिनापुर में मुनिश्री शान्तिसागर महाराज के निकट साधु जीवन व्यतीत करने की थी ।

साहूजी ने अपने जीवन में, विशेषतः उद्योग-व्यवसाय के क्षेत्र में जो अनेक लक्ष्य प्राप्त किए, वे निःसन्देह असाधारण हैं । पर हम जिस बात को अत्यन्त महनीय मानते हैं वह उनका राष्ट्र की सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं शैक्षणिक प्रगति में अदृष्टपूर्व योगदान ।

साहू जी भारतीय धर्म एवं दर्शन, इतिहास तथा संस्कृति और पुरातत्व एवं कला के अध्ययन में विशेष रुचि रखते थे । उनके मन में भारतीय भाषाओं और साहित्य के विकास का दृढ़ सकल्प था । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना की और भारतीय भाषाओं की सर्वश्रेष्ठ सृजनात्मक साहित्यिक कृति पर प्रतिवर्ष एक लाख रुपये के पुरस्कार की घोषणा की ।

साहूजी की जैन धर्म और दर्शन के प्रति प्रट्ट श्रद्धा थी । वे प्राकृत भाषा और उसके साहित्य के उन्नयन में विशेष रुचि लेते थे । इस विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए उन्होंने ‘अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन’ के भूतपूर्व प्रधान अध्यक्ष यशशेष डा ए. एन. उपाध्ये, प्राकृत एवं जैनोलाजी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष स्वर्गीय डा. हीरालालजी, प. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री आदि के परामर्श एवं सहयोग से स्व. पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की पवित्र स्मृति में, भारतीय ज्ञानपीठ के अन्तर्गत ‘मूर्ति देवी जैन ग्रंथमाला’ की स्थापना की । इस ग्रंथमाला के माध्यम से प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध विषयक जैन-साहित्य का अनुसन्धान-पूर्ण सम्पादन, अनुवाद एवं प्रकाशन हो रहा है । जैन भंडारों की सूचियां, जैन शिलालेख संग्रह और लोक-हितकारी जैन साहित्य भी इसी ग्रंथमाला में प्रकाशित हो रहा है ।

साहूजी ने भगवान् महावीर के २५ सौवें निर्वाण महोत्सव को, सभी सम्प्रदायों के द्वारा मिल कर सफल बनाने में जो अभूतपूर्व योगदान दिया, वह अविस्मरणीय है । इस अवसर पर यदि भारतीय ज्ञानपीठ ने अपने महत्वपूर्ण प्रकाशन न किए होते तो महावीर परिनिर्वाण महोत्सव केवल उत्सवों और भाषणों में ही उलभ कर रह जाता ।

साहूजी ने प्राचीन जैन तीर्थों और मन्दिरों के जीर्णोद्धार में प्रचुर अर्थदान किया । उन्होंने साहू जैन कालेज, नजीबाबाद जैसी अनेक शैक्षणिक संस्थाओं की भी स्थापना की ।

जैन शिक्षा के क्षेत्र में साहूजी का जो अविस्मरणीय योगदान है, वह है वैशाली में ‘प्राकृत, जैन धर्म एवं अहिंसा शोध संस्थान’ तथा मैसूर विश्वविद्यालय में ‘साहू जैन चेयर इन जैनोलाजी’ की स्थापना ।

इस प्रकार, दानवीर एवं श्रावक शिरोमणि साहू श्री शान्तिप्रसाद जी ने अपने जीवन के ६५ यशस्वी वर्ष मानवता की सेवा में व्यतीत किए । भारत माता के इस सच्चे सपूत को मेरा सादर प्रणाम । □ □ □

रीडर, संस्कृत विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जैन (म० प्र०)

साहू शान्तिप्रसाद : सेठ और साधु

□ डा० प्रेमसागर जैन, एम. ए., पी-एच. डी., बड़ौत

साहू शान्तिप्रसाद जैन सेठ थे तो साधु भी थे, ऐसा मैं अनेक वर्षों के सम्पर्क से जान सका हूँ। जब शान्तिप्रसाद जैन मेरठ में पढ़ते थे, तो वहाँ के ही एक होस्टल में रहते थे। होस्टल के बरान्धे में शहद की मक्खियों का बहुत बड़ा छत्ता लगा हुआ था। कुछ छात्र उसे तोड़ने का प्रयत्न करते थे, तो शान्ति जी नाना उपायों से उन्हें रोके रहते थे। एक दिन वे शहर गये हुए थे कि कुछ छात्रों ने उस छत्ते को तोड़ डाला। मक्खियों को मार दिया। जब शान्ति भाई लौट कर आये और उन्होंने ऐसा देखा तो रोने लगे ! उस समय उनका रो पड़ना छात्रों के मध्य बड़ी चर्चा का विषय रहा। इससे उनके भावुक दिल और अहिंसक भाव का परिचय मिलता है। वे एक पुराने जैन सरकारी से युक्त खानदान में जन्मे थे।

मैंने ऐसा अनेक अवसरों पर देखा कि दीन-दुखी को देख कर उनका दिल दया-द्रवित हो उठता था। उन्होंने आगे चलकर, गरीब छात्रों की भलाई के लिए ही 'साहू जैन ट्रस्ट' की स्थापना की, जिसकी सहायता से अनेक जैन और अजैन छात्र विद्याध्ययन कर सके और आज बड़े-बड़े पदों पर प्रतिष्ठित हैं। यह ट्रस्ट अब भी चल रहा है और अनेक नवयुवा उससे लाभान्वित हो रहे हैं।

साहू जी की एक सबसे बड़ी विशेषता है—अनहकार। उन्होंने छोटे-बड़े का भेद किये बिना समान भाव से गुणियों का समादर किया। मैं उन दिनों भारतीय ज्ञान-पीठ की 'प्रकाशन समिति' का सदस्य था। एक लाख के पुरस्कार समारोह के अवसर पर 'प्रकाशन समिति' की बैठक हुआ करती थी। डा० ए० एन० उपाध्ये, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री और प० कैलाशचन्द्र जी भी सदस्य थे। हमारे ठहरने का प्रवन्ध प्रायः 'साहू श्रैयामप्रसाद गेस्ट हाउस', गौतमलिक रोड पर किया जाता था। तीन सदस्य दूर के थे। वे पहले ही आ जाते थे—एक दिन पहले

अथवा समारोह वाले दिन प्रातःकाल। मुझे समीप से जाना होता था, अतः निश्चित रहता था और किसी-किसी वर्ष शाम के चार बजे तक पहुँच पाता था। इस वीच साहू शान्तिप्रसाद कम-से-कम पाँच बार टेलीफोन कर मालूम करते थे कि प्रेमसागर अभी तक आये या नहीं। भोजन के समय वे सदैव मुझे अपने पास बैठा कर खिलाते थे। बड़े-बड़े लोगों से मेरा परिचय बहुत अच्छे शब्दों में करता था और मैं सकुचित होकर रह जाता था। मेरे अन्दर जो इन्फीरिटी है वह दिल्ली के उस उच्च वर्ग में स्पष्ट हो उठती थी। शायद वह यह सब कुछ समझते थे, इसीलिए मुझे अधिकाधिक प्रोत्साहन और प्रेरणा देते थे और मेरा ऐसा चित्र खींचते थे, जैसा कि मैं नहीं हूँ। उनकी इस सदाशयता का मैं सदैव ऋणी रहा।

साहू जी की सहृदयता जन्म-जात थी। उनका स्वभाव ही ऐसा था। जो कुछ उठता, भाँतर से। दिखावे वाली बात ही नहीं थी। आज की उदारता के पीछे दिखावे के न-जाने कितन मुखौटे चढ़े हुए हैं। उनमें ऐसा नहीं था। उन्होंने जो कुछ किया, दिल से किया। 'महावीर निर्वाणोत्सव' के साल से पहले ही उन्हें एक ऐसा उच्च सहज वातावरण मिला था, जिसमें उनकी उदारता को उन्मुक्त अवकाश मिला। फिर तो, कहीं उन्होंने तीर्थों को दिया, कहीं मन्दिरों को, कहीं मुनिसचों को, कहीं ग्रन्थालयों को, वही विश्वविद्यालयों को, कहीं उत्सवों को और कहीं विद्वत्पुरस्कारों को। उनमें श्रद्धा का ओर-छोर नहीं था—अनाडम्बरित श्रद्धा। वे महामना थे।

उन्हें अपनी जाति से प्रेम था, किन्तु उनमें जातिवाद का विष नहीं था। उन्होंने अथक प्रयत्न किया कि चारों सम्प्रदाय मिल कर महावीर निर्वाणोत्सव मनाये। हृषी भी ऐसे ही, किन्तु जो प्राधायी भाई, वे अननुभूत और अकल्पनीय थी। साहू जी का स्वास्थ्य बिगड़ता गया

घोर पटना में ऐसा "हार्ट अटैक" हुआ कि जीने की आशा ही धूमिल पड़ गई। किन्तु प्रकृति को उनका जाना अभीष्ट नहीं था। अभी उनसे कुछ काम लेना था और वे बच गये। श्रीमती रमा रानी की दिन-रात की सेवा का अच्छा फल प्राप्त हुआ और साहू जी मृत्यु के कराल जवड़ों में जाकर भी निकल आये।

इस बीच, सम्प्रदायों का सन्तुलन बिगड़ गया। साहू जी के बीमार हो जाने से, कोई अन्य योग्य निर्देशन न मिल सका, तो सन्तुलन बिगड़ना था, वह बिगड़ा। दूसरी ओर, दिगम्बरों में एक नया मत 'काजी स्वामी' के नाम पर जोर पकड़ने लगा। यह मत केवल 'निश्चय' पर बल देता है, 'व्यवहार' को नितान्त हेय और वर्जनीय कहता है। इसने जन-साधारण में प्रचलित "भक्ति" को मिटा देने की बात कही। उन्होंने जैनों में प्रचलित देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति को उकार दिया। सासारिक जन को तो इसी का सहारा था। अतः दिगम्बरों के एक वर्ग ने (उनका काजी स्वामीका) पुर्जोर खड़न किया। उनके ग्रंथों को जलाया अथवा नदी में बहा दिया। बाह्यकार की बात भी जोर पकड़ने लगी। साहू जी ने इनको सन्तुलित मस्तिष्क से नापा-जोखा और परखा। उन्होंने देखा कि दिगम्बर विखण्डित हो जायेंगे। शायद इसी कारण उन्होंने 'दिगम्बर जैन महासमिति' की रचना की। उन्होंने कहा कि दिगम्बरों के सभी मत और सम्प्रदाय इसमें सम्मिलित हों। हमें खुली विचारधाराओं का अधिकार है, केवल मत-वैभिन्य के कारण हम पृथक् न होंगे। मरते-मरते एकता का यह आह्वान जितना शानदार था, उतना ही उनकी भाव-गरिमा का द्योतक भी।

साहू शान्तिप्रसाद पण्डित थे। भारतीय जैन पुरातत्व का उनको विशिष्ट ज्ञान था। मन्त्र-तन्त्र में उनकी गति किसी भी साधारण कोटि के विद्वान से अधिक थी। सबसे बड़ी बात थी - उनकी मौलिक प्रतिभा और नव-नवोन्मेष-शालिनी बुद्धि। एक दृष्टांत दे रहा हूँ - भारतीय ज्ञानपीठ की प्रकाशन-समिति की बैठक थी। शोध प्रबन्ध के प्रकाशन पर चर्चा चल रही थी। शोध ग्रंथ के प्रकाशन में पर्याप्त व्यय करना होता है। इस दृष्टि से इनकम नहीं हो पाती। एक प्रकार से घाटे का सौदा रहता है।

साहू शान्तिप्रसाद चुपचाप बैठे थे और उस चर्चा को ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। एकाएक उन्होंने पूछा कि एक शोध ग्रंथ में अधिक से अधिक दो-चार मान्यताएं स्थापित की जाती हैं, फिर ग्रंथ इतना मोटा क्यों हो जाता है! उन मान्यताओं को संस्थापित करने, प्रमाणिक बनाने और पृष्ट करने के लिए सामग्री को इर्द-गिर्द लगाना ही होता है, ऐसा मैंने उत्तर दिया। साहूजी ने कहा कि यदि ऐसा भी है तो कुछ सम्बन्धित सामग्री के साथ मान्यताओं के प्रस्तुतीकरण में साठ या सत्तर पृष्ठ से अधिक न हो पायेंगे। इतना आवश्यक है कि सामग्री 'टू दि प्वाइंट' हो। मैं ऐसा समझता हूँ कि ग्रंथ के भार से ही शोध ग्रंथ का कलेवर बढ़ जाता है। मैं चुप हो गया। इसके बाद इतने वर्षों तक मैं निरन्तर यह सोचता रहा हूँ कि साहू साहब का कथन नितान्त सत्य और अनुसन्धित तथा उनके निर्देशकों के लिए खरी चेतावनी भी थी। यह सत्य है कि आज के शोध ग्रंथ प्रायः व्यर्थ के बोझ से बोझिल होते हैं।

इतना ही नहीं ससम-समय पर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड आदि में कैसे ग्रंथों की रचना हो, ऐसा दिशा-निर्देश भी वे देते रहते थे। उन्हीं की सूझ-बूझ का परिणाम था कि 'महावीर निर्वाणोत्सव' के वर्ष में, भारतीय ज्ञानपीठ "जैन स्थापत्य और कला" जैसे ग्रंथों की रचना करवा कर प्रकाशित करने में समर्थ हुआ। जैन ग्रंथ भंडारों में प्राचीन महत्वपूर्ण ग्रंथ हस्तलिखित रूप में सुरक्षित हैं। साहूजी चाहते थे कि उन सब को बाहर निकाला जाये, उनका सम्पादन और प्रकाशन हो। वे इस दिशा में बढ़ रहे थे। भरमक सहायता भी करते थे। जैन हिन्दी की प्राचीन और मध्यकालीन रचनाओं को वह भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित करना चाहते थे। उन्होंने अपना यह विचार एकाधिक बार मुझ पर प्रकट किया था। एतदर्थ कुछ वर्ष पूर्व "भारतीय ज्ञानपीठ" की प्रकाशन समिति में मुझे दो ग्रंथ सौंपे गये थे - मध्यकालीन हिन्दी पदों के आधार पर 'भक्ति और भाव' तथा 'जैन हिन्दी का आदि काल'। मुझे दुःख है कि उनके जीवन काल में मैं इन्हें तैयार न कर सका। अब, पहला ग्रंथ ज्ञानपीठ को सौंपा है और दूसरा भी तैयार ही है। कुछ पिछड़ गया। आज के जीवन की घनीभूत व्यस्तता

और सतत मानसिक तनाव, मनुष्य को जड़-मूल से तोड़ते जा रहे हैं। मैं भी उससे पूछूँ नहीं हूँ। लेखन कार्य से कुछ उदासीनता-सी होती जा रही है। जैन ग्रंथों के लिखने में अत्यधिक श्रम करना होता है। यह श्रम निष्ठा के बिना संभव नहीं है। किंतु निष्ठावान को न प्रतिष्ठा मिलती है और न जीवन-यापन की सुविधाएँ। डा. एम. विण्टरनिट्स सात समन्दर पार हिन्दुस्तान में जाकर 'हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर' लिख सके, काण्ठ या ऊँची से ऊँची जीवन सुविधाएँ, जो उनकी सरकार ने उन्हें दी थी। दूसरी ओर एक जैन घनाढ्य व्यक्ति अपने बेटे की शादी के निमन्त्रण-पत्र को खूबसूरत बनाने में जितना खर्च कर सकता है, जैन ग्रंथ के प्रकाशन में नहीं। जैन लेखक की कृति यदि वह प्रकाशित भी करता है, तो यह जैन लेखक पर उसका ग्रहमान ही है। डा. ए. एन. उपाध्ये ने मुझे बताया था कि एक जैन लेखक ने अपना ग्रंथ प्रकाशित करवाने के लिए आधा व्यय दिया था।

इस सबके होते हुए भी साहु शान्तिप्रसाद ने भारतीय ज्ञानपीठ से जो भी प्रकाशित किया, लेखक का भर-पूर मेहनताना दिया। हिसाब-किताब में कभी गड़बड़ नहीं हुई। ज्ञानपीठ लेखक के प्रति पूरी ईमानदारी बरतता है, यह सभी जानते हैं। यही कारण है कि हर लेखक अपनी रचना ज्ञानपीठ को देना चाहता है। इसके अतिरिक्त, साहु शान्तिप्रसाद प्रत्येक रचना को ऊँचे स्तर से प्रकाशित करते थे। क्या कामज, क्या गेटअप, क्या प्रूप रीडिंग सभी कुछ उत्तम होता था। उनकी रचियाँ परिमार्जित और सुसंस्कृत थीं।

जीवन के अन्तिम वर्षों में साहु शान्तिप्रसाद और एक बीतरागी साधु में कोई अन्तर नहीं रह गया था। उनका हृदय निर्मल दर्पणवत् हो गया था। उन्हें अध्यात्म का गहरा ज्ञान था। वे चलते-फिरते, उठते-बैठते सदैव आत्म-लीन से रहते थे। साधुओं की अचिक-से-अधिक सेवा-सुश्रूषा और विनय करते थे। उन पर, उनके सधों पर, उनकी कृतियों पर घन व्यय करने में वे कभी हिचके नहीं। यदि उन पर कभी उपसर्ग आया, तो उसे दूर करने में उन्होंने भरसक प्रयत्न किया। समूचे भारत में जैन साधुओं के वे एकमात्र संरक्षक थे। उनकी तीव्र

इच्छा थी कि जैन साधु आधुनिक युग को ठीक से समझें, अध्ययनशील बनें, मौलिक ग्रंथों का निर्माण करें। समाज को ठीक से समझें बिना साधु उससे प्रतिष्ठा-पूर्वक विचरण नहीं कर सकता। साधु को ऐहिक लोके-षणाओं से दूर रहना ही चाहिए, ऐसा वे चाहते थे। इस बात के वे सख्त खिलाफ थे कि कम उम्र की लड़कियों और लड़कों को दीक्षा दी जाए। यदि दी जाये तो सध और सधाचार्यों को सशक्त होना ही चाहिए। साधु या साध्वी का चरित्र एक आदर्श चरित्र होना अनिवार्य है। उससे समाज और राष्ट्र एक दिशा ग्रहण करता है।

साहु शान्तिप्रसाद मूलतः व्यापारी थे। उन्होंने अपने छोटे व्यापार को समृद्ध बनाया। उनमें प्रतिभा थी और रिस्क भेलने की अभूतपूर्व क्षमता। बढ़ते-बढ़ते उनका व्यापार भारत के लीडिंग ३५ व्यापारों में गिना जाने लगा। उन्होंने कोटिशः सम्पत्ति कमाई। यह बड़ी कर सकता है, जिसमें व्यापारिक सूझ-बूझ हो—ऐसी वैसी नहीं, जिसमें अन्तर-राष्ट्रीय अर्थतन्त्र को भली-भाँति समझ हो। उतार चढ़ाव आये, अच्छाइयाँ-बुराइयाँ भी मिली, किन्तु वे बढ़ते गये और उनका व्यापार आसम्-द्रान्त ही नहीं, उसे भी पार कर विस्तृत हो गया। किन्तु मानव-मन विचित्र होता है। उसकी अन्तर परतों को कौन समझ पाता है। साहु साहब का मन शनः-शनः मूमुक्षु हो उठा। वे आत्मवान् बन उठे। व्यापार और पैसे से नितांत निरासक्त मन लिए वे समूचे भारत में दौड़ते फिरे। कुछ ने उन्हें समझा और कुछ ने नहीं। वे उन्मुक्त-हस्त विश्वविद्यालयों में "जैन चैयर्स", शोध संस्थान, कालेज, तीर्थक्षेत्र और मन्दिरों को देते रहे—देते गये, जब तक उनका दिवावसान न हुआ। मेरी दृष्टि में वे इस दुनियाँ के एक क्षमतावान् व्यक्ति थे। जब मन मुड़ा, तो उनकी क्षमता, परलोक की दिव्य अनुभूतियों को भी सहज ही सहेजने में समर्थ हुई।

आज वे नहीं हैं। उनकी स्मृति-भर है। सब चले जाते हैं। जो आया है वह जायेगा। वे भी गए, किन्तु वे अमर-पुत्र थे, यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं। □ □

अध्यक्ष हिन्दी विभाग,

दि० जैन कालेज, बड़ौत (मेरठ)

बीसवीं सदी के भोज

□ श्री कुम्हनलाल जैन, दिल्ली

दसवीं सदी में परमारवंशी घारा नरेश महाराज भोज-राज देव जिस तरह लक्ष्मी और सरस्वती के अपूर्व संगम थे, उसी तरह हजार वर्ष बाद इस बीसवीं सदी में उत्तर प्रदेश के नजीबाबाद नामक एक छोटे से कस्बे के साहू परिवार में श्री शान्ति प्रसाद जी जन्मे थे। उन्हें यदि इस सदी का भोज कहा जावे तो कोई अत्युक्ति न होगी।

साहू शान्ति प्रसाद जी ने अपनी प्रतिभा, बुद्धि-कौशल एवं सतत अध्यवसाय से महाराज भोज की भांति लक्ष्मी और सरस्वती का अद्भुत संगम स्थापित किया था। वे हिन्दू विश्वविद्यालय काशी, के साइम ग्रेजुएट थे, पर उन्होंने अपने वैज्ञानिक अध्ययन एवं तकनीकी स्वाध्याय से अपना ज्ञान बहुत विस्तृत कर लिया था।

सौ० रमा जैसी पत्नी को पाकर उनका दाम्पत्य जीवन मणि काचन संयोग की भांति दमक उठा था। वे जहाँ ज्ञान के सच्चे आराधक और पुजारी थे, वहाँ लक्ष्मी उनके चरण चुम्बन किया करती थी, पर उन्होंने लक्ष्मी में कभी आसक्ति नहीं दिखाई। वे तो ज्ञान की उन्नति को आलोकित करने में ही अपना तन मन धन लगाते रहे।

साहू जी ने अमेरिका के श्री फोर्ड की भांति अपने व्यावसायिक साम्राज्य का विस्तार किया था। पर वे उससे 'जलते भिन्न कमल' की भांति सर्वथा निरासक्त रहे। उधर दूसरी ओर मि० नोबिल की भांति अपनी कीर्ति पताका को चिरस्थायी रखने के लिए उन्होंने ज्ञानपीठ पुरस्कार का आयोजन किया। महाराज भोज भले ही एक ब्लोक पर 'लक्ष ददों की उक्ति से इतिहास में प्रसिद्ध हों, पर ज्ञानपीठ का प्रतिवर्ष एक सर्वश्रेष्ठ कृति पर एक लाख रु० का पुरस्कार तो इस सदी के सभी लोगो ने देखा सुना है। इस सारी सूझ-बूझ एवं क्रियान्वयन के पीछे स्व. श्री साहू जी एव स्व. सौ. रमा जी का ही हाथ था।

जब ज्ञानपीठ के पुरस्कार का आयोजन चल रहा था और इसकी भूमिका एवं विधि-विधान तैयार किए जा रहे थे, तब लोगो ने इसकी निष्पक्षता पर बड़े-बड़े प्रश्न चिन्ह लगाए थे। कोई कहता था यह पुरस्कार तो केवल जैनियों को ही मिलेगा, कोई कहता था कि इसे बाटुकार

या चापलूस साहित्यकार ले उड़ेंगे, कोई कहता था राज-नैतिक दबाव या सिफारिश पर यह पुरस्कार दिया जाया करेगा। पर पिछली दस-बारह पुरस्कृत कृतियों की चयन पद्धति को देखकर सभी की आशंकाएं एवं अविश्वास कपूर की भांति गल गए हैं। जिस निष्पक्षता, सचाई और ईमानदारी एवं गहन छानबीन के बाद प्रति वर्ष रचना पुरस्कार के लिए चुनी जाती है, उसके पीछे स्व. श्री साहू जी एव स्व. सौ. रमा जी की विशुद्ध साहित्यिक उदात्तभावना एवं निष्पक्ष दृढ़ सकल्प ही कार्य कर रहे हैं।

स्व० साहू जी जहाँ जैन संस्कृति और जैन वाङ्मय के प्रबल उद्धारक, प्रचारक एवं प्रसारक थे, वहाँ सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति, साहित्य और वाङ्मय एवं भारतीय भाषाओं के प्रति उनका दृष्टिकोण बड़ा उदार, सहानुभूति-पूर्ण एवं तीव्र अनुरागमय था। वे सभी भारतीय भाषाओं के सम्पूर्ण साहित्य को समुन्नत एवं समृद्ध दशा में देखना चाहते थे और इसके लिए मनसा-वाचा-कर्मणा प्रयत्नशील भी थे।

एक बार स्व० डा० ए. एन. उपाध्ये और स्व० डा० हीरा लाल जी एवं स्व. बा० छोटेलाल जी ने स्व० साहू जी के समक्ष एक योजना रखी कि जहाँ-जहाँ जो-जो प्राचीन हस्त लिखित पांडुलिपियां एवं ग्रंथागारों में प्राचीन साहित्य जीर्ण-शीर्ण या अव्यवस्थित दशा में पड़ा हो, उसे एकत्रित कर एक केन्द्रीय पुस्तकालय में वैज्ञानिक दृष्टि से संगृहीत एवं सुरक्षित किया जावे और महत्वपूर्ण पांडुलिपियों की माइक्रोफिल्मिंग करा ली जावे जीर्ण-शीर्ण ग्रन्थों का रखरखाव वैज्ञानिक दृष्टि से किया जावे जिससे आगे आने वाले अनुसंधित्सुओं को साहित्यान्वेषण के लिए अकारण ही भटकना न पड़े तथा शोध की सुविधाएं सरलता से प्राप्त हो सकें।

स्व० साहू जी इस पुनीत साहित्यिक एवं सांस्कृतिक श्रेष्ठ कार्य में तन-मन-धन से पूरा-पूरा सहयोग देने को तत्पर थे। एक बार जब उनसे भेंट हुई और मैंने उपर्युक्त योजना के सम्बन्ध में उनके विचार और प्रगति जानना चाही तो उन्होंने बड़े पीड़ा भरे स्वर में कहा था कि "बीच-

घरियों की चौघराहट का क्या होगा ?” कितनी ममन्तिक व्यथा थी उनके इन शब्दों में ? वे प्राचीन जैन साहित्य को पूर्णतया सुरक्षित एवं प्रकाशित देखना चाहते थे ।

मैं विगत छठारह वर्षों से दिल्लीके जैन ग्रंथ भंडारों में स्थित प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का सर्वेक्षण एवं विस्तृत केटालाग (सूची) का काम करता आ रहा हूँ । जब इसके प्रकाशन की बाधा-व्यवधान की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया गया तो उन्होंने तुरन्त ही इसकी व्यवस्था करा दी और अब यह ‘दिल्ली जिन-ग्रन्थ रत्नावली’ के नाम से जाना-पिठा हो रही है । इसी तरह, (जैन आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर) नाम बृहत् ग्रन्थ के प्रकाशन में भी उन्होंने अपार धन व्यय किया । जैन तीर्थ क्षेत्रों और मंदिरों का इतिहास एवं उनकी डायरेक्टरी तैयार कराने में भी साहू दम्पति सदा ही तत्पर रहते थे ।

निर्घन छात्रों के उच्च अध्ययन एवं वैज्ञानिक और तकनीकी प्रशिक्षण के लिए स्व० साहू जी ने अपनी परम पूज्या मातेश्वरी मूर्ति देवी के नाम से ‘मूर्ति देवी छात्रवृत्ति फंड’ की स्थापना की थी जिससे हजारों प्रतिभावान् छात्रों ने लाभ उठाया और आज देश और समाज की सर्वोपयोगी रूप से सेवा कर रहे हैं ।

निम्नलिखित तात्पर्य यह है कि साहू दम्पति बड़े उदार और उच्च चरित्र के धनी थे । लक्ष्मी की विपुलता एवं बहुलता के कारण प्रायः व्यक्ति में अनेकों दुर्गुण पैदा हो जाते हैं पर स्व० साहू जी इसके सर्वथा अपवाद थे । वे बड़े मितभाषी एवं उच्च विचारक थे । समझ सुधार और उत्थान एवं साहित्य के बहुमुखी विकास के लिए वे सदा ही प्रयत्नशील बने रहे । भ० महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव पर वे यद्यपि बहुत ही अस्वस्थ थे, फिर भी इस शुभ अवसर पर उन्होंने जैन एकता के लिए जो प्रयत्नश्रम किया वह इतिहास में सदा स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा ।

जब पटना में साहू जी को हृदय रोग का दौरा पड़ा तो सौ. रमा जी ने बड़ी दृढ़ता और पूर्ण विश्वास के साथ कहा था कि मेरे रहते उन्हें कुछ नहीं हो सकता और तुरन्त ही एक व्यक्ति को मुनिश्री विद्यानंद जी के पास भेज कर उनका शुभाशीर्वाद मगाया और स्वयं हवाई जहाज द्वारा तुरन्त ही पटना पहुंची और अपनी

सेवा-सुश्रुषा एवं उपचार से साहू जी को बचा लिया और अपने पातिव्रत्य एवं सतीत्व की साधक कर दिखाया, और कुछ समय बाद उन्हें अकेला छोड़ स्वयं स्वर्गवासिनी हो गईं, रमाजी ऐसी श्रेष्ठ और सती महिला रत्न थीं । रमा जी के चले जाने पर साहू जी सर्वथा टूट गए थे । वे प्रायः उदास रहते थे फिर भी समाज सेवा और साहित्यिक कार्यों में उनकी रुचि कम नहीं हो पाई थी । यद्यपि उनका बामांग चला गया था फिर भी वे धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक कार्यों में सदा ही सक्रिय और सजग बने रहे । इस तरह उन्होंने कभी भी शिथिलता नहीं आने दी ! स्व० साहू जी जैसा सरल और सात्त्विक जीवन विरले ही लक्ष्मी-पति जी पाते हैं । वे पूज्य क्षुल्लक प. गणेशप्रसाद जी वर्षी के परम भक्त थे । वे नित्य नियम से पूजन करते थे । उनके उठ जाने से आज जैन समाज का ही नहीं अपितु संपूर्ण भारत राष्ट्र का जाज्वल्यमान नक्षत्र अस्त हो गया है जिसकी क्षतिपूर्ति निकट भविष्य में होना असंभव प्रतीत होता है ।

आज जब मैं स्व० साहू जी को ‘बीसवीं सदी का भोज’ लिख रहा हूँ तो मेरे मस्तिष्क में अचानक ही धारा नरेश महाराज भोज की पाठशाला की उस बाग़देवी की प्रतिमा का सहज पुण्य स्मरण हो रहा है जिसे महाराज भोज ने निमित्त और प्रतिष्ठित कराया था और वह आजकल लंदन के इंपीरियल म्यूजियम में सुरक्षित है, जिसकी अनुकृतियाँ ज्ञानपीठ तैयार करा कर पुरस्कृत साहित्यकार को प्रतिवर्ष भेंट करती हैं । इस तरह स्व० साहू जी का बाग़देवी की प्रतिमा के माध्यम से महाराज भोज से सामञ्जस्य बंटाना कोई चाटुकारिता या कल्पना नहीं है, अपितु सहज ही हृदय में घुणाकर न्याय से उत्पन्न यथार्थता है । ‘बीसवीं सदी के इस भोज’ को मैं धारा नरेश से किसी भी दृष्टि से कम नहीं समझता हूँ ।

परमप्रभु से प्रार्थना है कि उनकी आत्मा जहां कहीं भी हो, शान्ति और सद्गति प्राप्त करे । हम इस सदी के शोधार्थी और सरस्वती के सेवक उनके प्रति अपने हार्दिक श्रद्धा सुमन समर्पित करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि उनके द्वारा निर्देशित पथ पर हमें चलते रहने की प्रेरणा और शक्ति मिलती रहे । □□□ श्रुत कुटीर

६८, कुन्तीमार्ग, विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली-३२

उदारमना सदाशय व्यक्तित्व

□ डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

जैन समाज के ही नहीं, भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्रीय जीवन के अग्रदूत में साहू-परिवार का अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान रहा है। स्व० शान्तिप्रसाद जी कभी किन्हीं सीमित, संकुचित दायरो तथा सकीर्ण विचार-बीधियों में न रम कर सदा उस राजमार्ग में रहे जो राष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक गौरव-गरिमा के आदर्श के अनुरूप हो। इसलिए उनके व्यक्तित्व में जिस उदारता, विशालता का परिचय मिलता है वह सहज व स्वाभाविक है। उनकी इस वृत्ति का परिचय इससे भी मिलता है कि वे सदा आशावादी तथा आदर्शवादी रहे हैं। व्यक्तिगत तथा सामाजिक संघर्षों में उनकी भूमिका उस नेता की भांति रही जो सदा अपनी सदाशयता से क्षुद्रता की अवहेलना कर उदारता को प्रशस्त करने वाला हो। यही कारण है कि जैन समाज ने उनको माना व सराहा और उनके नेतृत्व को सदा प्राप्त करते रहने की अभिलाषा प्रकट की। किन्तु समाज का दुर्दैव ! ऐसे श्रीमान, धीमान, निःस्वार्थ समाजसेवी का नेतृत्व अधिक समय तक नहीं मिल सका। नियति के कालचक्र ने सदा-सदा के लिए उनका अपहरण कर लिया।

यों तो स्व० साहू जी के कीर्तिमान को प्रकट करने के लिए एक भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ही पर्याप्त है, जिसने न केवल सांस्कृतिक प्रकाशनों का कीर्तिमान स्थापित किया, बल्कि विलुप्त होने वाली ऐसी पाण्डुलिपियों को भी पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया। जो भारतीयता की अक्षुण्ण धरोहर है और जिनसे भारतीय भाषाओं का विशाल भण्डार समृद्ध हुआ है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषा के साहित्य को अभिनव, सुचित्रपूर्ण तथा सांस्कृतिक स्तर के अनुरूप रम्य एवं भव्य रूप में प्रकाशित कर ज्ञानपीठ ने एक संस्था के रूप में जो कार्य किया है, कई संस्थाएँ मिल कर भी वैसा कार्य सम्भवतः न कर

पाती। साहित्य के क्षेत्र में एक लाख का पुरस्कार प्रवर्तित कर, राष्ट्र के साहित्यकारों में विशेष अभिरुचि का उत्पन्न कर, एक ऐसे साहित्यिक व सांस्कृतिक वातावरण का निर्माण कर, दक्षिण तथा उत्तर, पूर्व एवं पश्चिम के क्षितिजों की दूरी समाप्त कर, सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य को ज्ञानपीठ (वस्तुतः ज्ञानपीठ) के मंच से प्रकाशमान किया है। इधर दक्षिण की भाषाओं के प्राचीन साहित्य को प्रकाशित करने की ज्ञानपीठ की अभिनव योजना ने यह भली भांति प्रकट कर दिया है कि प्राचीन साहित्य व अभिनव उत्कृष्ट साहित्य किसी क्षेत्र का व किसी भी भाषा का हो, चाहे वह पुराना हो, चाहे नया हो, उसमें साहित्यिक सर्जना व प्रतिभा का यदि कोई भी महत्वपूर्ण आयाम लक्षित होता है, तो वह ज्ञानपीठ स्तर के अनुरूप प्रकाशित हो सकती है। इस संस्था का निर्माण करने में स्व० साहू जी अग्रणी रहे हैं और इसके संचालन का समस्त श्रेय स्व० रामादेवी तथा श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन को रहा है। यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि भारतीय संस्कृति की गौरव-गरिमा को प्रकाशित करने में भारतीय ज्ञानपीठ का बिलक्षण स्थान रहा है। हिन्दी साहित्य तथा इतर भाषाओं के साहित्यकार इस संस्था से अपने को गौरवान्वित मानते रहे हैं।

इस छोटे से लेख में स्व० साहू जी के उन शत-शत उपकारों का स्मरण करना सम्भव नहीं है जो उन्होंने व्यक्तिगत रूप से तथा सामाजिक रूप से व्यक्ति तथा समाज के निर्माण के लिए किए थे। इन सबके प्रतिरिक्त मेरे मन की अन्तर्द्वि में उनका वह सरल, सहृदय एवं उज्ज्वल व्यक्तित्व बार-बार प्रतिबिम्बित लक्षित होता है जो अपने निर्णय में उदारता व स्वतन्त्रता को प्रकट करने वाला है। जो भी एक बार उनके सम्पर्क में पहुँचा है वह

(शेष पृष्ठ १८ पर)

पुण्यश्लोक प्रेरणाप्रद व्यक्तित्व

□ डा० रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर

पुण्यश्लोक श्रद्धेय साहू शान्ति प्रसाद जी के दर्शन का प्रथम सुप्रसन्न वाराणसी में प्राचाविद्या सम्मेलन के शुभानुसरण पर जैन साहित्य सङ्गोष्ठी के शुभ आयोजन के मध्य हुआ। इसने पहले समाज और साहित्य के क्षेत्र में उनके द्वारा की गयी सेवाओं की चर्चा अनेक श्रीमानों, धीमानों और समाजसेवियों के मूह से सुनी थी, किन्तु साक्षात्कार का सुअनुसरण प्राप्त नहीं हुआ था। प्रथम दर्शन के समय उनकी सादगी, विनम्रता और समाज तथा धर्म-संस्था की उत्कट अभिरूपा को देखकर मेरा मन उनके प्रति भक्ति में अभिभूत हो गया। उस दिन के अपने भाषण में उन्होंने कहा था कि आगे कुछ वर्षों में भगवान साहू जी के निर्वाण की २५००वीं पुण्यतिथि आ रही है, इस तिथि पर समाज को बृहद् आयोजन करना चाहिए तथा पूरे वर्ष भगवान-स्थान पर बड़े समारोह के साथ उत्सव किए जाना चाहिए। वह समय ऐसा था, जब समाज के अधिकांश व्यक्तियों की दृष्टि भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण दिवस की ओर नहीं थी, साहू सा. के उक्त वक्तव्य के बाद सबसे पहले समाज का ध्यान इस ओर गया और बाद में समाज ने जिस उत्साह और स्फूर्ति के साथ २५वींवां भगवान महावीर निर्वाण महोत्सव मनाया, वह किसी भी अन्य समाज के लिए स्पृहा की वस्तु हो सकता है। इसके मूल में श्रद्धेय साहू सा. की प्रेरणा और धर्मकार्य के प्रति श्रद्धा और तत्परता ही थी।

एक बार साहू सा. भारतीय ज्ञानपीठ के मंत्री श्री लक्ष्मीचन्द्र जी के साथ स्यादाद महाविद्यालय के भदौनी-घाट स्थित वाराणसी के जैन मंदिर के दर्शनार्थ आया हुआ था। आकर उन्होंने श्रद्धेय पंडित कैलाशचंद्र जी के विषय में पूछा। किसी विद्यार्थी से ज्ञात हुआ कि साहू सा. आए हुए हैं। यकायक साहू सा. के आगमन की बात सुनकर कानों की विश्वास नहीं हुआ। तत्काल ही उनके दर्शनार्थ गया। अन्य विद्यार्थी के साथ उनसे बातचीत करने का सुप्रसन्नता प्राप्त हुआ। अनौपचारिक रूप से पूछा साहू जी ने प्रत्येक छात्र का जिस प्रकार परिचय प्राप्त किया तथा छात्रों की समस्याओं के निराकरण हेतु अनेक सुझाव दिए

एवं विशेष रूप से कनिष्ठ छात्रों के प्रति जो स्नेह और आशीर्वाद की अभिव्यक्ति की, वह मेरे लिए तथा अन्य छात्रों के लिए अविस्मरणीय है। इतने बड़े व्यक्तित्व का समाज के छोटे छोटे बच्चों से मिलना तथा इस प्रकार आत्मीयता प्रदर्शित करना अत्यंत दुर्लभ है।

भारतवर्षीय दि. जैन परिषद् के स्वर्ण जयन्ती अधिवेशन पर श्रद्धेय रतनलाल जी बिजनौर के साथ कोटा जाने तथा अधिवेशन में भाग लेने का सुप्रसन्नता प्राप्त हुआ। उक्त अधिवेशन के प्रमुख नायक स्वर्गीय साहू सा. ही थे। परिषद् के सभी सम्मानित कार्यकर्त्ताओं का जब परिचय दिया गया और मेरे परिचय का जब प्रश्न आया तो बीच में ही उठकर श्रद्धेय बाबू रतनलाल जी ने स्नेहा-तिरेक के कारण उपस्थित जनसमुदाय के मध्य मेरा विशेष परिचय दिया, इसे सुनकर साहू सा. ने अपना स्नेह प्रदर्शित किया और मेरे शोध प्रबन्ध, पञ्चवर्ति और नमो प्रतिपादित भारतीय संस्कृति के विषय में अनेक जिज्ञासायें थी तथा उनका समाधान प्राप्त कर अपना सतोष प्रगट किया एवं उक्त ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित कराने के लिए प्रेरित किया। परिषद् के सभी कार्यक्रमों में उन्होंने भाग लिया तथा निरन्तर अपना मार्गदर्शन देते रहे।

अपने से बड़े व्यक्तियों के प्रति साहू सा. के मन में प्रीति श्रद्धा थी। परिषद् ने जब अपने कार्यकर्त्ताओं का ताम्रपत्र प्रदान कर हादिक स्वागत किया, उस अवसर पर ताम्रपत्र प्रदान करने का कार्य सर्वप्रथम साहू जी ने सम्पन्न किया। सबसे पहले उन्होंने परिषद् के स्थापक मुख्याध्यक्ष स्वतंत्रता सेनानी बाबू रतनलाल जी के कर-कमलों में ताम्रपत्र भेंट किया, तत्पश्चात् अन्य व्यक्तियों को ताम्रपत्र भेंट करने हेतु बाबू रतनलाल जी से निवेदन किया। बाबू जी ने उनके निवेदन को स्वीकार किया, तत्पश्चात् सारे ताम्रपत्र बाबू रतनलाल जी के कर-कमलों द्वारा ही परिषद् के अन्य कार्यकर्त्ताओं को भेंट किए गए।

साहित्य और संस्कृति के समुन्नय हेतु साहू जी सनन प्रयत्नशील रहे। भारतीय ज्ञानपीठ, स्यादाद महाविद्यालय,

वाराणसी, प्राकृत तथा अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, साहू जैन कालेज, नजीबाबाद, मूर्ति देवी कन्या इण्टर कालेज, नजीबाबाद, मूर्तिदेवी सरस्वती इण्टर कालेज, नजीबाबाद, भारतवर्षीय दि. जैन परिषद्, दिगम्बर जैन महासमिति, सराकोट्टार समिति, दि. जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, बीर सेवा भोंदर, देहली, जैन विद्या तथा प्राकृत विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, दि. जैन अनाथ रक्षक सोसायटी दिल्ली, भा. दि. जैन विद्वत् परिषद्, समाज के प्रमुख तीर्थक्षेत्र तथा अन्त्याय सैकड़ों सामाजिक धार्मिक संस्थायें उनका वरद हस्त पाकर फली फूली और उनमें अपूर्व उत्साह का संचार हुआ।

प्रायः धनी व्यक्तियों के विषय में कहा जाता है कि धन की वृद्धि के साथ-साथ उनकी लोभवृत्ति भी बढ़ती जाती है। माननीय साहू शान्ति प्रसाद जी इसके अपवाद थे। धन के साथ-साथ उनकी उदारता भी वृद्धिगत होती गयी। धनवत्ता और उदारता का मणिहाञ्चन संयोग उनके जीवन में था। एक बार पूज्य पं. कैलाशचन्द्र जी से चर्चा करते समय उन्होंने कहा था कि अधिकाधिक धन कमाने और उसे अच्छे कामों में व्यय करने का उन्हें

□□□

(पृष्ठ १३ का शेषांश)

उनकी सरलता से अभिभूत हुए बिना नहीं रहा है। दान देने वालों और धन खर्च करने वालों की साराज व देन में कमी नहीं है, किन्तु सरस्वती व सरस्वती के वरद पुत्रों के पाद-पद्मों में कमलाकर लक्ष्मी को न्योछावर कर अपनी श्री-शोभा को सार्थक बनाने का गुण वास्तव में स्व० शान्तिप्रसाद जी में ही था।

उनमें एक गुण और था। वे सुनते सबकी ये पर निर्णय उनका अपना होता था। सभी सन्त महात्माओं के पास वे बिना किसी हिचक के पहुंच जाते थे। पूज्य वर्णी जी के अनन्य सत्कारों से प्रभावित होकर ही वे किसी भी प्रभाव का अपनी सुमति-निष्कर्ष पर कैसे बिना ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं होते थे। केवल सत्साहित्य से ही नहीं, विद्वज्जनों के प्रति उनके मन में अगाध अनुराग व श्रद्धा का भाव था। भीतरांग विज्ञान वाणी से ही उन्हें शान्ति का अनुभव होता था। अपना अन्तिम समय तक वे उसे एक सच्चे श्रोता की भांति श्रवण करने के

व्यसन है। साहू जी ने समाज में मुक्तहस्त से दान दिया। उनकी उदारता का लाभ उठाने लगे ने कुछ ऐसे स्थानों के लिए भी उनसे धन प्राप्त कर लिया जहां धन की आवश्यकता नहीं थी। एक बार परम पूज्य १०५ क्षुल्लक गणेश प्रसाद जी वर्णी ने साहू साहब को एक श्लोक लिखकर दिया था, जिसका भाव यह था—

“हे वारिद ! तुम स्थल में भी बरसते हो, जल में भी बरसते हो, पहाड़ों पर भी बरसते हो, हिमशिलाओं पर भी बरसते हो। तुम्हें कहां बरसना चाहिए, इसका बोध नहीं।”

पूज्य वर्णी जी से प्रेरणा पाकर वे योग्य स्थान पर धन का सदुपयोग करने में सचेष्ट रहे। जीवन की सध्या में धन और भोग के प्रति उनके मन में निरासक्ति की भावना उत्पन्न हो गई थी और उन्होंने हस्तिनापुर में रह कर धर्म साधन करने की अपनी हादिर अभिलाषा व्यक्त की थी। काल दुरतिक्रम है, साहू जी की उक्त भावना उनके मन में ही रह गई और प्रसंग में उन्होंने अपना देहत्याग कर दिया। यद्यपि वे स्वयंस्थ हो गए, किन्तु उनका यशस्वी जीवन युगों-युगों तक समाज को प्रेरणादायी रहेगा। जैन मन्दिर के पास, बिजनौर (उत्तर प्रदेश)

लिए उत्सुक बने रहे। उन जैसी ज्ञान के प्रति ललक वास्तव में श्रेष्ठिजनों में लक्षित नहीं होती। लगना है कि जीवन का सार वे पहचान गए थे, वर्तमान परिस्थितियों तथा सघर्ष की भूमिकाओं को मान चुके थे, केवल शुद्ध ज्ञानामृत का पान करना ही अवशिष्ट रहा था, जिसे पान करने के लिए उनका उद्यम जागृत हो गया था। काश ! वे आज की परिस्थितियों में होते। इस अध्यात्म युग की सरस वारा से उनका अनन्य सम्बन्ध प्रगाढ़ता को प्राप्त होना तो वह उनके लिए भी और हमारे लिए भी श्रेयस्कर होता। परन्तु काल पर किसी का वश नहीं। हम केवल भावना ही भा सकते हैं। और इसलिए यह भी कह सकते हैं कि भले ही आज हमारे बीच साहू शान्तिप्रसाद जी सदैह रूप से न हों, पर उनके अनगिनत लौकिक कार्य भली भांति पुकार कर यह कह रहे हैं कि वे अजर हैं, अमर हैं। □□□ २४३, शिक्षक कालोनी, नीमच (मध्यप्रदेश)

आधुनिक भामाशाह

विद्यावारिधि डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया, प्रतोगढ

जिस प्रकार वाणी चरित्र की प्रतिबन्ति होती है, उसी प्रकार व्यक्ति के क्रिया-कलाप उसके व्यक्तित्व के परिचायक हुआ करते हैं। साहू जी मनसा, वाचा और कर्मणा शुद्ध मनुष्य थे। सकार अन्वय प्रलंकार।

दिन-दिनांक ठीक से स्मरण नहीं, परन्तु परेड ग्राउंड दिल्ली में जैन मित्र मंडल के तत्वावधान में आयोजित था। महावीर जयंती महोत्सव के अवसर पर श्री सत साहू जी उस विशाल सभा के सम्माननीय सभापति थे और अन्य अनेक अवसरों की भांति मुझे भी आमन्त्रित किया गया था। पैनालीस मिनट उन्होंने मुझे पूरी तन्मयता के साथ सुना था और तब मुझे महसूस हुआ कि वे प्रवचन सुनकर आनन्दित हुए थे। उन्होंने साधुवाद देते हुए मेरी पीठ पर अपना वस्त्रद्वन्द्व रखा था, कदाचित् उनसे मेरा यह प्रथम निकटतम सम्पर्क था। वे धार्मिक थे और धर्म के मर्म को सामाजिक शैली में व्यक्त करने की बेजोड़ क्षमता रखते थे।

विशाल भारत का औद्योगिक उत्कर्ष दशबिंदियों पर्यन्त कल-त्ता में समलंकित रहा और साहू जी का वहाँ अपना स्थान था। उनके द्वारा अनेक औद्योगिक प्रतिष्ठानों की स्थापना हुई। फलस्वरूप वे स्वयं बने और देश का वित्त के निखिल निमित्त बने। उन्होंने साहित्यिक क्षेत्र में भी अद्वितीय उद्योग किया। भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशक इस दृष्टि से प्रकाशन प्रतिष्ठानों में उल्लेखनीय है। भारत का नोबल पुरस्कार—भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार साहू जी की बेनसीर प्रेरणा है। भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक तथा धार्मिक निर्माण योजनाओं की प्राथमिक गतिमें वे साहू जी की सहयोगी भूमिका उल्लेखनीय रही है। तीर्थोद्धार, जिन मंदिरों की संरचनाएं, विद्या-केन्द्रों की स्थापना मानो साहू जी की भार-

तीय सांस्कृतिक-सम्पदा को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति का परिचायक है।

उनके द्वारा भारतीय जैन समाज गठित है और गौरवान्वित है जैनतर समाज। राष्ट्रीय भावना कोई उनमें सीखता, वे विशुद्ध राष्ट्रवादी थे। वे मात्र मानव ही नहीं थे अपितु मानवता के सच्चे समर्थक भी थे। राष्ट्रीय सकटकाल में उन्होंने उदारतापूर्वक आर्थिक सहयोग देने वालों में अपना स्थान सुरक्षित रखा। वे वस्तुतः आधुनिक भामाशाह थे।

पञ्चवीसवीं भ. महावीर निर्वाण महोत्सव में उन्होंने सम्पूर्ण भारतीय जैन बन्धुओं को एक सगठन में व्यवस्थित किया। श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों को एक-सूत्र में बांधने का श्रेय साहू जी का मिला था। वे साम्यवादी दृष्टिकोण के उन्नायक थे।

जैन परिवार के अगणित होनहार युवक-युवतियों ने उच्च शिक्षा प्राप्त कर समाज, समुदाय और देश-प्रदेश को गौरवान्वित किया है। उनके द्वारा देश के अनेक साहित्यकार निकाले गए हैं। देश की पत्रकारिता के उन्नयन में साहू जी का सहयोग सर्वथा उल्लेखनीय रहा है। इस प्रकार, साहू जी की सामाजिक, राष्ट्रीय तथा धार्मिक सेवाओं में मारा समुदाय और समाज उत्कृष्ट रहेगा।

आज शारीरिक रूप में साहू जी बाढ़े हमारे बीच में उठ गए हैं किन्तु वे अपने काम-काज में, नीति-नैपुण्य में, धर्म-कर्म में आज भी नहीं अनेक धर्मियों तक बैठे रहेंगे। उनकी सेवाये उनका शाश्वत स्मारक बन गई हैं। उनकी सामाजिक सेवाओं ने मनुष्यों का माहलमहोन स्थापित किया है। साहू जी साधारणतः प्रसाधारण व्यक्तित्व के महापुरुष थे, महान थे। □ □ □

सरस्वती के परम उपासक

डा० कस्तूर चव कासलीवाल, जयपुर

साहू शान्तिप्रसाद जी जैन देश और समाज के उन श्रेष्ठिगुणों में से थे जिनकी सेवाएँ मनुष्य अविस्मरणीय रहेगी तथा जिनका नाम भविष्य में उदाहरण के रूप में लिया जाता रहेगा। साहू जी समाज के गौरव थे। उनके आश्रय में समस्त जैन समाज निवसन्त था। वे एक महान व्यक्ति थे जिनके हृदय में समाज का दर्द छिपा हुआ था। इसलिए साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सभी गतिविधियों के विकास में उनका बरद हस्त रहता था। समाज में उनकी उपस्थिति ही कार्यकर्ताओं में उत्साह पैदा करने के लिए पर्याप्त मानी जाती थी। साहू जी समस्त दि० जैन समाज के एकमात्र प्रतिनिधि थे, इसलिए जिस भी उत्सव, मेले एवं कार्यक्रम में साहू जी सम्मिलित हो गये तो ऐसा माना जाता था कि मानो उसको पूरे समाज का ही जैसे समर्थन मिल गया हो।

साहू शान्तिप्रसाद जी ने समस्त जैन समाज पर ३०-४० वर्षों तक एकछत्र शासन किया। उन्होंने समाज को नई दिशा प्रदत्त की, कार्य करने की शक्ति दी तथा संकट के समय उमका जिस प्रकार साथ दिया वह सब इतिहास की ग्राज अमूल्य धरोहर हो गयी है। उनके निधन से समाज ने वास्तव में अपना बहुमूल्य रत्न खो दिया है जिसकी पुति निकट भविष्य में सम्भव नहीं लगती। यदि सामाजिक इतिहास के पृष्ठों को खोलकर देखा जाए तो हमें मालूम पड़ेगा कि ऐसा उदार हृदय समाज सेवी व्यक्तित्व सैकड़ों वर्षों में नहीं हुआ।

साहू जी से मेरी प्रथम भेंट कलकत्ता महानगरी में बेलगच्छिडा में आयोजित जैन साहित्य एवं कला प्रदर्शनी में कोई २८-३० वर्ष पूर्व हुई थी। उस समय उन्होंने जिस तन्मयता में जैन ग्रन्थों में रुचि ली थी तथा अपने भाषण में उनके महत्त्व पर प्रकाश डाला था, उससे मेरे मन पर गहरी छाप पड़ी थी। उसके पश्चात् बैशाखी में आयोजित एक बहुद् जैन प्रदर्शनी के अवसर पर उनसे

भेंट हुई थी। देहली में भी उन्होंने प्रदर्शनी के आयोजन में पूरी रुचि ली थी तथा वहाँ प्रदर्शित प्रत्येक वस्तु का उन्होंने बारीकी से अध्ययन किया था। उन्होंने उस समय जयपुर के प्राचीन भक्तमर स्तोत्र को सचित्र पाण्डुलिपि की अपनी ओर से छपाने का प्रस्ताव रखा था, लेकिन जयपुर के मन्दिर के व्यवस्थापकों ने उसे स्वीकार नहीं किया और वह बहुमूल्य ग्रन्थ प्रकाशित होने से रह गया।

जयपुर में भगवान महावीर के २५सीवी निर्वाण महोत्सव की मीटिंग में सम्मिलित होने के लिए वे कितनी ही बार आए। जयपुर में उनका अन्तिम आगमन उनकी मृत्यु के कुछ ही समय पहिले हुआ था। वे भाद्रपद मास में बापू नगर के पार्श्वनाथ जैन मण्डल द्वारा आयोजित युवा सम्मेलन में कुछ समय के लिए आए थे और युवकों को सामाजिक सेवा में जुट जाने की प्रेरणा दे गए थे। वह सम्भवतः उनका अन्तिम सदेश था।

साहू जी को साहित्य से कितना प्यार था, उसके प्रकाशन में उनकी कितनी रुचि थी, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उनका भारतीय ज्ञानपीठ जैसे संस्था का सचालन है। उन्होंने सैकड़ों जैन ग्रन्थों के उद्धार का महान पुण्य अर्जन किया। वे जीवन भर जिनवाणी के प्रकाशन एवं उसके प्रचार के प्रसार प्रति समर्पित रहे। वास्तव में गत सैकड़ों वर्षों में उन जैसा जिनवाणी का प्रचारक नहीं हुआ।

उन्होंने भारतीय ज्ञानपीठ के माध्यम से ही साहित्य सेवा नहीं की, किन्तु ग्रन्थ प्रकाशन संस्थाओं को उन्होंने खूब आर्थिक सहायता दी। वीर सेवा मन्दिर द्वारा प्रकाशित जैन लक्षणावली के प्रकाशन में भी उनका पर्याप्त आर्थिक योगदान रहा। मैंने स्वयं ने समस्त हिन्दी साहित्य के प्रकाशन के लिए जयपुर में श्री महावीर ग्रन्थ प्रकाशनी की स्थापना की तथा उसकी योजना एवं (क्षेप पृष्ठ २४ पर)

महान् कर्मयोगी की जीवन-साधना

□ पं० परमानन्द शास्त्री, बिल्सी

साहू शान्ति प्रसाद जी का जन्म नजीबाबाद के प्रतिष्ठित साहू घाने में सन् १९१२ में हुआ था। इनके पितामह का नाम साहू सलेकचन्द और पिता का नाम दीवानचन्द था और माता का नाम मूर्ति देवी थी। साहू सलेकचन्द अपने समय के श्रीसम्पन्न और प्रतिष्ठित व्यक्तित्व वाले पुरुष थे। उनके यश और कीर्ति की अच्छी ख्याति थी। एक बार जो उनके सम्पर्क में आ गया, वह उन से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। पिता दीवान चन्द सौम्य प्रकृति और शालीन स्वभाव के थे। समाज में उनकी प्रतिष्ठा और सम्मान था और माता श्रीमती मूर्ति देवी अत्यन्त सरल स्वभावी और धार्मिक प्रकृति की महिला थीं। वे ऐसी सहृदय और लक्ष्मी स्वरूपा थीं कि उन्होंने दूसरों की चिन्ता को भी अपनी बना लिया था। वे एक सुयोग्य माता थीं। उन्होंने शान्ति प्रसाद को योग्य बनने के सभी साधन सुलभ कर दिए ताकि भविष्य में वे अपनी चिन्ताओं को स्वयं वहन कर सकें।

शान्ति प्रसाद जैन की प्रारम्भिक शिक्षा नजीबाबाद में हुई। तत्पश्चात् उन्होंने बनारस विश्वविद्यालय और आगरा विश्वविद्यालय में अध्ययन किया। इन महाविद्यालयों में उनका समूचा विद्यार्थी जीवन प्रथम श्रेणी का रहा। साहू शान्ति प्रसाद ने मात्र ज्ञानार्जन की दृष्टि से ही अध्ययन नहीं किया, प्रत्युत अन्य दृष्टियों से भी। उनमें वे वे सभी गुण और सद्गुणियाँ थी, जो माता-पिता और अपने पूर्व पुरुषों के रूप में उन्हें प्राप्त हुई थी। उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से बी. एस.-सी. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। उनका विद्यार्थी जीवन अपने सहपाठियों से कुछ भिन्न था, हृदय कोमल और प्रकृति उदार थी। क्षयोपशम विनिष्ट था, अतएव जो भी अध्ययन किया, उसमें उनकी योग्यता की झलक स्पष्ट दिखाई देती थी। अध्ययनकाल में उद्योग और व्यवसाय

की ओर उनका आकर्षण था।

शान्ति प्रसाद का विवाह डालमिया की सुपुत्री रमा जी के साथ सम्पन्न हुआ। रमारानी विदुषी, कर्तव्यपरायण, व्यवहार में चतुर और परोपकारनिरत महिला थीं। वे साहू जी के कार्यों में अपना सहयोग प्रदान करती थीं। भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना काल सन् १९४४ से ही वे उसकी अध्यक्ष थीं। उन्होंने अपने अन्तिम समय तक अपना मातृस्नेह दिया और अपनी प्रेरणा से उसे इस योग्य बनाया जिसमें कि वह स्थायी सामाजिक-सांस्कृतिक महत्त्व के कार्यदायित्वों को उठा सके। इन दायित्वों के अन्तर्गत जहाँ एक ओर भारतीय विचार-दर्शन की उपेक्षित निधियों का अनुसन्धान, प्रकाशन और प्राच्युतिक भारतीय भाषाओं में मौलिक साहित्य सृजन के कार्य हैं। वहाँ दूसरी ओर भारतीय भाषाओं की सर्वोत्कृष्ट कृति पर एक लाख रुपये की पुरस्कार योजना, तथा प्राचीन स्थापत्य एवं कलाशिल्प की संयोजना भी है।

साहू जी में औद्योगिक कार्यों को सम्पन्न करने की बहुत बड़ी रुचि और क्षमता थी। बुद्धि कुशाग्र थी, अतएव उन्होंने उद्योगों और व्यवसायों के सम्बन्ध में अपनी गवेषणा और अध्ययन शुरू कर दिया। देश के उद्योग-व्यवसायों में अभिवृद्धि और संचालन प्रणाली में नये नये प्राविधिक ढाँचे का समावेश हो सके, इसके लिए उन्होंने उन पद्धतियों का गंभीर अध्ययन किया तथा विविध क्षेत्रों में गवेषणायें कराईं। साहू जी ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति की दृष्टि-लक्ष्य में रखते हुए आवश्यकता के अनुरूप महत्वपूर्ण स्थानों में स्वयं परिश्रम किया। सबसे पहले सन् १९३६ में डबल ईस्ट इण्डोबं गए। सन् १९४५ में आस्ट्रेलिया तथा सन् १९४४ में सोवियत रूस गए। ये तीनों यात्राएँ उन्होंने भारतीय औद्योगिक प्रतिनिधि के रूप में की थी, जो परिणाम की दृष्टि से

अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। उसके बाद उन्होंने ब्रिटेन, अमेरिका, जर्मनी तथा अन्य योरोपीय देशों में भी परिभ्रमण किया और उससे जो अनुभव प्राप्त किया, उन उपलब्धियों के समावेशन द्वारा साहू जैन उद्योग को आधिकाधिक समृद्ध बनाया। इसमें जहाँ साहू उद्योग में विशिष्टता आई, वहाँ साहू जी का व्यक्तित्व उजागर हुआ। उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी महत्ता विलम्बता थी। जिस तरह वे व्यापारादि में अपने बड़े उसी तरह उनका व्यक्तित्व भी प्रतिभाशाली होता गया।

व्यक्तित्व

उनकी गणना भारत के महान औद्योगिक और प्रतिष्ठित परिवारों में की जाने लगी। इतना ही नहीं किन्तु उनकी उदारता, सौजन्य और कर्तव्यनिष्ठा ने व्यक्तित्व की महत्ता में चार चांद लगा दिये। जिस सहजता के साथ औद्योगिक और व्यवसायिक क्षेत्रों में साहू जी ने जो सफलता प्राप्त की, वह उनकी स्वभावगत प्रतिभा, सूक्ष्म-बुद्धि, संगठन क्षमता और अध्यवसाय की सम्मिलित देन है। उनका प्रतिभाशाली व्यक्तित्व, कार्यक्षमता, विवेक पटुता, साहस और अभावनाय उनकी इस कार्य प्रणाली में सहायक थे। उद्योग वर्गों की स्थापना कुशल नेतृत्व के बिना नहीं हो सकती। देश में अनेक उद्योगों के विकास में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

जहाँ उनमें भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति, इतिहास और पुरातत्त्व के अध्ययन के प्रति आन्तरिक रुचि थी, उनके धार्मिक विचार काफी दृढ़ और गहरे थे। उनके धार्मिक एवं व्यावसायिक समस्याओं के सुलभ समाधान लोच निकालने की क्षमता भी थी।

साहू शान्ति प्रमाद जी साहू जैन उद्योगों के अधिष्ठाता थे और देश में मजान उद्योगपतियों की प्रथम श्रेणी में थे। उनके कुशल एवं व्यापक निर्देशन के परिणामस्वरूप साहू जैन उद्योग वर्ग अत्यन्त सुनियोजित रूप में संगठित है। उनमें कागज, चीनी, वनस्पति, सीमेंट, एसबेस्टम प्रोडक्ट्स, पाट निपिनवस्त्र, भारी रसायन, नाइट्रोजन खाद, पत्थर अत्कोहल, प्लाईवुड, कोयले की खानें, लाइट रेलवे व इन्फ्रानिफरिंग वर्क्स आते हैं। हिन्दी,

अंग्रेजी, मराठी और गुजराती के दैनिक पत्र और साप्ताहिक पत्र और पत्रिकाएँ, तथा साहित्यिक, सांस्कृतिक और शोधपूर्ण प्रकाशन उनके महत्वपूर्ण कार्य हैं।

साहू जी निगत वर्षों में देश की विभिन्न शीर्ष व्यवसाय संस्थाओं के अध्यक्ष रहे हैं। इनमें प्रमुख हैं फेडरेशन आफ इण्डियन चेम्बरस आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री, इण्डियन चेम्बरस आफ कामर्स, इण्डियन शुगर मिल्स एसोसिएशन, बिहार चेम्बरस आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री, राजस्थान चेम्बरस आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री तथा ईस्टर्न यू. पी. चेम्बरस आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री।

च.र.वर्ष तक लगातार आप प्रा.इण्डिया फार्म-नाइजेशन आफ इण्डस्ट्रियल एम्प्लायर्स के भी अध्यक्ष रहे और इसी अवधि में जब भारतीय श्रम व्यवस्था सम्बन्धी नियम बने, तब आपने अपने उद्योग वर्गों का आवाह्वारिक दृष्टिकोण उपस्थित किया।

सामाजिक जीवन

अपनी विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्नता तथा व्यापक अनुभव के कारण साहूजी देश के उद्योग एवं व्यवसाय वर्ग द्वारा अनेक अवसरों पर सम्मानित किए गए। स्वर्गीय पं० जवाहर लाल नेहरू ने देश की औद्योगिक प्रगति की वैज्ञानिक परिकल्पना को कार्यान्वित करने के लिए जो प्रथम राष्ट्रीय समिति गठित की, उसमें देश के तत्काल औद्योगिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के लिए आपका उपका सबसे बनाया था।

इन सब कार्यों और व्यवसाय में संलग्न होते हुए भी उन्हें जैन धर्म और संस्कृति से गहरा प्रेम था। वे जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धालु और दयालु थे। जैन धर्म का महत्व उनकी रंग-रंग में समझा हुआ था। उद्योगपति और तनी होते हुए भी उनमें अभिमान नहीं था। वे कभी दूसरों को नीचा दिखाने की दृष्टि से कोई कार्य नहीं करते थे। जहाँ उनका व्यक्तित्व महान था, वहाँ उनका कृतित्व भी कम महत्वपूर्ण नहीं था। वे श्रावक धर्म का यथाशक्ति पालन करते थे। उनके इस धर्मानुराग के कारण ही जैन समाज ने उन्हें श्रावकशिरोमणि की उपाधि से भल्लूकृत किया था।

साहू साहू ने अपने जीवन में जो धार्मिक, सांस्कृतिक

और लोक हितकारी ठोस कार्य सम्पन्न किए हैं। उन्हें देखते हुए ऐसा लगता है कि साहू जी ने जैन संस्कृति को ऊँचा उठाने के लिए विविध संस्थाओं का निर्माण और उनके संचालन के रूप में भारी योगदान दिया है और अपनी उदारता एवं सौजन्य से उनकी संचालन व्यवस्था में अर्थाभाव के कारण शिथिलता नहीं आने दी। उस समय जो भी सस्याधिकारी उनके पास पहुँचा, वह कभी खाली हाथ नहीं लौटा। उन्होंने उनकी तत्काल अर्थपूर्ति की। वे समाज के धार्मिक एवं सांस्कृतिक उत्सवों और सामाजिक गोष्ठियों में रस लेने लगे। वे कई संस्थाओं के अध्यक्ष और मंत्री चुने गए। समाज में उनकी महती प्रतिष्ठा बढ़ी और उनके कृतित्व की महत्ता जैन समाज में छा गई। उन्होंने जैन तीर्थों की महती सेवा की और अपने व्यक्तित्व के अनुसार उनके समुदाय में अपना योगदान दिया। उन्होंने तीर्थ क्षेत्र कमेटी का व्यवस्थित कराया। वे समाज संगठन की आवश्यकता को भी महसूस करते थे।

जब मध्यप्रदेश आदि में प्राचीन जैन कलात्मक मूर्तियों के तस्कर गिराहों द्वारा पुरातात्विक बहुमूल्य सामग्री विदेशों में बेचकर अर्थाजन किया जान लगा तब इससे जैन समाज में क्षोभ बढ़ गया और समाज के धार्मिक पुरुषों और साहू जो को इससे बड़ा खेद और बुल हुआ। परिणामस्वरूप उसके संरक्षण का भी विचार किया गया। साहू जी ने इस सम्बन्ध में यह नश्य किया कि इसके लिए एक ट्रस्ट की स्थापना की जाय। अतएव उन्होंने सन् १९५१ में एक ट्रस्ट की स्थापना की, जिसका उद्देश्य सांस्कृतिक संस्थाओं को प्रोत्साहन देना, प्राचीन मन्दिरों और तीर्थों का जीर्णोद्धार करना, देश में सर्वांगीण सप्रहालय स्थापित करना और विद्यार्थियों को प्रारम्भिक श्रेणी से लेकर विश्वविद्यालय के स्तर तक शिक्षा कार्य में आर्थिक सहयोग प्रदान करना है।

इस ट्रस्ट द्वारा पिछले कुछ वर्षों में देश के विभिन्न शिक्षा केन्द्रों के ५५०० विद्यार्थियों को सत्रह लाख सेईस हजार रुपये की सहायता दी गई और विदेशों में शिक्षा जैन करने वाले ७५ स्नातकों को दो लाख की सहायता राशि अतिरिक्त दी गई।

इसी ट्रस्ट द्वारा महावीर की जन्म स्थली वंशाली में

(बिहार में) रिसर्च इंस्टिट्यूट आफ प्राकृत जैनालोमी और ग्रहिसा शोध संस्थान बिल्डिंग के निर्माण के लिए पचास लाख पचास हजार रुपये की राशि अनुदान स्वरूप दी गई। इस संस्था का संचालन बिहार सरकार की ओर से हो रहा है।

इसी ट्रस्ट द्वारा देवगढ़, पगौरा, आहार, वानपुर, पचराई, द्रोणगिरि, अयोध्या, खजुराहो और बित्तीड़गढ़ आदि स्थानों के मंदिरों और तीर्थ स्थानों का जीर्णोद्धार किया गया और देवगढ़ में सप्रहालय की भी स्थापना की गई।

दो लाख रुपये का अनुदान मैसूर विश्वविद्यालय को प्राकृत परिशीलन पीठ की स्थापना के लिए प्रदान किया गया। स्वर्गीय डा० ए० एन० च० घ्ये ने पीठ पर सबसे पहले आसन ग्रहण किया।

इनके अतिरिक्त, दो इण्टरमीडिएट कालेज नजीबाबाद में खोले गए और चलाये जाते हैं। उनके द्वारा स्थापित अन्य संस्थाएँ हैं: मूर्तिदेवी कन्या विद्यालय, नजीबाबाद, शान्ति प्रसाद जैन काजेज, सासाराम (बिहार) तथा रामारानी जैन बालिका विद्यालय, डेहरी मोन-मोन, बिहार; अशोक कुमार जैन हाई स्कूल, दरीहाट (बिहार); राजेन्द्र छात्र भवन, कलकत्ता; गोविन्द बल्लभ पंत छात्रभवन, कलकत्ता; श्री दिगम्बर जैन विद्यालय, कलकत्ता; श्री दिगम्बर बालिका विद्यालय, कलकत्ता; मा० वाडी ग्लोफ सोसायटी हस्पताल, कलकत्ता; ग्रहिसा प्रचार समिति, कलकत्ता; वीर सेवा मंदिर, दिल्ली; गणेश वर्णी संस्कृत महाविद्यालय, मागर; स्यादाद महाविद्यालय बनारस।

भारतीय ज्ञानपीठ के अतिरिक्त अन्य ट्रस्टों की भी उन्होंने स्थापना की है। इनमें प्रमुख है साहू जैन ट्रस्ट और साहू जैन चैरिटेबल सोसाइटी। भारतीय ज्ञानपीठ, एक महत्वपूर्ण साहित्य प्रकाशक संस्था है, जिसके द्वारा प्राकृत, संस्कृत अंग्रेजी, कन्नड़ आदि भाषाओं में विपुल साहित्य प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें अन्य कई ग्रंथमालाएँ हैं जिनमें हिन्दी साहित्य आदि का प्रकाशन होता है। इसकी सबसे बड़ी महत्ता विविध भाषाओं की सर्वोत्कृष्ट रचनाओं पर प्रतिवर्ष एक लाख रुपये का पुरस्कार बितरण है। अब तक १२ पुरस्कार दिये जा चुके हैं। माणिकगढ़

ग्रंथमाला से भी कई ग्रंथ प्रकाशित किए गए हैं।

२५००वीं निर्वाण महोत्सव

भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव में साहू शान्ति प्रसाद जी ने कार्याध्यक्ष होकर जो महत्वपूर्ण कार्य किया वह अद्वितीय है। आपने उसे गति प्रदान करते हुए भगवान महावीर और उनके मिद्धान्तों को घर-घर में पहुंचाने का प्रयत्न किया है और धर्मचक्र द्वारा सारे भारतवर्ष में उनकी वाणी और चरित को पहुंचाने का अनुक्रम अनूठा था। दिल्ली में जो उसका विशाल जलूस निकला वह प्रदर्शनीय था। आकर्षण की वस्तु था। इसका प्रमुख श्रेय साहूगान्धि प्रसाद जी को है दिल्ली जैन समाज और अखिल भारतीय जैन समाज को है। भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गान्धी के सौजन्य से सरकार से भी पूर्ण सहयोग मिला, इसके लिए सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

दिगम्बर जैन समाज में सगठन और एकता बनी रहे तथा समन्वय की भावना का जल मिले, इसके लिए साहू जी ने महामणि का निर्माण किया। महासमिति की स्थापना द्वारा जो कार्य वे निष्पन्न करना

□ □ □

(पृष्ठ २० का शेषांश)

नियम जब साहू जी को भेजे और उनसे तरथा का संरक्षक बनने के लिए निवेदन किया तो उन्होंने साहित्य प्रकाशन की योजना की प्रशंसा करते हुए तत्काल उसका संरक्षक बनने स्वीकार कर लिया। इसलिए पता नहीं उन्होंने कितनी प्रकाशन संस्थाओं को जैन साहित्य के प्रचार प्रसार में योग दिया था।

जैन साहित्य एवं जैन समाज की सेवा के लिए उनके हृदय में गहरे भाव थे। भगवान महावीर की २५००वीं निर्वाण शताब्दी महोत्सव का जिस कुशलता एवं सजगता से संचालन किया तथा समस्त जैन समाज को एकसूत्र में बांधने का जो प्रशंसनीय कार्य किया वह साहू जी जैसे व्यक्ति के लिए ही सम्भव था और वह सब उनकी वर्षों की साधना का फल था। स्वास्थ्य खराब होने एवं अर्धपत्नी श्रीमती रमा जी का वियोग होने पर भी उन्होंने जिस असाधारण साहस एवं सूक्ष्मबुद्धि से काम लिया, सारे

चाहते थे, यद्यपि वे उसे पूरा नहीं कर पाए। तदपि अब समाज का कर्तव्य है कि वह अपने दायित्व को समझकर महासमिति के कार्य को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करे।

ऊपर दिखलाए गए धार्मिक और सांस्कृतिक ठोस कार्यों में साहू जी का जो सहयोग मिला, वह अनुकरणीय है। इन ठोस कार्यों में द्रव्यविनिमय कर वे सच्चे अर्थों में दानवीर हैं। विभिन्न कार्यक्रमों, योजनाओं में उनका चिन्तन एवं नेतृत्व द्वारा जो विशिष्ट दिशादान साहू साहब ने दिया है वह चिरस्मरणीय रहेगा।

अन्तिम क्षणों में साहू जी के परिणाम इतने निर्मल हो गए थे कि उन्होंने अपने पुत्र अशोक कुमार जैन से इच्छा व्यक्त की थी कि वह स्वस्थ होने के उपरान्त हमिनपुर में मुनि श्री शान्तिमागर जी के निर्देश में शेष जीवन व्यतीत करेंगे तथा महाराज श्री जगज्जैमी उचित समझे, देंगे।

इसमें स्पष्ट है कि साहू जी की धार्मिक भावना अन्तिम समय तक सजीव रही है। यद्यपि यहाँ उनका भौतिक शरीर अब नहीं है। किन्तु महत्वपूर्ण कार्यों में वे अमर हैं।

देश का एकबार ही नहीं, कितनी ही बार दौरा किया तथा गरीब सँभलकर गरीब तक में जन सेवा के भाव-भरे वह सब उनके महान् व्यक्तित्व का परिचायक हैं। जयपुर में आयोजित एक सभा में वे इतने द्रवीभूत हो गये कि सारी सभा के ही आसू बह निकले थे।

साहू जी पुरातत्व के प्रेमी थे प्राचीन मंदिरों के जीर्णोद्धार में उन्होंने विशेष रुचि ली। दक्षिण भारत एवं बुन्देलखण्ड के कितने ही मंदिरों का उन्होंने जीर्णोद्धार करवा कर मंदिरों की कला एवं सम्पत्ति को नष्ट होने से बचा लिया।

साहू जी के कार्यों का वर्णन करने के लिए किसी एक बड़े ग्रंथ की आवश्यकता है, जिसमें उनके जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर सांगोपांग वर्णन रहे। तभी जाकर हम उनके पूरे कार्यों से समाज को एवं आगे आने वाली पीढ़ी को परिचित करा सकेंगे।

□ □ □

यशस्वी सरस्वती पुत्र

□ श्रीमती जयवन्ती देवी जैन, नई दिल्ली

स जातो येन जातेन, याति वंशः समुन्नतिम् ।

परिवर्तिनि संसारे, मृतः कोऽत्र न जायते ॥

यों तो ससार में हजारों जीव जन्म लेते हैं तथा मरण करते हैं लेकिन जीना उन्हीं का सफल है जो अपना जीवन समाज सेवा में लगा देते हैं तथा अपने कार्यों द्वारा मरकर भी जीवित रहते हैं ।

साहू जी की जीवनी त्याग और परोपकार की जीतो-जागती मिसाल है । साहू जी कहा करते थे कि देश के इन छोटे-छोटे वक्कों में महावीर, बुद्ध, गांधी और जवाहर विद्यमान हैं । इसलिए साहू जी ने देश के साधनहीन छात्रों की सहायता हेतु "साहू जैन ट्रस्ट" स्थापित किया । अब तक हजारों छात्र इस ट्रस्ट से लाभान्वित होकर तथा अपनी शिक्षा पूरी कर प्रतिष्ठित पदों पर आसीन हैं । मेधावी छात्रों को विदेशों में विद्याध्ययन हेतु आर्थिक सहायता देकर सैकड़ों छात्र इंजीनियर, डाक्टर बनकर माँ भारती की सेवा कर रहे हैं ।

एक बार डा० ए० एन० उपाध्ये ने श्री दि० जैन लाल मंदिर में आयोजित एक सभा में ठीक ही कहा था कि "साहूजी ने विपुल धनराशि अर्जित करने में जितनी सावधानी बरती है, उतनी ही सावधानी उसके सदुपयोग में की है ।" साहूजी धन के सदुपयोग में ज्ञान प्रचार को प्राथमिकता देते थे । इसीलिए उन्होंने देश की सैकड़ों शिक्षा संस्थाओं को विपुल धनराशि प्रदान की ।

श्री दि० जैन महिलाश्रम, दरियागज, दिल्ली भी उन्हीं संस्थाओं में से एक है जो उनकी उदारता के लिए चिर श्रेणी है ।

मातृभक्त : अपनी माता स्व० मूर्ति देवी की स्मृति जीवित रखने के लिए आपने 'मूर्ति देवी ग्रंथमाला' का शुभारम्भ किया । इस ग्रंथमाला के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रंथों से भगवान महावीर की देशना का घर-घर में प्रचार हुआ है ।

धन्य है उस माँ को, जिसने ऐसे यशस्वी सरस्वती पुत्र को जन्म दिया ।

ज्ञान की भागीरथी को बहाने, और अज्ञान के अन्धकार को नष्ट करने के लिए साहू जी ने 'भारतीय ज्ञानपीठ' की स्थापना की । उनकी स्वनामधेय पत्नी स्व० श्रीमती रमा जैन ने इस भारतीय ज्ञानपीठ की अध्यक्षता के रूप में साहूजी के यश को अमर किया । देश-विदेश का सम्पूर्ण वाङ्मय ज्ञानपीठ के द्वारा आदर एवं प्रतिष्ठा का पात्र बनाया ।

श्रेष्ठ आचरक : प्रायः देखा जाता है कि बिपुल धनराशि मनुष्य को मदांघ बना देती है किन्तु साहू जी इसके अपवाद थे । आचरक के षट् कर्तव्यों के पालन में उनकी रुचि थी । उनका विनम्र स्वभाव, निश्छल व्यवहार, शुभमति, स्वदार संतोष व्रत, ममाज प्रेम एवं अभीक्षण ज्ञानानुराग उनके यशःकाय को अमरत्व प्रदान करता है ।

अपनी प्रशंसा सुनकर साहू जी नतमस्तक हो जाते थे । महाराज विद्यानन्द जी की उपस्थिति में अपने ६०वें जन्म दिवस समारोह के अवसर पर अपनी प्रशंसा सुनकर साहूजी रोने लगे । उपस्थित समाज को सम्बोधित करते हुए वे बोले कि "जयन्ती तो उन महापुरुषों की मनाते हैं जिनका पुनः जन्म नहीं होगा । मुझे तो ससारचक्र में भ्रमण करना है । विद्यानन्द महाराज ने जो कुछ मेरे विषय में कहा है, मैं उसके योग्य नहीं हूँ ।" और गद्गद कण्ठ होकर मंच पर बैठकर रोने लगे ।

उक्त घटना साहूजी की भ्रान्तरिक महानता एवं नर-जन्म को सार्थक बनाने की तड़कन को व्यक्त करती है ।

तीर्थ भक्त : जिस प्रकार साहू जी मुनिभक्त थे उसी प्रकार तीर्थभक्त भी थे । तीर्थों की रक्षा करने, मन्दिरों का (शेष पृष्ठ २८ पर)

अनुपम आदर्श जीवन

□ डा० प्रेमचंद राविका

स्व० माहू शान्तिप्रसाद जी जैन का स्मरण होते ही एक अनुपम आदर्श जीवन्त प्रतिमा हमारे सामने साकार हो उठती है। उनका सम्पूर्ण जीवन भारतीय साहित्य, संस्कृति, उद्योग एवं ज्ञान-विज्ञान को समर्पित जीवन था। उनकी अद्वितीय प्रतिभा लक्ष्मी एवं सरस्वती के सम्यक् उपयोग एवं सेवा में संलग्न थी। भारतीय जन-जीवन के प्रमुख क्षेत्र में धर्म, समाज, साहित्य, उद्योग और यत्किंचित राजनीति में भी उनका अपना प्रभाव एवं योगदान था। वे वस्तुतः एक प्रेरणादायी दीपस्तम्भ थे। साहित्य एवं संस्कृति के वे सच्चे उपासको मे से थे।

हममें कोई प्रतिशयोक्ति नहीं कि स्व० साहू सा० और उनकी सहधर्मचारिणी स्व० रमा जी दोनों के कबो पर लक्ष्मी एवं सरस्वती को जोड़ने वाला विशाल सेतु आधा-ति था। भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना, उसके माध्यम से भारतीय साहित्य का प्रकाशन और इससे भी महनीय कार्य जो भारत सरकार भी नहीं कर सकी, प्रत्येक वर्ष भारत की विभिन्न भाषाओं के उच्चकोटि के सृजन पर एक लाख का पुरस्कार उनकी विरथायी यशोगाथा है। लक्ष्मी एवं सरस्वती का ऐसा सुन्दर समाज बिरला ही दृष्टिगोचर होता है।

स्व० साहूजी के जीवन की महत्वपूर्ण विशेषता उनकी धर्मपत्नी रमा जी की धर्मनिष्ठा है। रमा जी की उदात्त धर्म भाव भावना ने साहू जी को साहित्य एवं संस्कृति के प्रति अधिक रवानिष्ठ बनाया। लक्ष्मी का मोह और मग्न साहूजी को अभीष्ट नहीं था, अपितु धन पर विजय प्राप्त कर उसका धर्म, समाज, सेवा, संस्कृति व साहित्य के संरक्षण, सम्पोषण एवं संवर्द्धन में सम्यक् उपयोग ही उनके अर्थोपार्जन का अभीष्ट था। वे उदार विचारों

के थे, जिसका परिणाम आज भारतीय ज्ञानपीठ है। वस्तुतः धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में इस संस्था के माध्यम से माहू दम्पति ने जो कुछ किया वह सब स्वर्णक्षरों में उल्लेखनीय है।

स्व० साहूजी के गहन अध्ययन का पता मूर्ध्ने प्रत्यक्ष में उस समय देखने को मिला, जब मन् १९७२ में भारत वर्षीय दिगम्बर जैन परिषद का अधिवेशन कोटा (राज) में आयोजित किया गया था। उन्ही दिनों हमें उनके साथ चम्बल नदी पार केशोराव पाटन के दि० जैन मन्दिर भी ले जाया गया। मन्दिर एवं मूर्तियां बड़ी प्राचीन थीं। हमें मन्दिर में भू-गर्भ में सुरक्षित प्रतिमाओं के भी दर्शन कराए गए। मन्दिर में विराजमान सभी मूर्तियां प्राचीन हैं। श्री मुनिसुव्रत नाथ की मूर्ति, जो कृष्ण पाषाण की थी, अत्यधिक प्राचीन के स० १३वीं शताब्दी के आसपास महमूद गजनवी के आक्रमण चिह्न उस पर अंकित थे। साहू जी उस प्रतिमा की ओर काफी समय निहारते रहे। पास एक अन्य मूर्ति थी जिसको केवल साहूजी ही पहचान सके। उन्होंने बताया कि वह मल्लिनाथ की प्रतिमा है। उन प्राचीन प्रतिमाओं को देखकर उन्होंने जो चर्चा की, उससे उनकी गहन अध्ययन, रुचि एवं मनन-शीलता का पता चला।

भारतीय ज्ञानपीठ के रूप में साहू-दम्पति का यश चिरस्थायी रहेगा। उनकी स्मृति को यह संस्थान सदा ताजा एवं शाश्वत बनाये रखेगा। उस दम्पति का वह अनुपम जीवनादर्श समाज के धनी-मानी, सेठों, नेताओं, समाजसेवियों, उद्योग-पतियों के लिए निश्चित ही अनुकरणीय है। ऐसे धर्मनिष्ठ साहित्य, संस्कृति एवं राष्ट्रसेवी दिवंगत साहू-दम्पति को शतशत वन्दन ! □□□

उन्हें श्रमण-दीक्षा की आकांक्षा थी !

□ श्री गणेश लल्लबानी

साहू शान्तिप्रसादजी के नाम से हम सभी न्यूनाधिक रूप में परिचित हैं। उनके निधन से भारत ने अपना एक ख्यातिमान उद्योगपति ही नहीं खोया, खो दिया एक सहृदय साहित्य एवं कलाप्रेमी को भी। भारतीय वाङ्मय के क्षेत्र में यह क्षति सहज ही पूर्ण होने वाली नहीं, क्योंकि भारतीय ज्ञानपीठ की प्रतिष्ठा से लेकर आज तक, अर्थात् १९४४ से अब तक, साहूजी ने भारतीय साहित्य और संस्कृति के विकास, प्रचार व प्रसारण में जो सहयोग दिया वह अनायास ही दृष्टिगत नहीं होता।

उत्तर प्रदेश के अन्नगंत नजीबाबाद के प्रख्यात साहू परिवार में उनका जन्म हुआ। उनके पिता का नाम दीवानचन्द व मातृश्री का मूर्तिदेवी था। उनकी प्राथमिक शिक्षा नजीबाबाद में ही हुई। तदुपरान्त काशी विश्व-विद्यालय एवं अन्ततः गागरा विश्वविद्यालय में। यहीं से उन्होंने प्रथम श्रेणी में बी० एस० की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी क्षताब्दी के तीसरे दशक में उन्होंने उद्योग एवं व्यवसाय के क्षेत्र में प्रवेश किया एवं सतत अध्ययन, परिश्रम और लगन के बल पर थोड़े ही दिनों में महती सफलता भी अर्जित की। इस क्षेत्र में वे परम्परागत प्रथा अनुसरण के पक्षपाती नहीं थे। वे थे विभिन्न पाश्चात्य देश व्यवसाय संचालन पद्धति में, जो दिन प्रतिदिन नए-नए प्रयोग कर रहे थे, उसके मूल्यांकन एवं प्रयोग के पक्षपाती। अतः उन्होंने आधुनिक प्रयोग पद्धति के विषय में विभिन्न ग्रन्थों का अध्ययन ही नहीं किया, बल्कि पूर्ण जानकारी के लिए पश्चिम यूरोप के अतिरिक्त सोवियत यूनियन, डच वेस्ट इण्डोनीज़ एवं आस्ट्रेलिया आदि देशों के उद्योगक्षेत्रों का निरीक्षण भी किया। विज्ञान के छात्र होते हुए भी उन्होंने अर्थशास्त्र के आधुनिकतम सिद्धान्तों का अध्ययन किया। सद्यः संग्रह में भी उनकी विशेष अभिरुचि थी। साथ ही कौन-सी स्थिति में कौन-सा

सिद्धान्त ग्रहण करना इसकी सहजतः प्रतिभा भी उनमें थी। अतः उनका व्यवसायी वर्ग में प्रमुख बनना स्वाभाविक ही था। जिस प्रकार वे 'फेडरेशन आफ इण्डियन चेम्बर आफ कामर्स' जैसी उच्च संस्थाओं के अध्यक्ष चुने गए, उसी प्रकार उनके द्वारा सम्मानित भी हुए। वह भी एक बार नहीं अनेक बार। देश की औद्योगिक प्रगति को कार्यान्वित करने के लिए स्वर्गीय पं० जवाहरलालजी ने जिस प्रथम राष्ट्रीय समिति का गठन किया, उसमें देश के तरुण औद्योगिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के लिए साहूजी की ही चुना था। गत ४५ वर्षों से वे जिन उद्योगों से सम्बन्धित थे, वे थे कागज, चीनी, सिमेंट, वनस्पति, ऐम-वेस्टस, पाट निमित्त वस्तुएँ, भारी रसायन, नाइट्रोजन खाद, पावर स्कोहल, प्लाईवुड, सायकिल कोयले की खानें, साइट-रेलवे आदि के साथ-साथ हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी, गुजराती के दैनिक पत्र एवं पत्रिकाएँ।

यह एक पहल थी साहूजी के व्यक्तित्व की; और दूसरी पहल जिसने उन्हें हमारे सन्निकट कर दिया, यह थी भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के प्रति सहज आन्तरिक अनुराग की। इसी अनुराग ने उन्हें भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना के लिये उत्तेजित किया था। अतः ही इन कार्य में उन्हें अपनी सह-धर्मिणी रमाजी का पूर्ण सहयोग प्राप्त था। (खेद है कि रमाजी भी मात्र इस धरती पर नहीं रहें। उनका देहान्त भी २२ जुलाई, १९७५ को हो गया) आज १९४४ की १८ फरवरी का वह दिन याद आ रहा है जिस दिन वृत्तारणसी में आल इण्डिया थोरिंगटन कान्फ़रेंस के अविवेशन में साहूजी ने ज्ञानपीठ प्रतिष्ठा की उद्घोषणा की थी। इस कार्य के लिए उन्हें जिन्होंने प्रेरणा दी वे थे मुनि जिनविजयजी, पं० सुलालजी, डा० हीरालालजी व डा० उपाध्ये। उन लोगों का लक्ष्य या प्राप्ति विद्या की उपेक्षित शाखा जैन विद्या की

अमृत्य प्राचीन ग्रन्थराशि का उद्धार, संपादन व प्रकाशन। एतदर्थ वे लोग थे 'भारतीय ज्ञानपीठ' के स्थान पर जैन ज्ञानपीठ' नाम के प्रधान पक्षपाती। किन्तु, साहूजी विशेषतः रमाजी इससे सहमत नहीं हुई। इनका लक्ष्य था और अधिक व्यापक और अधिक विशाल।

भारतीय प्रकाशन के क्षेत्र में ज्ञानपीठ एक स्मरणीय नाम है। सृतिदेवी और लोकोदय दो ग्रन्थमाखाओं के अतिरिक्त भारतीय ज्ञानपीठ 'माणिकचंद ग्रन्थमाला' में प्राचीन दुर्लभ साहित्य का पुनर्मुद्रण, 'रमा जैन तामिल एवं कन्नड ग्रन्थमाला' में प्राचीन तामिल व कन्नड ग्रंथों का प्रकाशन रमा जैन 'सांस्कृतिक ग्रन्थमाला' में विचारपरक शोधमूलक, साहित्य प्रकाशन आदि विभिन्न परिकल्पनाओं को अनवरत रूपायित किया जा रहा है। विगत भगवान महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष में प्रकाशित महावीर सम्बन्धी ग्रंथों की संख्या भी कम नहीं है। १५०० विन्न सबलित तीन भागों में प्रका-

शित 'जैन कला एवं स्थापत्य का इतिहास' भी इसी साहित्य के अन्तर्गत है।

अपने व्यक्तिगत जीवन में साहूजी जिस प्रकार निर-भिमानी, हँसमुख व मिलनसार थे, उसी प्रकार वे थे धर्म-निष्ठ और चरित्र-सम्पन्न। धर्म एवं तीर्थक्षेत्र में तो आप मुक्तहस्त से दान-देते ही थे, सामाजिक उत्थान व सगौन आर्थिक परिस्थितिवालों की सहायता भी अकृपण भाव से करते थे। शिक्षालय, प्रतिष्ठान, सराक जाति उन्नयन आदि कार्यों में भी वे कम अर्थव्यय नहीं करते थे। वे मात्र औप-चारिक अर्थ में ही धार्मिक नहीं थे, धार्मिक संस्कार उनकी रगों में इस प्रकार व्याप्त हो गया था कि मृत्यु के कुछ पूर्व उन्होंने यह अभिमत व्यक्त किया था कि 'आरोग्य लाभ के बाद मैं हस्तिनापुर जाकर मुनिश्री शान्तिसागरजी से श्रमण दीक्षा ग्रहण करूँगा।' उनकी वह इच्छा अवश्य ही पूरी नहीं हुई, पर वह उन्हें उच्च लोक ले जाने में अवश्य सहायक बनी होगी।



(पृष्ठ २५ का शेषांश)

जीर्णोद्धार कराने, पुरानी कलाकृतियों के संरक्षण आदि में साहूजी ने विशाल धनराशि व्यय की। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में साहूजी अक्षिपत्र के जीर्णोद्धार तथा नव-निर्माण के मांगलिक कार्य में व्यस्त रहे।

परम विवेकी : साहूजी की प्रत्येक क्रिया उनके प्रौढ़ विवेक की परिचायक थी। उनकी श्रद्धा एवं संतुलित विवेक समन्वित आचार-व्यवहार रत्नत्रय की सार्थकता को प्रकट करता है।

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव पर दिगम्बर-क्षेत्राम्बर सभी को एक भण्डे के नीचे लाने तथा

समाज की आपसी फूट को मिटाकर वास्तव्य भाव की अभिवृद्धि करने में साहूजी ने एक युगपुरुष का कार्य किया है। ऐसे महापुरुष के बारे में जितना भी लिखा जाय वह कम है।

असमय में ऐसी ज्योति का हमारे बीच से अदृश्य हो जाना राष्ट्र एवं समाज की एक अपूरणीय क्षति है। जिस महापुरुष ने प्रचुर विभूति पाकर भी भरत के समान जल में कमलवत् आदर्श प्रस्तुत किया है उन्हें मैं बिनत श्रद्धा सुमन चढ़ाती हूँ।

उनकी लगन और दृष्टि

□ मुनिश्री यशोबिजयजी

जैन धर्म के प्रभावक श्री साहूजी को मैं परोक्ष रीति से जानता था किन्तु प्रत्यक्ष परिचय के बाद विशेष रूप से जानकारी मिली।

प्रशान्त स्वभाव सुभावक श्री श्रेयासप्रसादजी जैन जो मेरे प्रति हार्दिक भाव रखते हैं, उनके कहने से साहूजी भगवान श्री महावीर के प्रगट होनेवाले चित्र सपुट की जानकारी और कुछ प्रस्ताव रख करके लिए बम्बई आये। पूर्व निश्चित समय पर वे श्री श्रेयासप्रसादजी के साथ भुक्तमे मिलने के लिये वालकेश्वर उपाश्रय में आये। साथ थे मे श्री लक्ष्मीचन्दजी जैन और श्री अग्रचन्दजी नाहटा भी। दो दिन मिले, घटो विविध विषयों पर चर्चा-वार्तालाप हुआ। चित्रों को देखकर, सपुट का कार्य देखकर बोले—‘जैन कला मर गई है, ऐसा ही माना जाता था। लेकिन सचमुच आपने जैन कला जीवत कर दी है, आपने साधु होकर जो काम किया है, उससे साश्चर्य गौरव अनुभव करता हूँ।’ निर्वाण महोत्सव के बारे में भी विविध स्तर पर वार्तालाप हुआ था।

उन्होंने यह भी कहा कि दिगंबरीय चार-पाँच चित्र-सपुट में सम्मिलित किये जायें, तो २५ हजार प्रतियाँ

सपुट की छापनी पड़ेगी, विश्व के कोने-कोने में जाने के लिए। भगवान महावीर के चित्र के प्रचार के बारे में उनमें कितनी लगन थी, यह दिखाई पड़ता है।

उसी समय मेरे पास स्वनिर्मित हृषीदास का भगवान का कमल था। वह देखकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए और सामने से माँग की, तो बड़े प्रेम से भेंट किया।

निर्वाण महोत्सव बड़े उत्साह से प्रभावपूर्ण ढंग से सम्पन्न हुआ। जैन धर्म और भगवान श्री महावीर की जानकारी सबको मिले, इसके लिए उनमें जो लगन देखी और अस्वस्थ होते हुए भी वे कार्य करते रहे तदर्थ साहूजी का शतशः धन्यवाद है। तदनंतर सेठश्री कस्तूरभाई का नाम भी उल्लेखनीय है। दोनों की विशिष्ट दृष्टि, बुद्धि, शक्ति और प्रभाव से निर्वाण महोत्सव जय-जयकार रूप से अविस्मरणीय बन गया।

उनकी उपस्थिति में तीर्थों का विवाद समाप्त हो जाता तो कितना सुन्दर हो जाता ?

अन्त में, यही क मना है कि उनका परिवार उन्हीं के मार्ग पर चले, सांप्रदायिक दृष्टि में विमुक्त बनकर जैन धर्म और समाज सेवा करता रहे।

□ □ □

सामाजिक इतिहास का एक युगांत

□ श्री चन्दनमल

श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन के २७ अक्टूबर, १९७७ को प्रातः ११ बजे दिल्ली में देहावसन होने पर समस्त जैन समाज एवं देश, औद्योगिक, सांस्कृतिक साहित्यिक क्षेत्र शोकमग्न हो गए। श्री साहू जी को दिन का दौरा एक सप्ताह पूर्व पड़ा था और उन्हें तत्काल स्थानीय सर गंगाराम अस्पताल के नर्सिंग होम में ले जाया गया था। तबियत काफी कुछ संभल गई थी, किन्तु फिर एक दो हल्के दौरों और पड़ गये और उनका देह बर्पन हो गया।

उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत नजीबाबाद के पुगने घरानों में साहू जैन घराना बहुत प्रतिष्ठित रहा है। श्री शान्तिप्रसादजी का जन्म इसी नगर और घराने में सन् १९१२ में हुआ था। उनके पितामह साहू सतकचन्द्र जैन थे, पिताजी दीवानचन्द्रजी और माता श्रीमती भूतिदेवीजी थी।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा नजीबाबाद के शिक्षा केन्द्रों में हुई। हाई स्कूल करने के बाद आपने काशी विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। वहाँ से फिर आगरा विश्वविद्यालय में आ गये। आगरा विश्वविद्यालय से ही बी. एम.सी. परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। वस्तुतः आपका मसूदा ही विद्यार्थी जीवन प्रथम श्रेणी का रहा और यह केवल अध्ययन और ज्ञानोपाजन की दृष्टि से ही नहीं, बरन् अन्य दृष्टियों से भी। वे सभी सद्गुण और सद्बुद्धियाँ आप में विकसित हुईं, जो सफलता के शिखर तक पहुँचने के लिए आवश्यक है।

उद्योग के क्षेत्र में आपने तीसरे दशक में पदार्पण किया था और प्रारम्भ से ही अपनी दृष्टि इस ओर केन्द्रित की कि न केवल देश के उद्योग, व्यवसाय का विकास और अभिवर्द्धन हो बल्कि संचालनप्रणालियों में भी नये-से-नये प्राविधिक ऋण का अध्ययन हो। इसके लिए आपने स्वयं विभिन्न आधुनिक पद्धतियों का गम्भीर अध्ययन किया तथा विविध विषय क्षेत्रों में निरन्तर गवेष-

णाए कराईं। अर्थशास्त्र और वित्तीय विद्वान्तों और पद्धतियों का आपका बड़ा व्यापक और विशद अध्ययन था, और प्रत्येक विषय से सम्बद्ध आकड़ों एवं विवरण की जानकारी इन प्रकार हृदयगम थी कि वह देश-विदेश के आर्थिक मामलों के तथ्यों का पूर्णपरिप्रेक्ष्य में देखकर सही निष्कर्ष निकालत थे और अपनी प्रतिभा से सबको चकित कर देते थे। विशेष रूप से, भारतीय उद्यम और भारतीय क्षमता के प्रति आप अपने औद्योगिक जीवन के प्रारम्भ से ही अत्यन्त आस्थावान् रहे।

साहू साहब ने अपने इन उद्देश्यों को पूर्ण की दृष्टिलक्ष्य में रखते हुए आवश्यकता के अनुरूप अग्रगण्य देशों का भ्रमण-पर्यटन भी किया। सर्वप्रथम १९३६ में वह इच-ईस्ट-इंडीज गये, फिर १९४५ में आस्ट्रेलिया और फिर १९५४ में सोवियत रूस। ये तीन यात्राएँ उन्होंने भारतीय औद्योगिक प्रतिनिधि के रूप में की थी और परिणामों की दृष्टि से वे अत्यन्त उल्लेखनीय मानी जाती हैं। ब्रिटेन, जर्मनी, जर्मनी तथा अन्य कई योगोपीय देशों का भी आपने परिभ्रमण किया और अनुभवों के समावेशन द्वारा साहू जैन उद्योगों को अधिकाधिक समृद्ध किया।

सचमुच जिस सहजता के साथ उद्योग एवं व्यवसाय के क्षेत्र में साहू जी ने सफलता प्राप्त की, वह उनकी स्वभावगत प्रतिभा और सूक्ष्मबुद्धि, सगठन क्षमता तथा अध्यवसाय और सहनशीलता की सम्मिलित देन है। पिछले लगभग ४५ वर्षों में आपने विभिन्न प्रकार और प्रकृति के उद्योग वर्गों की एक सुविस्तृत श्रेणी की स्थापना एवं संचालना करके देश के औद्योगिक विकास में योगदान किया, व अनेक उद्योगों का नेतृत्व किया। इस श्रेणी के अन्तर्गत जहाँ एक ओर कागज, चीनी, वनस्पति, सीमेंट, एसबेस्टस प्रोडक्ट्स पाट निमित्त वस्तुएँ, भारी रसायन, नाइट्रोजन खाद, पावर ग्लकोहल, प्लाईवुड, साइकिल, कोयले की खानें, लाईट रेलवे इंजीनियरिंग वर्क्स आते हैं, वहाँ दूसरी ओर

हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी, गुजराती के दैनिक पत्र और साप्ताहिक पत्रिकाएँ तथा महत्वपूर्ण सांस्कृतिक-साहित्यिक शोध एवं प्रकाशन के कार्य भी आते हैं।

विगत वर्षों में देश की विभिन्न शीर्ष व्यवसाय-संस्थाओं के आप अध्यक्ष रहे हैं। इनमें प्रमुख हैं : फेडरेशन आफ इंडियन चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री, इण्डियन चेम्बर आफ कामर्स, इण्डियन शूगर मिल्स एसोसिएशन, इण्डियन पेपर मिल्स एसोसिएशन, बिहार चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री, राजस्थान चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इण्डस्ट्री, ईस्टर्न यू० पी० चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इंडस्ट्री। चार वर्षों तक लगातार आप आल इण्डिया आर्गनाइजेशन आफ इण्डस्ट्रियल एम्प्लायर्स के भी अध्यक्ष रहे और इसी अवधि में भारतीय श्रमव्यवस्था सम्बन्धी नियम बनाने समय आपने उद्योग धन्यों का व्यावहारिक दृष्टिकोण उपस्थित किया।

अपनी विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्नता तथा व्यापक अनुभव के कारण साहूजी देश के उद्योग एवं व्यवसाय द्वारा अनेक अवसरों पर सम्मानित किए गए। स्वर्गीय पं० जवाहरलालजी ने देश की औद्योगिक प्रगति की वैज्ञानिक परिकल्पना को कार्यान्वित करने के लिए जो प्रथम राष्ट्रीय समिति गठित की थी, उसने देश के तत्काल औद्योगिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के लिए आपको इसका सदस्य बनाया था।

साहू साहब की भारतीय धर्म-दर्शन और इतिहास तथा संस्कृति विषयों के अध्ययन में भी ऐतिहासिक रुचि थी। भारतीय कला एवं पुरातत्व के क्षेत्र में भी वे साधिकाचर्या किया करते थे। धार्मिक श्रद्धा में वह अडिग थे। भारतीय भाषाओं एवं साहित्य के विकास-उन्नयन की दिशा में आपका अति विशिष्ट योगदान रहा। आपके द्वारा सन् १९४४ में भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना एवं अपनी सहधर्मिणी स्वर्गीया श्रीमती रमा जैन के साथ उसकी कार्य प्रवृत्तियाँ, विशेषकर उसके द्वारा प्रवर्तित भारतीय भाषाओं की सर्वश्रेष्ठ सृजनात्मक साहित्यिक कृति को प्रतिवर्ष एक लाख रुपये की पुरस्कार योजना की परिकल्पना और अब तक ११ पुरस्कारों के निर्णयों की कार्यविधि में अनवरत रुचि एवं मार्गदर्शन, उनकी दूर-दर्शिता एवं क्षमता के बहुप्रशंसित अमर प्रतीक हैं। ज्ञान-

पीठ के प्रतिरिक्त आपने साहू जैन ट्रस्ट, साहू जैन चेरी-टेबल सोसायटी तथा अन्य अनेक शिक्षण संस्थाओं की भी स्थापना की। वैशाली प्राकृत, जैन धर्म एवं महिषा शोध-संस्थान की तथा प्राचीन तीर्थों एवं मन्दिर आदि के जीर्णोद्धार में प्रचुर धनदान दिया है। आप अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, बम्बई तथा महिषा प्रचार समिति, कलकत्ता अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिवर्ष एवं मारवाडी रिलीफ सोसायटी के अध्यक्ष रह चुके थे।

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के कार्यक्रमों को सफल बनाने में आपका सर्वाधिक योगदान रहा है। जैन समाज के चारों सम्प्रदायों की ओर से गठित भगवान महावीर २५००वां निर्वाण महोत्सव महासमिति के आप कार्यध्यक्ष थे। भारत की संपूर्ण दिगम्बर जैन समाज की ओर से गठित आल इण्डिया दिगम्बर भगवान महावीर २५००वां निर्वाण महोत्सव सोसायटी एवं बंगलाप्रदेश क्षेत्रीय समिति के अध्यक्ष के रूप में आपने देश व्यापी सांस्कृतिक चेतना को जागृत किया। भारत सरकार द्वारा गठित राष्ट्रीय समिति और विहार तथा बंगला की समितियों में भी आपने महत्वपूर्ण पदों का दायित्व तन्मयता से सम्भाला। निर्वाण महोत्सव के बहुमुखी कार्यक्रमों को आपने चिन्तन, उत्साहपूर्ण नेतृत्व और मुखरश्रद्धा के प्रत्यक्ष प्रभाव से उपलब्धियों का जो वरदान दिया है, वह जैन समाज के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा।

ममाज ने अपनी श्रद्धा स्वरूप आपको 'दानवीर', तथा 'श्रावक शिरोमणि' की उपाधियों से सम्मानित किया। अन्तिम क्षणों में साहूजी के परिणाम इतने निर्मल हो गए थे कि उन्होंने अपने पुत्र श्री अशोककुमार जैन से इच्छा व्यक्त की थी कि स्वस्थ होने के उपरान्त हस्तिनापुर में मूर्ति श्री शाश्वतसागरजी के निर्देशन में शेष जीवन व्यतीत करेंगे। महाराज श्री जब जैमी दीक्षा उचित समझेंगे, वे देंगे।

श्री साहूजी के बड़े भाई श्री श्रेयांसप्रसाद जैन को, साहूजी के बड़े पुत्र श्री अशोककुमार जैन, मझले पुत्र श्री आलोकप्रसाद जैन एवं कान्ठ पुत्र श्री मनोज कुमार जैन को; उसकी पुत्री श्रीमती अलका जालान एवं सारे परिवार को एवं समाज को जो मर्मन्तक प्राघात पहुँचा है उसके प्रति समाज की सहज सबेदना उत्प्रेरित है। उनका देहांत सामाजिक इतिहास का एक युगांत है। □□□

उनके नेतृत्व का फल

□ श्री मिश्रीलाल पाटनी

साहू शान्तिप्रसादजी का जन्म उत्तर प्रदेश के नजीबाबाद नगर में सन् १९११ में अग्रवाल जैन परिवार में हुआ। आपके पिताजी का नाम श्री साहू दीवानचन्दजी तथा माता का नाम श्रीमती मूनिदेशीजी था। आपने प्रारम्भिक शिक्षा वहीं प्राप्त की थी। तत्पश्चात् उच्च शिक्षा प्राप्त करने हेतु काशी विश्वविद्यालय एवं आगरा विश्वविद्यालय में गये। वहाँ प्रत्येक विषय की शिक्षा प्राप्त की। प्रत्येक शिक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होत रहे।

प्राविधिक विषय क्षेत्र में विदेशों में गवेषणाएं कराकर ब्रिटेन, अमेरिका जर्मनी, रूस आदि देशों में आपने परिभ्रमण कर वहाँ से औद्योगिक व्यवसायी कारखानों में जाकर वहाँ के कार्यों को दृष्टिगोचर कर मनन करते रहे। भारतीय औद्योगिक प्रतिनिधि के रूप में आप सन् १९३६ में डच इण्डस्ट्रीज, सन् १९४५ में आस्ट्रेलिया, सन् १९५४ में सोवियत रूस गये। वहाँ में आपने भारत में आपने विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धों के कारखाने निर्माण किये और कुशल नेतृत्व कर उनमें निरन्तर कार्य-वृद्धि करके वस्तुओं का उत्पादन कर वाणिज्य-व्यवसाय करने में अग्रसर होते रहे। आपका विज्ञान अत्यन्त विशाल तथा व्यापक दृष्टि में था। आपने कागज, चीनी, वनस्पति, सीमेंट, एम्बेस्टाज निम्नित वस्तुएँ, भारी रसायन, कृषि उपयोग में आनेवाला नाईट्रोजन खाद, पावर एलकोहल, प्लाईवुड, साइकिल, कोयले की खाने, लाइट रेल्वे, इंजीनियरिंग कारखाने, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी भाषा में दैनिक नवभारत टाइम्स व साप्ताहिक पत्र प्रकाशन, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक एवं धार्मिक पुस्तक प्रकाशन कार्य हेतु ज्ञानपीठ संस्था स्थापित की जो एक लाख रुपये उच्च विद्वानों को प्रतिवर्ष पुरस्कार भेंट रूप में प्रदान करती हैं। आपकी विशिष्ट प्रतिभा तथा

बहुत व्यापक अनुभवों के कारण आपको पं० जवाहरलाल नेहरू द्वारा गठित पहली राष्ट्रीय सीमित में देश के तरुण औद्योगिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने के लिए सदस्य मनोनीत किया गया। देश में अनेक औद्योगिक संस्थाओं की व्यवस्था हेतु अध्ययन पर रहकर, उत्तम व्यवस्था करके कार्य संचालन करते रहे, जिनमें से कुछ वरिष्ठ संस्थाओं के नाम उल्लेखित किये जाते हैं : भारतीय वाणिज्य उद्योग मण्डल संघ, इण्डियन चेम्बर आफ कामर्स, इण्डियन शुगर मिल्स एसोसिएशन, इण्डियन पेपर मिल्स एसोसिएशन, बिहार चेम्बर आफ कामर्स; एवं लगातार चार वर्ष तक भाल इण्डिया आरगेनाइजेशन आफ इण्डस्ट्रियल एम्प्लोईयर्स के भी अध्यक्ष रहे।

प्रतिवर्ष सैकड़ों इंजीनियरिंग विद्यार्थी तथा वाणिज्य विद्यार्थी, पत्रकार संपादन कला शिक्षा एवं अनेक शिक्षाओं के गरीब इच्छुक विद्यार्थियों के पठन-पाठन कार्य हेतु अपने उपाजित द्रव्य में से रुपये देकर सहयोग प्रदान करते रहे। साहू जैन संस्थानों के माध्यम से व्यावहारिक प्रशिक्षण, अनेक व्याधि, शारीरिक रक्षा, विवाह शादी खर्च हेतु निर्धन महानुभावों की भाग पर अथवा स्वयं दृष्टिगोचर होने पर उनको द्रव्य देकर उनकी सहायता करते रहते थे।

अनेक प्राचीन जैन तीर्थों के जैन मन्दिरों का जीर्णोद्धार करने हेतु लाखों रुपये का दान देकर तीर्थ सुरक्षित कराये। भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, बम्बई व अहिंसा प्रचार समिति, कलकत्ता के अध्यक्ष पद पर रहकर अनेक छात्रावासों की स्थापना अनेक स्थानों पर करके, कई लाख का दान देकर उन्हें संचालित कराया। वैशाली के स्नातकोच्च प्राकृत जैन एवं अहिंसा शोध संस्थान की स्थापना के लिए आपने लाखों रुपये देकर मदद की। अनेक शिक्षण संस्थाओं को अनेक स्थानों पर

(शेष पृष्ठ ३४ पर)

□ श्री सुमत प्रकाश जैन, दिल्ली

वैसे तो परम श्रद्धेय, आबक-शिरोमणि, तीर्थभक्त, दानवीर स्वर्गीय साहू शान्तिप्रसादजी से मेरा परिचय काफी समय से था परन्तु छई वर्ष पूर्व तीन दिन तक लगातार उनके साथ रहकर कई तीर्थक्षेत्रों की यात्रा करने का जो सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ उनमें मैंने उनको नजदीक से देखा तथा उनके अभूतपूर्व व्यक्तित्व से बहुत ही प्रभावित हुआ। दिनांक ७-१०-१९७६ को प्रातः ९ बजे घर पर टेलीफोन की घण्टी बजी और मेरे अपना नाम बताने पर तुरन्त साहूजी से सम्पर्क स्थापित हो गया। साहूजी ने इच्छा व्यक्त की कि वह अगले दिन ही सुबह काग द्वारा श्री अहिच्छत्र पार्वन्ताथ दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र जाना चाहते हैं और वहाँ से श्री कम्पिला जी, शोरीपुर, बटेश्वर आदि अन्य तीर्थों पर भी जाने का विचार है। वे चाहते थे कि इस यात्रा में उनके साथ मैं भी चलूँ। मैं उनको अपनी स्वीकृति दे दी। अगले दिन ८-१०-१९७६ को प्रातः १० बजे उन्होंने शाहदरे से ही मुझे साथ लेकर अपनी कार में बैठा लिया। वैसे तो उनके साथ एक कार और भी थी जिसमें उनका सचिव, रसोइया, चपरासी, नौकर आदि बैठे थे, परन्तु उन्होंने मुझे अपनी कार में अपने पास ही बैठाया। रास्ते में श्री अहिच्छत्र तीर्थक्षेत्र तथा अन्य तीर्थों एवं अन्य सामाजिक, राष्ट्रीय आदि विषयों पर बातचीत होती रही। हम रामपुर, बरेली होते हुए चार बजे श्री अहिच्छत्र पार्वन्ताथ पहुँच गए। मेरे द्वारा रात को ही फोन द्वारा सूचना दे देने पर क्षेत्र कमेटी के बहुत से सदस्य रामपुर, मुरादाबाद और रेली से क्षेत्र पर पहले से ही पहुँच गये थे। साहूजी ने पहुँचते ही बड़ी विनय, श्रद्धा एवं भक्ति पूर्वक मन्दिरजी में दर्शन किये और रात को ही साहूजी क्षेत्र पर ही धर्मशाला की कोठरी में ठहरे। उन्होंने वहाँ ठहरने में होने वाली तकलीफ की तनिक भी परवाह नहीं की। शाम की आरती के बाद साहूजी ने वहाँ के मन्दिर जी को बड़े गौर से निरीक्षण किया तथा वहाँ सब बेदियों एवं उनमें विराजमान प्रतिमाओं को बड़े ध्यान से देखा। रात्रि को क्षेत्र के विषय में कमेटी के उपस्थित सदस्यों में विचार-

विमर्श करने के बाद उन्होंने न केवल मन्दिर जी के जीर्णोद्धार बल्कि कुछ नवीनीकरण की योजना के लिए अपनी इच्छा व्यक्त की तथा उसको पूरा कराने के लिए आवश्यकतानुसार धनराशि की अपनी ओर से स्वीकृति भी तुरन्त दे दी। उनकी योजनानुसार कमेटी द्वारा वह कार्य कुछ ही दिनों बाद प्रारम्भ कर दिया गया। हमें बड़ा दुःख है कि उनके जीवनकाल में वह कार्य पूरा न हो सका। उनके निधन के बाद पूरे साहू परिवार ने उस योजना में पूरी रुचि ली तथा शेष कार्य को पूरा कराया। क्षेत्र पर दिनांक १३-४-७८ से १६-४-७८ तक होने वाली पंचकल्याणक प्रतिष्ठा पर भी आदरणीय साहू श्रियासप्रसाद, साहू अमोककुमार, साहू आलोकप्रकाश, साहू मनोजकुमार समेत ममस्त साहू-परिवार ने बड़े उत्साह एवं श्रद्धापूर्वक भाग लिया, जिसके लिए हम समस्त साहू-परिवार के बहुत ही आभारी हैं। अगले दिन मैं पुनः साहूजी के साथ श्री कम्पिलाजी गया। रात को हम कम्पिलाजी में ही ठहरे तथा रात को वहाँ की कमेटी के सदस्यों से साहूजी ने क्षेत्र की प्रगति के बारे में बातचीत की तथा उसके जीर्णोद्धार के लिए भी एक बड़ी राशि के लिए घोषणा की। अगले दिन १०-१०-१९७८ को प्रातः दर्शन-पूजन करने के बाद हम श्री कम्पिला जी से चलकर फीरोजाबाद, शोरीपुर, बटेश्वर (वहाँ पर दर्शन नहीं हो सके क्योंकि यमुना का पुल टूटा हुआ था, अतः कार मन्दिर तक नहीं जा सकी) आगरा, चौरासी, मथुरा होते हुए शाम को दिल्ली पहुँच गये। इन तीन दिनों में लगातार साहूजी के साथ रहते हुए मैंने उनमें एक अभूतपूर्व प्रतिभा को देखा। अभिमान एवं अहंकार नाम की कोई वस्तु उनके पास थी ही नहीं। उन्होंने मुझे जो प्यार-स्नेह-ममता दी वह आज के युग में विरले ही दे पाते हैं। वे ख्यातिप्राप्त अन्तर्राष्ट्रीय उद्योगपति तो थे ही, साथ में मैंने पाया कि वह बड़े सरल स्वभाव, निरभिमानी, समाजसेवी, धर्मनिष्ठ एवं तुरन्त निर्णय लेने वाले व्यक्ति थे। इन सबके पीछे उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैन उनकी प्रेरणा स्रोत रही हैं, क्योंकि रमाजी के

नाम का उल्लेख आते ही उनकी आँखें नम हो जाती थीं। समाज, वे जैन समाज एवं राष्ट्र का बहकत्याण चाहते थे। इसके लिए उनके दिल में बड़ी वेदना थी। वह चाहते थे कि जैन समाज के समस्त लोग एकजुट होकर समाज के उत्थान के लिए कार्य करें। इसके लिए वह जैन समाज के प्रत्येक सम्प्रदाय के साधुओं एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों से मिलते रहते थे तथा इसके लिए उन्होंने कई योजनाएँ भी बनाई थी। जैन तीर्थक्षेत्रों के जीर्णोद्धार कराने में उन्होंने विशेष रुचि ली। वह इनको राष्ट्र की धरोहर मानते थे और इस कार्य के लिए उन्होंने अपनी ओर से विपुल धन-राशि खर्च की। यह साहू शान्तिप्रसादजी की प्रेरणा एवं मार्ग दर्शन ही था कि भगवान महावीर का २५००वाँ निर्वाण महोत्सव राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बड़े उत्साह से व्यापक रूप में मनाया गया, जिससे देश के कोने-कोने में भगवान महावीर की वाणी फिर एक दफा गूँज उठी। भारतीय स्तर पर कोई भी ऐसी जैन संस्था नहीं थी जिसको साहूजी का सक्रिय योगदान न मिला हो और

□ □ □

(पृष्ठ ३१ का शेषांश)

संस्थाओं को भारी दान देकर संचालित कराई। मूर्तिदेवी कन्या विद्यालय, मूर्तिदेवी सरस्वती इण्टर कालेज, साहू जैन कालेज नजीबाबाद नगर में संचालित कराए। एस. पी. जैन कालेज, सासाराम (बिहार) में स्थापित कर संचालित कराया। तीन ट्रस्ट संस्थाएँ, अपने-अपने क्षेत्र में विशिष्ट संस्थाएँ, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, साहू जैन चैंगेटेबल सोसायटी व साहू जैन ट्रस्ट (जो अखिल भारतीय महत्व की संस्थाएँ हैं) भारी दान देकर संचालित की हैं जो प्रचलित हैं, कार्य परिणित हैं। तीर्थ क्षेत्र, पुरातत्व केन्द्र तत्त्वज्ञान की प्रतिष्ठापना, मुनि भक्ति, मुनि रक्षा, धार्मिक कार्यों पर सकटों के आने पर उनको दूर करने में तन-मन-धन हर प्रकार से परिश्रम करके वरिष्ठ शासन अधिकारियों से मिलकर पैदा हुई विपदाओं को दूर करने को सदैव हर समय तत्पर रहकर आए हुए सकटों को दूर करते थे। इसी प्रकार, पहले सर सेठ हुकमचन्द जी इन्दौर की स्वाभाविक दृष्टि थी। उनके स्वर्गवास के पश्चात् यह स्थान श्री साहूजी के ग्रहण करने से जैन समाज के

दूसरी प्रकार भारत का कोई भी ऐसा जैन तीर्थ इसी क्षेत्र नहीं है जिसकी ओर साहूजी का ध्यान न गया हो तथा जिसके जीर्णोद्धार में साहूजी ने सक्रिय योगदान न दिया हो। उनकी तीर्थों के प्रति श्रद्धा, भक्ति, धार्मिक भावना तथा उनकी सरलता, सहृदयता, विवेक, बन्धुत्व की भावना, उच्च विचार, आत्-स्नेह एवं ममत्व की भावना, उनकी समाज एवं राष्ट्र की सेवा, मिलन-सारिता, आतिथ्य-सत्कारिता, गुरुभक्ति, शैक्षणिक एवं साहित्यिक रुचि आदि अनेकों ऐसे गुण थे जो किसी बिरले व्यक्ति में ही पाए जाते हैं। यात्रा से आने के बाद भी समय-समय पर मैं उनसे मिला और जब भी मिला उनके गुणों में कुछ-न-कुछ वृद्धि ही पाई। दिनांक २७-१०-१९७६ को प्रकृति की क्रूर नियति ने उनको सदा-सदा के लिए हमसे छीन लिया। परन्तु वह सदैव हमारे मन में रहेंगे तथा उनका उच्च जीवन चरित्र सदैव मार्गदर्शन करता रहेगा और समाज में ही नहीं अपितु समस्त राष्ट्र उनको सदैव याद करता रहेगा।

□ □ □

धार्मिक कार्यों पर संकट आने पर साहूजी के द्वारा वर्तमान काल में दूर होते रहे हैं। हमें आशा कि अब उपरोक्त कार्यों में उनके आता साहू श्रेश्ठासप्रसादजी तथा उनके सुपुत्रगण श्री अशोककुमारजी, श्रीआलोकप्रसादजी भी अपने स्व० पिताजी के पदचिन्हों पर चलकर जैन समाज तथा जैन धर्म की रक्षा करते रहेंगे और अनेक धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों में उपस्थित होकर यथायोग्य तन-मन-धन से सहयोग प्रदान करते रहेंगे। देश के इतिहास में सदा ही साहू जी का कृतित्व वरिष्ठ तथा विशिष्ट माना जायेगा इसमें कोई संदेह नहीं।

आल इंडिया दिगम्बर भगवान महावीर २५००वाँ निर्वाण महोत्सव सोसायटी के अध्यक्ष तथा भगवान महावीर २५००वाँ निर्वाण महोत्सव राष्ट्रीय समिति के कार्यध्यक्ष रहकर सम्पूर्ण देश में भगवान महावीर परिनिर्वाण का जो व्यापक कार्यक्रम हुआ है और जो उस कार्य में चेतना जाग्रत हुई है, वह श्री साहूजी की ही प्रेरणा, परिश्रम और लगन से संगठित होकर हुई है। यह श्री साहूजी के ही नेतृत्व एवं परिश्रम का श्रेय है।

जैनत्व के जीवन्त प्रतीक

□ डा० राजेन्द्र कुमार बंसल, साहूजोल

श्रद्धा सुमन समर्पित करने एवं दूसरों के प्रेरणा स्रोत बनने की पवित्र भावना से व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित विशेषांक निकालने की परम्परा रही है। किन्तु अब यह की नुष्टि एवं व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से ऐसे व्यक्तियों के भी विशेषांक निकाले जाने लगे हैं जिनका व्यक्तित्व विवादग्रस्त एवं समाज विच्छेदक बना है। फिर ऐसे विशेषांकों का औचित्य सिद्ध करने में प्रायः घटनाएं अतिरंजित रूप में वर्णित की जाती हैं जिससे व्यक्ति का व्यक्तित्व कृत्रिम एवं बोझिल-सा लगने लगता है और वह सहज सरल प्रेरणा स्रोत नहीं बन पाता। बने भी क्या? कुछ अन्दर वजन ही तो बने भी।

स्व० श्री शान्तिप्रसाद जी की पुण्य-स्मृति का विश्लेषक इस नवीन प्रवृत्ति का अपवाद है और साहूजी का गतिशील, बहुमुखी एवं कर्मयोगी व्यक्तित्व यथार्थ में दूसरों के लिए प्रेरणा-स्रोत एवं पथप्रदर्शक बनेगा, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

ग्रह प्रश्न व्यक्ति के व्यक्तित्व के आधारभूत गुणों के प्रकाशन का है जो उसके जीवन दर्शन, चिंतन-मनन की दिशा एवं कार्य-पद्धति आदि के सही मूल्यांकन पर निर्भर करता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के मूल्यांकन का एक नजरिया और होता है। वह है व्यक्ति ने परिवार, समाज, राष्ट्र एवं धर्म-संस्कृति से जितना पाया है उसका वह निज के उपलब्ध साधनों की तुलना में कितना और क्या ऋण चुका सका है? और क्या वह अपने बहुमुखी दायित्वों को पूर्ण कर सका है?

वस्तुतः इन प्रश्नों के सन्दर्भ में ही स्व० साहूजी का मूल्यांकन किया जाना उनके व्यक्तित्व के प्रति सबसे बड़ा श्रद्धाजनि होगी। कुवेरपति परिवार का कृपापात्र बनने हेतु स्व० साहूजी की प्रशंसा करने से लौकिक लाभ ही सम्भव हो सकता है, किन्तु उससे उनके व्यक्तित्व का

सही प्रकाशन नहीं हो सकता। जबकि धिद्यमान पर्यावरण में प्रावश्यकता इस बात की है कि उनके व्यक्तित्व का यथार्थ प्रकाशन किया जाये जिससे संस्कारविहीन युवा पीढ़ी, भ्रमित बूढ़ पीढ़ी एवं अर्थमंद में चूर मध्यवर्गीय धार्मिक पीढ़ी स्व० साहूजी से मार्गदर्शन पाकर कल्पना-लोक की उड़ान छोड़ जमीन पर चलने का साहस कर सकें।

दुर्भाग्य में मेरा साहूजी से प्रत्यक्ष में परिचय कभी नहीं हुआ। हां उनके अग्रज श्री साहू श्रेयांत प्रसादजी से अवश्य विगत वर्ष गुना में संक्षिप्त परिचय हुआ था। उनकी सौजन्यता, सरलता, सहृदयता एवं निश्छलता की वाग्वी से स्व० श्री साहूजी के प्रति मेरी जो धारणा थी, वह अवश्य पुष्ट हुई।

ऐसे भाग्यवान् व्यक्ति अल्प संख्या में ही होते हैं जिन्हें जीवन में विपुल भौतिक साधन एवं अवसर प्राप्त होते हैं। फिर ऐसे व्यक्ति तो बिरले ही होते हैं जो उन साधनों का सही एवं सतुलित उपयोग जीवन की प्रत्येक विद्या में उन्मुक्त हृदय से निष्काम भावना से करते हैं। जब हम स्व० श्री साहूजी के जीवनदर्शन की ओर देखते हैं तो यह बात निर्विवाद रूप से स्वीकारना पड़ती है कि उन्होंने अपने उग्र पुरुषार्थ से जो बाह्य वैभव पाया था, मिला था, उसका उपयोग उन्होंने धर्म, संस्कृति, साहित्य, समाज एवं राष्ट्र की सेवा में सहज भाव से समर्पित कर दिया और इस प्रकार वे आधुनिक जैन जगत के वीर भामाशाह बन गये। मान-प्रतिष्ठा पाकर भी वे निरहंकारी बने रहे। जिस वैभव से उनके साथी, सहयोगी, मित्र एवं कृपापात्र चमत्कृत एवं अहंबुद्धिधारी बने, वही वैभव साहूजी को जनव्यतिमुख नहीं कर सका। वे जल में कमलवत् बने रह जीवनपर्यन्त निष्काम कर्मयोगी बने रहे और जिन वाणों, जिन शासन के पीत पात रहे। साक्षात्मान ही भी

को भी उपलब्ध हुई है, लेकिन किस काम की वह जो कर्तव्य पूर्ति का साधन बनकर मात्र ईर्ष्या एवं दिखावे तक ही सीमित रह जाये।

मानव जीवन में ऐसे संयोग भी बहुत बिरले मिलते हैं जहाँ लक्ष्मी के साथ भगवती सरस्वती का अपूर्व समागम एवं संगति हो। पश्चिम लक्ष्मी का दास बना पथभ्रष्ट हो रहा है जबकि पूर्व सरस्वती को भूलकर लक्ष्मीदास बनने की होड़ में सब कुछ छोड़ रहा है। ऐसे माहौल में इन दोनों का सतुलित समन्वय करने का संयोग प्राप्त होना बिस्मयकारी हो कहा जायेगा। स्व० श्री साहूजी के अन्त-स्थल में दोनों देवियां विराजमान थी और किन्तु उनके मध्य कोई बैर या प्रतिस्पर्धा नहीं थी। सामान्य लक्ष्मी-पति के समान न तो वे ग्रहकारी, जिद्दी या सकुचित दृष्टि के ही थे और न सरस्वती के उपासक के रूप में लौकिक व्यवहार शून्य या पलायनवादी वृत्ति के ही। वे तो बेजोड़ गतिवान् कर्मयोगी थे जो जीवन भर आदर्शों एवं कला-संस्कृति की रक्षा करते रहे।

उनकी समदृष्टि थी। क्या छोटा और क्या बड़ा, सबके प्रति उनके हृदय में सम्मान था। अपने व्यस्त कार्यक्रमों के मध्य भी वे पत्रोत्तर देने में नहीं चूकते थे। समाज का पैसा रथ, गजरथ, मन्दिर एवं घर्मशालाओं जैसे अचल अनुत्पादक कार्यों में प्रायः व्यय होता है। मानव सेवा के कार्यों में उसका उपयोग नहीं होता। अतः मैंने भगवान् महावीर निर्वाणोत्सव के काल में साहूजी को पत्र दिनांक ८-११-७४ द्वारा सुझाव दिया कि इस अवसर पर गम्भीर रोगों की चिकित्सा हेतु अद्यावत् साज-सज्जायुक्त चिकित्सालय मिशनरी भावना से खोले जावें तो अच्छा है। साहूजी ने पत्रोत्तर बिना विलम्ब के दिनांक ४-१२-७४ को भेजा और लिखा—‘आपने जो लिखा’ सत्य है। दान की जो शैली समाज में है वह धीरे-धीरे ही बदल सकती है और बहुत बदली भी है। आशा है आप जैसे सज्जनों के प्रयत्नों से और भी विशेष बदलेगी।’ उनके पत्र को पाकर मैं स्तब्ध-सा रह गया। साहूजी मेरे बिचारों से सहमत होंगे और मुझे पत्र का उत्तर मिलेगा, इसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। आज के भौतिकवादी युग में किस उद्योगपति के पास समय है जो पत्रोत्तर

दे और फिर अपरिचित व्यक्ति के विचारों से अपनी सह मति व्यक्त कर प्रेरणा भी दे।

एक बात और जिसको मैं विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण समझता हूँ बुराई के प्रतिकार एवं अच्छाई के ग्रहण हेतु खुले दिल और दिमाग की है। जब दिल और दिमाग की खिडकियां बन्द हो जाती हैं तो व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है। इससे व्यक्ति आग्रही एवं रूढ़ हो जाता है। धार्मिक एवं मुक्त होने की बात तो बहुत दूर की है, स्व० श्री साहूजी सदैव सर्वांगीण विकास एवं नित नूतन विचार ग्रहण करने में विश्वास एवं प्रयत्नशील रहते थे। वे अनाग्रही थे। सहज किन्तु तर्कधारित विवेक बुद्धि से जो भी उन्हें सत्य प्रतीत होता था, बिना संयोगी परिणामों की परवाह किए, उसे स्वीकार लेते थे, और समर्पित भाव से उसका अनुकरण भी करते थे।

जीवन पर्यन्त वह धर्म एवं संस्कृति के व्यवहार पक्ष के पोषण में सजग रहे। मतो के पूजक एवं विद्वानों के सम्मान तथा आश्रयदाता रहे। कला, संस्कृति एवं साहित्य आदि की रक्षा, सुरक्षा, प्रकाशन एवं उद्धार में उन्होंने निष्काम भाव से अपना वैभव समर्पित कर दिया। कही कुछ कमी नहीं रखी। किन्तु जैसे ही जीवन के उत्तरार्ध में उनकी दृष्टि आत्मा के वैभव की ओर आकर्षित की गई या हुई, उन्होंने तत्काल बिना भिन्न के अत्यन्त साहसी स्वरो में उसे स्वीकार कर ग्रहण कर लिया। यह वह स्थिति होती है जहाँ व्यक्ति अपनी पिछली सामान्यता एवं आचरण को, भले ही वह प्रत्यक्ष में कितना ही ग्रहित-कर क्यों न हो, छोड़ने का साहस नहीं कर पाता और एकांगी पक्ष पोषण करता रहता है। साहूजी की यह परिणति उनकी जिन्दादिली एवं खिलाड़ी भावना का परिचय देती है। यही कारण है कि जीवन पर्यन्त उन्होंने सार-तत्व को बटोरा, ग्रहण किया और अन्त में उस बिन्दु को पा लिया जिसका मिलना अत्यन्त दुर्लभ होता है।

खड-गड एवं नय पक्षों में विभक्त जैन समाज के अस्तित्व पर अनेक प्रश्न चिह्न लगे थे। साहूजी ने इस क दर्द को अनुभव किया। भगवान् महावीर निर्वाण महोत्सव के काल में इस दर्द की वेदना को कम करने का अवसर (शेष पृष्ठ ३८ पर)

अंतस् को सालती स्मृति

□ डा० शोभनाथ पाठक, मेघनगर

श्री की समृद्धि और सरस्वती की पांडित्यपूर्ण प्रवृत्ता का समष्टिपूर्ण संयोग बिरला ही देखने को मिलता है, किन्तु जहां लक्ष्मी का भरपूर वैभव उफान पड़ा हो, वहां सरस्वती की ज्ञान-गरिमा भी गुरुत्तर हो, उसे गौरवान्वित करने पर तुली हो, ऐसा प्रायः होता नहीं है। किन्तु स्व० साहू शान्ति प्रसादजी जैन में इन दोनों देवियों की कृपा समाहित थी। “सोने में सुगंध” की उक्ति को यथार्थता प्रदान करने वाला साहू शान्ति प्रसादजी जैन का प्रगुठा व्यक्तित्व एक कीर्तिमान स्थापित कर युग के लिए यह आदर्श प्रस्तुत करता है, कि इतनी असीम सम्पत्ति के बावजूद भी वे साहित्य, संस्कृति व धर्म के प्रति इतने अधिक आस्थावान् थे। स्व० रमाराजी जैन भी विद्याता की अनुपम देन थी जो स्व० साहू जी के साथ धर्मगत्नी की विशिष्टतम भूमिका निभाते हुए साहित्य व कला के क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित कर चुकी है, जिसका अनुपम उदाहरण है ज्ञानपीठ पुरस्कार योजना का सूत्रपात्र।

सामाजिक सचार, सांस्कृतिक विकास, नैतिक निरवार व आध्यात्मिक उत्थान के प्रति सतत प्रयत्नशील उनकी धार्मिक भावना, राष्ट्रीय निष्ठा व साहित्यिक सृजन को प्रोत्साहित करने की प्रवृत्ति से मैं बेहद प्रभावित था। इतने धनवान् होते हुए भी साहूजी की धार्मिक प्रवृत्ति की चिन्ता भी सराहा जाए था। सर्वगुण सम्पन्न व्यक्तित्व वाले साहूजी की सहृदयता की आकना आसान नहीं है।

श्रावक शिरोमणि साहूजी के इसी गुण से अभिभूत मैं भी आशान्वित रहा कि उनकी विशेष कृपा से मेरा पी-एच० डी० शोध-प्रबन्ध “भगवान महावीर कथा” ज्ञानपीठ से अथवा उनकी कृपा सम्बल से प्रकाशित हो भगवान महावीर के आदर्शों, उपदेशों को जन-जन तक पहुंचायेगा, किन्तु उन दोनों (स्व० रमाराजी तथा साहू शान्ति प्रसाद जैन) के असामयिक निधन से मुझे गहरा

प्राघात लगा जो सदैव ही मेरे अंतस् को सालता रहता है।

जैन धर्म के उद्धारक, स्व० साहूजी का राष्ट्रव्यापी धार्मिक कार्य चिरस्मरणीय रहेगा जो विविध रूपों में उनकी गरिमा को गाते नहीं छोड़ते। देश के कोने-कोने में उन्होंने जैन धर्म की ध्वजा को फहराया है।

“भगवान महावीर कथा” शोध प्रबन्ध लिखते समय स्व० साहूजी से संपर्क हुआ था। देश के कोने-कोने से भगवान महावीर विषयक शोध सामग्री एकत्रित करने में जहां एलाचार्य मुनि विद्यानन्द जी का कृपा-सम्बल मुझे प्रोत्साहित करता रहा वहीं, मुझे स्व० साहूजी की ग्रथ के प्रति निष्ठा भी निखार ला रही थी। प्रबन्ध की प्रेरणा उपाध्याय विद्यानन्दजी मुनि ने दी तो साहित्यिक यात्री का विशाल भण्डार प्राकृत शोध-संस्थान, वैशाली से मिला जिसे साहूजी ने बनवाया है।

“भगवान महावीर कथा” पी-एच० डी० प्रबन्ध लिखते समय साहूजी के सम्पर्क में आने के पश्चात् मुझे उनकी विशालहृदयता, धर्मपरायणता तथा जैन संस्कृति के प्रति अपार निष्ठा की अनुभूति हुई, जिसे शब्दों में व्यक्त करना सम्भव नहीं। प्रबन्ध लिखने में प्रोत्साहन का जो उफान था, वह बड़ी तीव्रता के साथ गतिशील था कि भगवान महावीर पर यह देश का प्रथम पी-एच० डी० प्रबन्ध उपाधि के पश्चात् ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो जायेगा। इसीलिए प्रबन्ध का कार्य मैं दिन-रात एक करके कठोर परिश्रम के साथ शीघ्र पूर्ण करने में लगा था। पात्रा, वैशाली, कपिलवस्तु कुशीनगर, लुम्बिनी, गोरखपुर कपिया, छपरा, सारनाथ, वाराणसी, हस्तिनापुर, दिल्ली आदि की यात्राएं कर मैंने महावीर विषयक विशेष सामग्री एकत्रित की। यह सब सामग्री उपाध्याय विद्यानन्द जी मुनि को भी दिखाई व मठ चातुर्मास में ७-८ दिनों तक उनके पास रहकर मार्ग दर्शन लेता रहा।

३८, वर्ष ३१, कि० ३-४

स्व० शान्तिप्रसाद जैन भी मेरे इस शोध ग्रंथ लिखने के उत्साह से प्रभावित थे, इसलिए मैं दूने उत्साह से कार्य करता रहा। अन्ततः २५००वें निर्वाणोत्सव के पावन अवसर पर “भगवान महावीर कथा” पर पी-एच० डी० की उपाधि मिल गई।

“भगवान महावीर कथा” शोध प्रबन्ध के प्रकाशन के लिए मैं अत्यधिक आशान्वित था कि यह साहूजी की कृपा से हो जायेगा। ज्ञानपीठ के मंत्री श्री लक्ष्मीचंदजी जैन से भी २-३ बार मिला तथा साहू आलोक प्रकाश जैन के घर पर स्थय जाकर पांडुलिपि (प्रबन्ध की टंकित प्रति) उन्हें दे दी कि इसे प्रकाशित कराने की कृपा करें। किन्तु सर्वत्र निराशा ही मुझे मिली अर्थात् प्रबन्ध प्रकाशित न हो सका। तब श्रीमती रमाराणी जैन व श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन का अभाव मुझे अखरने लगा कि यदि वे होते तो ...।

“भगवान महावीर कथा” को अतः स्वयं ‘पाठक-प्रकाशन’, से प्रकाशित कर द्वितीय संस्करण की परिष्कृत प्रति देश के कोने-कोने में पहुंचा रहा हूँ। “भगवान महावीर कथा” नेपाल, भूटान, सिक्किम व देश के सुदूर भागों में पहुंच गई है। प्रथम संस्करण तो एक वर्ष में ही



(पृष्ठ ३६ का शेषांश)

उन्हें मिला। जुट गए तन-मन-धन से वे जैन एकता, सग-ठन एवं महावीर के उपदेशों में प्रचार-प्रसार में। जैन समाज एवं धर्म जो मन्दिर की गलियों एवं शास्त्रों के पन्नों में विलुप्त था, अब राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जगत की धरोहर एवं आकर्षण का विषय बन गया। जगत ने जाना महावीर को एवं उनके अनुयायियों को। समाज एवं संस्कृति कृत-कृत्य हो गई साहूजी के इस महान प्रयास से। दि० जैन महासमिति के गठन हेतु उन्होंने क्या नहीं किया? उन्होंने अभ्रूपूरित नेत्रों सहित समाज से जैन एकता हेतु मासिक अर्पण तक की घोर जीवन का उत्सर्ग उसी प्रयास में कर दिया। महासमिति उनके जीवन का अन्तिम किन्तु महत्वपूर्ण स्मारक है जिसका व्यापक गठन, विकास एवं रक्षा करना प्रत्येक जैन का परम कर्तव्य है। यही उनके प्रति समाज की सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

वस्तुतः उनके सर्वांगीण व्यक्तित्व के आगे एक-एक



अनेकान्त

समाप्त हो गया।

द्वितीय संस्करण भी संभवतः शीघ्र समाप्त हो जायेगा, किन्तु इस सफलता के बावजूद एक अजीब-सी कसक, कचोट हृदय को सालती है व टीस भरी हूक उठकर विह्वल कर देती है कि यदि साहूजी या रमाजी होनी तो इस “महावीर कथा” को दुनिया के कोने-२ में पहुंचने में मुझे सफलता और अधिक मिलती। असीम संघर्षों से इसे इस मंजिल तक पहुंचाया है किन्तु साहू दम्पति का कृपा संवल इसे कहां पहुंचा देता ...।

आज साहू श्रद्धासंप्रसादजी का आशीर्वाद व प्रेरणा पत्र भी मुझे मिलता है कि मैं ‘महावीर जीवन-दर्शन’ विषय पर डी० लिट० का विशाल ग्रंथ लिखकर भगवान महावीर विषयक विश्वस्तरीय सामग्री का इसमें समावेश करूं जिसके लिए मैंने कार्य प्रारम्भ कर दिया है।

क्या महावीर पर विश्वस्तरीय सामग्री एकत्रित करने के लिए साहूजी की स्मृति में साहूट्रस्ट से सहयोग प्राप्त हो सकता है। साहित्यकार को उनकी कितनी कृपा मिलती थी इसे शब्दों में आंकना संभव नहीं।

मेघनगर (म० प्र०)

गुणों से विभूषित अन्य अनेक व्यक्तित्व बीने से लगते हैं। निष्काम समाजसेवा, धर्म परायणता, कला, साहित्य एवं संस्कृति प्रेम, कर्तव्य निष्ठा, सरलता, उदार एवं परोपकार वृत्ति, व्यापक एवं उन्मुक्त दृष्टिकोण, मानव सम्मान, प्राप्त साधनों एवं अवसरों का समुचित सन्तुलित उपयोग, गुण ग्राहकता तथा आत्म वैभव को पाने का निरन्तर सतत प्रयास, ये सब ऐसे गुण हैं जो स्व० श्री साहूजी को अमरत्व प्रदान करते हैं। बाह्य वैभव वो उनसे भी अधिक बहुतों को मिला था, मिला है और मिलेगा, किन्तु उक्त आत्मिक गुणों के सामने उनका क्या मूल्य? समग्र रूप से, मेरी दृष्टि में, वे सच्चे जैनत्व के जीवन्त प्रतीक थे, जो इस दृष्टि से सदैव जैन जगत के प्रेरणा स्रोत बने रहेंगे।

म० ओरियण्ट पेपर प्रिस्स,
शहडोल (म० प्र०)

समाज और राष्ट्र की सेवा के लिए समर्पित व्यक्तित्व

□ श्री सत्यधर कुमार सेठी, उज्जैन

भारतीय साहित्य में मानव जीवन की मौलिकता का अंकन करने के लिए कहीं भी किसी भी तरह की मिशाल देखने की नहीं मिलती। इसलिए मानव जीव को अमोलिक जीवन माना है। इस जीवन से सम्बन्धित पौराणिक ग्रंथों में अनेक कथायें महान साधकों द्वारा लिखी गई हैं जिनमें बतलाया गया है कि मानव ने अपने जीवन का निर्माण करके किस तरह मानवता प्राप्त की है और उसके बाद मृत्यु, अग्निमा और अनेकान्त विचारधारा के आधार से अपने आपको देश, राष्ट्र और प्राणी सेवा के लिए समर्पित कर दिया है। तीर्थंकर जैसे महापुरुषों की पूर्व भव की जीवनियों में भी ऐसे सत्त्व मिलते हैं जिनमें वे साधना के बल पर विश्व के समस्त प्राणियों की सेवा का व्रत लेते हैं। सेवा ही जीवन का एक महान व्रत है जिसका सम्बन्ध न राज्य शासन से है और न धन सम्पदा से और जिसका स्पष्ट उदाहरण भगवान महावीर का है। भगवान महावीर अवार वैभव और राज्य सम्पदा के बीच पैदा हुए, लेकिन उनके जीवन का लक्ष्य आत्मविश्वास के साथ निरन्तर प्राणी सेवा व राष्ट्र सेवा का रहा और वे इस संकल्प की पूर्ति में लगे रहे और उन्होंने अपने इस महान मानव जीवन को सफल किया। ऐसे महापुरुष हमेशा से होते आये हैं और भविष्य में होते रहेंगे। इस युग में भी अनेक सतों और विद्वानों ने भी जन्म लिया है जिनके द्वारा राष्ट्र के प्राणियों की अनन्त सेवाये हुई हैं जिनमें पं० टोडरमलजी, पं० सदासुख जी, पं० बनारसीदासजी, पं० गणेशप्रसादजी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

इन विशिष्ट पुरुषों के स्वर्गवास के बाद भी इस भारत भूमि पर एक ऐसी विभूति ने जन्म लिया, जिसका जन्म जैन कुल में व विशाल वैभव के बीच में होते हुए भी उसने अपने जीवन की समस्त सेवायें राष्ट्र और समाज के विकास के लिए अर्पित कर दी। वह विभूति है श्री साहू शान्ति प्रसाद जैन, जिनके संबन्ध में हम गौरव के साथ लिख सकते हैं या कह सकते हैं कि इम महान व्यक्ति का महान जीवन किसी एक जाति विशेष व समाज विशेष के लिए नहीं रहा। साहूजी का जन्म कहां हुआ, कितने बड़े

घराने में हुआ, वे कितने बड़े उद्योगपति थे इसमें मैं नहीं जाना चाहता। इन चीजों से किसी का व्यक्तित्व नहीं प्रभावित हो सकता। महान वह है जो इन सबसे अपने आपको बचाकर देश व समाज की सेवाओं में अपने आपको अर्पित कर देता है। साहूजी के जीवन से सब-घित अनेक लेख व ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं और होते रहेंगे, जिनमें उनके जीवन की भांगिया अनेकों मिलेंगी। लेकिन जहां तक मैं उनके सम्पर्क में आया हूं, मैंने उनके जीवन में वे कार्यों से यही अनुभव लिया कि वे एक अलिप्त श्रावक की तरह अपने जीवन के निर्माण में जुटे रहते थे। मैं हमेशा उनके हृदय में उदारता और करुणा के दर्शन किए व चेहरे पर हमेशा शांति के भाव। न उनमें अभिमान की भावनाये थी और न किसी प्रकार की प्रतिष्ठा की भावनाये। उनमें हमेशा लघुता और मानव भावनाओं के दर्शन होते थे। वे सही रूप में एक धार्मिक महापुरुष थे। उनके जीवन का लक्ष्य अनाथ, गरीब और अकलाओं की सेवा का था और साहित्य-प्रचार व इतिहास-प्रकाश का था, जिसके लिए आपने प्रचुर मात्रा में धन का उपयोग किया।

गरीब छात्रों के लिए आपने दिल खोलकर छात्रवृत्ति फंड खोले व प्रसहाय अकलाओं को ऊंचा उठाने के लिए सहायक फण्ड खोले, जिनसे आज भी इस वर्ग का अध्य-धिक उत्थान हो रहा है। इसी तरह, आपने साहित्य और इतिहास के प्रचार के लिए ज्ञानपीठ जैसी महान् संस्था को जन्म दिया, जिसके द्वारा साहित्य जगत की आज भी सेवायें हो रही हैं। इस संस्थान द्वारा अलभ्य जैन ग्रंथों का सरल और स्पष्ट भाषा में प्रकाशन करके जो जैन साहित्य व इतिहास को प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है वह जैन इतिहास में हमेशा स्मरणीय रहेगा। जैन समाज के लिए साहूजी की यह एक ऐसी देन है जिसके लिए जैन समाज कृतज्ञ रहेगा। यह देन जैनों तक ही सीमित नहीं लेकिन भारतीय वाङ्मय के लिए भी सर्वोपरि देन है जो प्रतिवर्ष सर्वोपरि साहित्य के लेखकों को एक लाख रुपये की राशि का पारितोषिक देती रही है।

यह एक बहुत बड़ा आदर्श है।

इसी तरह, भारत के समस्त तीर्थों को प्रकाश में लाने के लिए समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० बलभद्रजी साहू साहब ने प्रेरणायें दी जिससे प्रभावित होकर भारत के कोने-कोने में जाकर पंडितजी ने जैन तीर्थ का इतिहास बटोरा और उसे वे प्रकाश में लाये।

२५००वें निर्वाण महोत्सव के इस रूप में सफल होने का श्रेय भी माननीय साहू साहब को है जिन्होंने अपनी समस्त शक्तियाँ लगाकर राष्ट्रीय स्तर पर इसका आयोजन करवाया। भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद जैनो का यह पहला आयोजन है जो सार्वजनिक रूप से विश्व के कोने-कोने में मनाया गया। इस आयोजन में सर्वसाधारण को यह समझने का अवसर मिला कि जैन धर्म के मूल सिद्धान्त अहिंसा, अर्पणप्रह और अनेकांत राष्ट्र के लिए कितने उपयोगी है।

साहूजी जितने धार्मिक और साहित्यिक प्रेमी थे उतने ही वे समाजसुधारक भी थे। वे सामाजिक रूढ़ियों के कट्टर विरोधी थे। वे हमेशा समाज को वर्तमान रूढ़ियों से मुक्त कराने के लिए प्रयास किया करते थे। उनको विवाह-शादियों के प्रदर्शन बिल्कुल पसन्द नहीं थे। वे चाहते थे कि अत्यन्त सादगी के साथ ये सम्पन्न हों। जहाँ तक मेरा अनुमान है, उन्होंने अपने बच्चों की शादियों में किसी भी प्रकार का दिखावा व प्रदर्शन नहीं किया था। वे अन्ध-वर्षीय दि० जैन परिषद की विचारधारा के पूर्ण समर्थक थे और उसके माध्यम से वे समाज को हमेशा संबोधित करते थे। साहूजी के विचारों में यह भी विशेषता थी कि वे समन्वय विचारधारा के सबसे बड़े व्यक्ति थे। परिषद् के सर्वेसर्वा होने पर भी महासभा और परिषद् को एक करने के लिए उन्होंने कई बार प्रयास किया। साहूजी चाहते थे कि हम संगठन को महत्ता दें जिससे हमारी शक्तियों का उपयोग अच्छाईयों में हो। साहूजी न कट्टर बीस पंथी थे और न तेरह पंथी थे। वे पंथ से ऊपर उठे हुए विचारों के थे। वे कभी भी वैचारिक संघर्ष में नहीं गए। वे सही रूप में अनेकांतवादी थे। इसीलिए वे भ्रांषणों को महत्त्व नहीं देते थे। वे महत्त्व देते थे अहिंसा

और अनेकांत विचारधारा को। साहूजी ने जीवन के अन्त तक एकता के लिए अथक प्रयास किया और इसको मूर्तरूप देने के लिए दि० जैन महासमिति जैसी विराट् संस्था को जन्म दिया, जिसका स्थान भारत के कोने-कोने में वटवृक्ष की तरह साकार हो रहा है। यदि समाज ने साहूजी की इस भावना को साकार रूप दे डाला तो इस युग में उनके प्रति जैन समाज की यह सबसे बड़ी श्रद्धाजलि होगी।

साहूजी अनेक संस्थानों के संस्थापक, व्यवस्थापक व संचालक थे। समाज के कार्यकर्ताओं के प्रति उनका अगाध प्रेम था। उनका सम्मान देते थे और अपने मकान पर बड़ा भारी आतिथ्य करते थे। कई बार संस्थाओं के अधिवेशनों में मुझे उनके प्रत्यक्ष दर्शन करने के अवसर मिले हैं। वे मुझे देखते ही आगे बढ़कर गले लगाते थे और मेरी पीठ ठोका करते थे। उनमें समाज के कार्यकर्ताओं के प्रति जबर्दस्त आत्मीयता थी। ऐसा कभी अवसर नहीं आया जब पर्यपणराजपर्व और दीपावली पर मुझे वे भूल जाते। उनमें वात्सल्य और समता का जबर्दस्त सम्बन्ध था। ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं।

मैं यहाँ स्वर्गीया रमा रानीजी को भी नहीं भूल सकता। जिनकी सही प्रेरणाओं से ही साहूजी का जीवन महान् बना। रमाजी सही रूप में आदर्श देवी थी।

इतने विशाल कुटुम्ब के बीच रहते हुए भी उन्होंने अपने कर्तव्य को निभाया व स्वयं अनेक संस्थाओं का संचालन किया।

मैं तो यही निवेदन करना चाहूँगा कि जैन समाज साहूजी जैसे आदर्श पुरुषों के पदचिह्नों पर चलकर उनके स्वप्न को साकार करे और उनकी संगठन और एकता की भावना को मूर्त रूप दे जिससे कि स्वर्गीय आत्मा को शान्ति प्राप्त हो।

मैं भी उस महामानव के चरणों में सही रूप से श्रद्धा सुमन अर्पित करता हुआ भगवान् महावीर से प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे भी वह शक्ति प्रदान करें जिससे मैं उनके पदचिह्नों पर चल सकूँ।

पुरातत्त्व के अमर प्रेमी

□ डा० सुरेन्द्र कुमार शर्मा, उज्जैन

साहूजी अपने बहुविध व्यक्तित्व के कारण चिर-स्मरणीय थे। वे एक सफल उद्योगपति, जागरूक विचारक और सामाजिक कार्यकर्ता के साथ-साथ धर्म, दर्शन, कला, राजनीति और साहित्य में भी विशेष रुचि रखते थे। भारत देश की प्राचीन संपदा व अतीत की गरिमा के प्रसंगों में आपका मन अधिक रमता था। उनका पुरातत्त्व में भी विशेष आकर्षण था और एक जागरूक पाठक की भांति हर उत्खनन और नई पुरातात्विक उपलब्धियों पर लेख, सम्मरण व रिपोर्ट पढ़ा करते थे। मेरा उनसे कभी माक्षात्कार न हो सका, परन्तु पत्रों द्वारा सूचनाओं का आदान-प्रदान होता रहता था, और उसी पत्र-व्यवहार के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि प्रातःस्मरणीय श्री साहूजी पुरातत्त्व विषय में अत्यधिक रुचि रखते थे।

उज्जैन के मालवा प्रान्तीय दिगम्बर जैन संग्रहालय, जयसिंह पुरा के विषय में उनकी गहरी रुचि थी। यह संग्रहालय पंडित सत्यधर कुमार सेठी एवं श्री भूपेन्द्र कुमार सेठी के अथक प्रयासों से स्थापित किया गया था। इस संग्रहालय की मूर्तिशिल्प के कालक्रमानुसार व्यवस्था के लिए मैं सन् १९६८ से ही क्रियाशील था। डा० वि० भी० बाकणकर, श्री नारायण भाटी, श्री दीप चन्द जैन, श्री लालबहादुर तोमर के साथ मैंने समस्त ५१० प्रतिमाओं का क्रमांकीकरण, अभिलेखों की प्रतिलिपि एवं मूर्ति सौष्ठव का एक बृहत् केटलाग तैयार किया था। उस केटलाग को ज्ञानपीठ की ओर प्रकाशनार्थ भेजा गया। इसी बीच अखिल भारतीय औरिएण्टल कांफ्रेंस का उज्जैन अधिवेशन हो रहा था, अतः एक परिचय पुस्तिका इस संग्रहालय की प्रकाशित की जो समस्त कलाप्रेमी प्रबुद्ध पाठकों को वितरित की गई। मैंने एक प्रति आदरणीय साहू जी के पास भेजी थी और उनका मतभ्य मांगा था। इस पर साहूजी ने एक विस्तृत पत्र दिया था कि परिचय पुस्तिका को पढ़कर उन्हें हर्ष हृष्य व किन-किन स्थानों से कब-कब संग्रह किया गया है और जैन प्रतिमाओं पर शोध करने वालों को यहाँ किस प्रकार की सुविधा दी जाती है? क्या जैन धर्म के अतिरिक्त भी इस संग्रहालय में अन्य प्रतिमाएं हैं? साथ ही ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'जैन आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर' डा० अमलानन्द बोष द्वारा संपादित होने वाला

था। उसके लिए इस संग्रहालय की मूर्तियों का वर्गीकरण करके एक विस्तृत लेख भेजने को लिखा था। मैंने व पं० सत्यधर कुमार जी ने संयुक्त रूप से एक लेख भेजा था जो उस ग्रन्थ के भाग-२ में प्रकरण ३८ में पृष्ठ ५८७ से ५८८ तक छपा भी, और लगभग १५ चित्र मूर्तियों के भेजे।

संग्रहालय में मालव प्रदेश के बदनाबर, पचौर, जामनेर, ईसागढ, सुन्दरसी, मकसी, घाष्टा, इंदार आदि स्थानों से प्रतिमाएं एकत्र की गई थीं व उनका संग्रह कर यहाँ स्थापित करने का समय व महाकाल क्षेत्र की व कालियादह की शिवनृत्य व शिव पार्वती, सरस्वती आदि प्रतिमाओं का हवाला दिया था, तब साहूजी ने लिखा था कि यह जैन व जैनैतर ब्राह्मण शैवधर्म की प्रतिमाओं का एक भारतीय स्तर का संग्रहालय है तथा उसका विधिवत् आकलन होना चाहिए—इससे भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष का सबल रूप विद्वानों के समक्ष आया है।

साहूजी की इच्छा थी कि यह संग्रहालय उज्जैन का एक प्रमुख आकर्षण केन्द्र बने और देश-विदेश के विद्वान् इस ओर आकर्षित हो। हमने उनकी इच्छानुसार एक सचित्र अलबम, मूर्ति विवरण, पहचान, लांछन, आयुष, यक्ष-यक्षिणी व पादपीठ के शिलालेखों के वाचन के साथ तैयार किया। न्यूमायर इरविन (आस्ट्रिया), बेनेट पिटर (लंदन), लोथार बांके (आस्ट्रिया) व क्रूजर (इंग्लैंड) ने इसका मूर्तिशिल्प देखा, फोटोग्राफ लिए व इसकी मूर्तियों का प्रकाशन किया। साहूजी ने पत्र में लिखा था कि मानवा के जैन तीर्थों पर एक पुस्तक तैयार की जाय। उसी शृंखला में मैंने "मकसी जैन तीर्थ: एक परिचय व इतिहास" पुस्तक लिखी जो हाल ही में प्रकाशित हुई है। ऊन, ओंकारेश्वर, बड़वानी, बर्नाड़िया पर भी मैं लेखन कर रहा हूँ। सभी के प्रेरणास्रोत आदरणीय साहूजी थे।

साहूजी का मत था कि प्राचीन मूर्तियों में युगों की श्रद्धा समन्वित रही है। अतः यह हमारे लिए धरोहर है। राष्ट्र के लिए यह थाती है जिस पर युगों तक भारतीयों को गर्व होगा।

अन्त में उनके प्रति श्रद्धांजली प्रस्तुत करत हूँ।

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (मध्य प्रदेश)

□ □ □

महाप्रभावक श्रावक शिरोमणि

।□ पण्डित सुभेरचन्द्र जैन, दिल्ली

उन्नीसवीं शताब्दी में जैनधर्म और जैन संस्कृति के प्रभुत्व के लिए जिन तेजस्वी, असाधारण प्रतिभासंपन्न, दानवीर महान प्रात्माओं ने जन्म लेकर लोक कल्याणकारी आश्चर्यजनक कार्य किए उनमें स्वनामधन्य सेठमाणिकचंद्र जी जहूरी और जैन समाज के अनभिषिक्त सम्राट रावराजा सेठ हकमचन्द जी थे। उनके पश्चात् सर्वतोमुखी प्रतिभा को लेकर भ० महावीर के शासन को और ग्रहिसात्मक संस्कृति के उत्थान के लिए जिन्होंने अथक परिश्रम किया उनका नाम काव्य प्रतिष्ठित महाप्रभावक श्रावक शिरोमणि साहू शान्ति प्रसाद जी है।

साहूजी की प्रतिभा चतुर्मुखी थी। उन्होंने व्यापार, तीर्थभक्ति, जिनवाणी भक्ति समाज निर्माण का महान कार्य, धर्मोन्नति की तीव्र आकांक्षा और अध्यात्मज्ञान की पिपासा, इन सभी विषयों में उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किए जिन्हें हम युग-युग तक याद करते रहेंगे।

वे भारतीय माता के ऐसे दिव्य सपूत थे जो जीवन भर विविध प्रकार से जैन संस्कृति, ग्रहिसात्मक विचार-धारा और भारतीय दिव्य विचारों के पोषण के लिए सतत पयत्नशील रहे।

भ० महावीर स्वामी के २५००वें निर्वाण महोत्सव पर उन्होंने जो असाधारण कार्य किए, उन्हें देख हमें भिक्षु-राज खाराबेल (जो महापराक्रमी और शक्तिशाली नरेश था और जिसने दुर्दान्त शत्रु की परास्त कर कुमारी पर्वत पर गण्डगिरि में धर्मोद्योतन का महान कार्य किया) की याद आ गई।

दिल्ली में भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण पर महोत्सव के एक छोटी-सी पुस्तक जब साहूजी को दिखाई तो बोले कि "तुमने तो सभी की प्रशंसा लिख दी।"

वस्तुतः जिन्होंने निर्वाण महोत्सव पर क्रियात्मक सहयोग दिया इसमें उन्हीं महानुभावों की प्रशंसा है अन्य की

नहीं। इस पुस्तक में उनके सम्बन्ध में लिखा था।

चतुर्विध सच में किमते कितना श्रद्धा का भाग अपने हृदय के विकसित पुष्पों से भरकर पुष्पांजलि २५०० वर्षों के पश्चात् वीर भगवान के चरणों में अर्पित की, इसका तो हम सभी मूल्यांकन नहीं कर सकते। परन्तु यह बात हम अवश्य जानते हैं कि उसमें उमंग से भरकर कृतकारित अनुमोदना से और तन, मन, धन से सर्वत्र जागृति और प्रेरणा का स्रोत जिसके द्वारा हुआ, वे हे स्वनामधन्य लब्धप्रतिष्ठित जैन समाज के मुकुटमणि साहू शान्ति प्रसादजी हैं। वे समाज के ऐसे ज्योतिर्मान दैवीप्यमान रत्न हैं जो अस्वस्थ होने पर भी भ० महावीर निर्वाण महोत्सव के लिए सतत जागरूक रहे। समाज के मार्गदर्शक जैन समाज के सभी मुनिजनों, त्यागियों, श्रुती विद्वानों और श्रावक वर्ग के प्रिय रहे। इस उत्सव की सफलता का श्रेय साहूजी की तीव्र लगन को है जिन्होंने अपनी निष्ठा और कर्तव्यशीलता से समाज के मन को मोह लिया और उत्सव में चार चाद लगा दिए।

वैष्णव कुल में जन्म लेने पर भी श्रीमती रमा रानी जी के मन में जैन धर्म और जैन संस्कृति के प्रति बड़ी भक्ति थी। वे साहूजी को सतत धार्मिक कार्यों में प्रोत्साहन दिया करती थी।

यद्यपि साहूजी का अन्तःकरण स्वतः जिन शासन की प्रभावना करने में सदैव उत्साहित रहता था परन्तु रमा जी का सहयोग सोने में सुगन्धि की तरह चरिताथं हुआ।

जैन संस्कृति और जैन धर्म के उत्थान में सदैव जैन महिलाओं ने असाधारण शक्ति लगाकर आश्चर्यजनक कार्य किए हैं। प्राचीन काल में अनेक तपस्विनी, दान गीता, वीरप्रसवा, शूरवीर, तेजस्वी, शक्तिशाली, वीराङ्गना लेखिका, कवियित्री, अथक, बुद्धिमती नारी रत्न हुई जिन्होंने जिन शासन को उद्योग करने में भी प्रभावना अङ्क

के पालन करने में महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाई हैं। स्त्रियों की तेजस्वी शक्ति से ही समाज सच्चे अर्थों में उत्कर्ष को प्राप्त होकर सशरीणी उत्पत्ति को प्राप्त हो सकती है।

श्रीमती रमरानीजी उन्होंने वीर महिलाओं के पदचिह्नों पर चलीं, जिन्होंने संस्कृति उत्थान के कार्य में प्रभावशाली कार्य किया, जिससे जनता में अपने कर्तव्य के प्रति श्रद्धा बलवती हुई और उनका सबसे बड़ा कार्य यह हुआ कि वे साहूजी को दिल खोलकर उदारता के साथ धर्म, संस्कृति, साहित्य, जिनवाणी, तीर्थ और समाज निर्माण के कार्य में प्रोत्साहन देती रही जिससे जैन समाज के जीवन में एक नई चेतना जागृत हुई और जिसका सुमधुर फल निकला।

साहूजी ने व्यापार के कार्य को खूब बढ़ाया। अनेक फैक्ट्रियों, व्यापारिक संस्थानों, विविध उद्योगों को इतने ऊँचे दर्जों पर ले जाना उनकी प्रतिभा का उत्कृष्ट नमूना था। जबकि प्राज के समय में मालिक मजदूरों के संबंध निरन्तर चलते रहते हैं, हजारों कामगारों से काम लेना, उन्हें संतुष्ट करना और अपने वाणिज्य का सर्वतोमुखी विकास करना उनका व्यक्तिगत चमत्कार ही था।

सारे देश में जितने तीर्थ हैं, उनमें सबसे अधिक मध्य प्रदेश में जैन तीर्थ हैं। मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश के जिस इलाके को बुन्देलखण्ड कहते हैं, प्राचीन काल में वहाँ अनेक सिधई, सवाई सिधई और श्रीमंत धनिक हुए जिन्होंने अपनी खूबियाँ लक्ष्मी का सही उपयोग जिनेन्द्रदेव के मंदिरों के निर्माण में लगाया। बहुत समय तक वे धर्म और संस्कृति के केन्द्र बने रहे। जब गाँवों की ओर से शहरों की ओर ग्रामीण जनता का रुख हुआ तो वे तीर्थ उपेक्षित हो गए। फलस्वरूप उनका सौन्दर्य मलिन हो गया। धीरे-धीरे वे जीर्ण होकर अपने अस्तित्व को ही खतरे में डालने लगे। उनका उद्यम करना सामान्य बात नहीं थी। साहूजी ने उनके दर्शन किए। उनके मन में टोस हुई और उनके उद्धार का संकल्प उनके मन में जागृत हुआ। अपने मुख्य इन्जीनियर को भिजवाकर उन तीर्थों का सर्वे किया गया और नये सिरे से एक सुयोग्य महानुभाव की देख-रेख में लाखों रुपये व्यय करके उन तीर्थों का जीर्णोद्धार किया गया। इसी प्रकार अहिच्छत्र पार्षनाथ

तीर्थ क्षेत्र की मुख्य बेदी के पास इतना स्थान नहीं था कि दस-पाँच महाज सुविधापूर्वक बैठ सकें और परिक्रमा भली प्रकार लगा सकें। जब इस विषय की ओर साहूजी का ध्यान आकर्षित किया गया तो उन्होंने एक लाख रुपये से स्वयं अधिक रुपये लगाकर मनोज्ञतम बेदी और नये सिरे से भवन बगिचर बनवाकर तीर्थ का उद्धार कर दिया। इसी प्रकार न मालूम कितने तीर्थों का जीर्णोद्धार उनके द्वारा हुआ। वे सच्चे अर्थों में तीर्थभक्त शिरोमणि थे।

इसी प्रकार जिनवाणी उद्धार के लिए उन्होंने भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना की जिसके द्वारा संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और दक्षिण की भाषाओं के ग्रंथ सर्वाङ्ग सुन्दर रूप में नई सज्जा के साथ इस प्रकार प्रकाशित कराये जो पहले कभी नहीं हुए थे।

जो ग्रंथ प्रकाशित हुए वे आम्पत्तर विषय की दृष्टि से और बाह्य सज्जा की दृष्टि से नयनाभिराम, अनुगम और अद्वितीय थे जिनकी सभी सरस्वती पाद सेवियों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की और दूसरों के लिए उनका अनुकरण करने की प्रेरणा दी। इसी संस्था के द्वारा एक ऐसा महान कार्य हुआ जिससे देश की चौदह भाषाओं के सर्वोत्तम ग्रंथकार का सम्मान किया गया और प्रति वर्ष वाग्देवी सरस्वती की मूर्ति सहित एक लाख रुपये का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार प्रदान किया गया, जिसके फलस्वरूप सभी भाषाओं के साहित्यकार विविध भाषारूपी मणियों को एक माला में गूथने और एक-दूसरे के निकट आकर आत्मीयता प्रकट करने लगे। इससे भारतीय संस्कृति का गौरव बढ़ा और साहूजी की दानशीलता, दिगिदगान्त व्यापिनी हुई, यद्यपि उन्हें स्वयं अपनी प्रशंसा सुनने का रचमात्र भी चाव न था। उन्हें काय में विश्वास था।

समाज निर्माण के कार्य में उनकी बड़ी रुचि थी। दिगम्बर जैन समाज में जो अनेक संस्थाएँ अपने-अपने क्षेत्र में कार्य कर रही थी उनमें से कोई भी संस्था समस्त जैन समाज का प्रतिनिधित्व करने का दावा नहीं कर सकती थी। ऐसी परिस्थिति में भ० महावीर निर्वाण महोत्सव कैसे सफल हो, इस बात को ध्यान में रखकर दिगम्बर जैन भ० महावीर निर्वाण समिति बनाई गई जिसके माध्यम से वीर निर्वाण महोत्सव और धर्मचक्र प्रवर्तन का अत्यन्त

गौरवशाली कार्य सम्पन्न हुआ। साहूजी की आन्तरिक इच्छा थी कि समस्त जैन समाज एक भूँडे के नीचे आए। उन्होंने इस कार्य में अधिक परिश्रम किया और दिगम्बर जैन महासमिति का निर्माण किया गया।

महासमिति का दायित्व बहुत बड़ा है। उसके द्वारा अधिक काम हो, सभी की आन्तरिक प्रेरणा। इस बात में है; इसके कार्यकर्ताओं का ध्यान एकांगी न हो; उनकी सर्वाङ्गीण वृष्टि हो। यद्यपि राजनैतिक अधिकार हम अलग से नहीं चाहते, पर इतना अवश्य चाहते हैं कि हमारी धार्मिक संस्कृति के विकास में किसी प्रकार की बाधा न आए। समस्त जैन शिक्षण संस्थाओं में धर्म शिक्षा दी जाए। तीर्थों की सुरक्षा हो। आसपास का वातावरण अहिंसात्मक बना रहे इसी प्रकार जैन समाज भारत के गाव-गाँव में फैला है। हमारा उनका सम्पर्क टूट गया न तो। उन्हें केन्द्र से प्रकाश मिलता है और न उनकी कठिनाइयों और समस्याओं को हल करने की समस्या हम मिल बैठ कर सुलझाते हैं। इसलिए दूरी बढ़ती जाती है और आत्मीयता कम होती जाती है। अतः आवश्यक है कि प्रान्तों में महासमिति के कार्यालय हो और कतिपय विद्वान् उपदेशक रखे जायें जो देश की धर्मप्राण जनता में धार्मिक संस्कार जगावें, स्वाध्याय, श्रावको के कर्तव्य, धर्मशिक्षण देने की व्यवस्था आदि कार्यों में रुचि जगावें। मिशनरी ढंग से युवकों को कार्य करने की प्रेरणा दें। साहूजी इस बात से अत्यधिक खिन्न थे कि नवयुवकों में उज्ज्वल संस्कार कम होते जाते हैं। उनमें किस प्रकार चरित्र निर्माण की सुरुचि जागृत हो, यह कार्य उत्तम शैली से दी गई धर्म शिक्षा से ही सम्भव है।

उनमें अपने कार्यकर्ताओं के प्रति बड़ा स्नेह था। वे श्री तनसुखराय स्मृति ग्रंथ समिति के अध्यक्ष थे और मैं उसका संयोजक। उन्होंने सारे लेख मंगवाकर एक-एक लेख

देखा और उन्हें जो सुझाव देना था देते गए। तनसुख रायजी समाज के कर्मठ कार्यकर्ता थे जिन्होंने विविध प्रकार से समाज की सेवा की। साहूजी के वे दाहिने हाथ थे। सैकड़ों कार्यकर्ता, या जिन्हें उनसे प्रोत्साहन मिलता, था उनके बिना अभाव का अनुभव करने लगे।

साहूजी में आत्म-कल्याण की महती भावना जागी। वे कई बार मुनि श्री शान्ति सागर जी महाराज के पास दर्शनार्थ पहुँचे और दीक्षा ग्रहण करने की अभिलाषा प्रकट की। प्राचीन काल में अमोघवर्ष जैसे प्रतापी राजा राज्यत्याग कर दीक्षा अङ्गीकार करते और स्वपर कल्याण में दत्तचित्त रहते थे। उनके द्वारा जैन शासन की महती प्रभावता होने वाली थी। साहूजी के मन में भोगों से उदासी और आत्मोद्धार की तीव्र आकांक्षा बलवती हुई। वे जानते थे कि हमारे पूर्वज ऋषियों ने जो ज्ञाननिधि हमें सौपी है, कुछ लोग उससे न तो स्वयं लाभ उठाते हैं और न दूसरों को उठाने देते हैं; क्यों न मैं वीर शासन के सर्वोदय सिद्धान्तों का अधिक से अधिक प्रचार करूँ। वे अस्वस्थ हो गए। सर गगाराम हास्पिटल में जब उन्हें देखने गया तो उनकी शारीरिक स्थिति अच्छी न थी। चिकित्सा चल रही थी। परन्तु दुर्भाग्य एव काल के क्रूर हाथों ने समाज की अनुपम निधि लूट ली गई।

वे सच्चे अर्थों में भामाशाह थे। उनकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। ऐसी दिव्य विभूतियाँ कभी-कभी अवतरित होती हैं जिनके मन में यह भावना होती है :-

न तन सेवा न मन सेवा, न जीवन और धन सेवा।

मुझे है इष्ट जन सेवा, सदा सच्ची भुवन सेवा ॥

हमें विश्वास है कि उनके पुत्र रत्न उनके पदचिह्नों पर चलेंगे।

पाण्डव नगर, पटपड़गज, दिल्ली



युग के भामाशाह

□ श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज', जाधरा

युग के भामाशाह एक तुम, साहू शान्ति प्रसाद ।
देश तथा समाज यह कह कर, तुम्हें करेगा याद ॥

नोबल पुरस्कार से कुछ कम, अर्थ भावमय नाद ।
ज्ञानपीठ का पुरस्कार सच, मानवता का वाद ॥

सत्य रमापति सफल हुए तुम, कर निधि का उपयोग ।
लक्ष्मी-सरस्वती का तुम में, था मणि-कांचन योग ॥

श्रीमानों श्री विद्वानों के, केन्द्र-विन्दु तुम शान्ति ।
सामाजिक श्री धार्मिक मानव, केन्द्र-विन्दु तुम शान्ति ॥

जीवन के उत्थान-पतन में, रखा न हर्ष-विषाद ।
एक मंच, ध्वज, प्रतीक, आगम, लेकर बने प्रसाद ॥

जनगण मन के माने अनुपम, अनभिषिक्त सम्राट् ।
संमृति-जीवन-कृतित्व तेरा, था बहुमूल्य विराट् ॥

व्यापारी विद्वान् नेक तुम, करके नहीं विवाद ।
जिज्ञासू बन सत्य शोधते, करने धर्म-निनाद ॥

जेन धर्म जन धर्म बने श्री, अमण संस्कृति-भाव ।
भूले जग-जन ऋज्ज्वा ल, भव-अमण-संस्कृति-चाव ॥

लौकिक होकर सत्य अलौकिक, अनुपम अमित ललाम ।
कार्य-संस्थाओं से रवि-शशि, सदृश अमर मुनाम ॥

तेरे जीवन की गाथा का, जो सुन ले सवाद ।
निरभिमान हे परोपकारी ! पढ़ भूले अवसाद ॥

साहस-शीर्य बुद्धि-विद्या ले, प्रतिशय परम उदार ।
अबने जीवन से सिखलाया, सुखद समाज-सुधार ॥

जेन जगत के अनुपम राजा, किए सहस्रों काम ।
अर्द्धांजलि लो कहें सहस्रों, शत-शत बार प्रणाम ॥

मर कर भी तुम अमर हो गए, साहू शान्ति प्रसाद ।
अपने यश-शरीर से जीवित, साहू शान्ति-प्रसाद ॥

बजाज खाना, जाधरा (म० प्र०)

सरस्वती के पुजारी

□ श्री बती रूपवती 'किरण', जउलपुर

सरस्वती का एकनिष्ठ अनन्य पुजारी अनायास हो गया, यह सुनकर मस्तिष्क में क्षण भर को यह प्रश्न कौंध गया कि आजीवन सक्रिय रहने वाले जागरूक व्यक्ति को निद्रा कैसे आ गई ? तत्क्षण तथ्य उजागर हो गया कि यह निद्रा नहीं चिर निद्रा है, जो अब कभी नहीं खुलेगी। सृष्टि का अटल नियम है। जो आता है, वह जाता है। जन्म के साथ ही प्राणी मरण की ओर पैर बढ़ा देता है, अनजाने ही। संसार ही परिवर्तनशील अस्थिर है तो उसमें आरुढ़ यात्री कैसे स्थिर रह सकता है ? यह अस्थिरता भी उस ज्वलंत सत्य को उद्घटित करती है, जो आज तक एक भ्रूमी पहेली बना हुआ है। संसार यात्रा का साथी शरीर नश्वर है। स्थिति समाप्त होते ही वह पिंड ब्रह्माण्ड में बिखर जाता है, परंतु आत्मा यथावत् है। शरीर के मिलने से वह न अधिक होता है, न बिछुड़ने से न्यूनता आती है। प्रत्यक्षतः अनेक शरीर जीण होते तथा मृत्यु को प्राप्त होते देखे जाते हैं। उन शरीरों में श्रीमान् धीमान् आदि कोई भी संज्ञा धारण करने वाली आत्माएँ विद्यमान रही हों, किन्तु सभी शरीर कालधर्म से अछूते रह चिरस्थायी नहीं हुये। जो इस भेदविज्ञान को आत्मसात् कर लेता है, वह आत्मा इस आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। वे ही पूज्य एवं अनुकरणीय हैं, परंतु मुक्त होने के पूर्व जो यात्री अपने मानव जीवन की लघुतम यात्रा शुभ भाव व शुभ कार्यों के द्वारा सफल कर लेते हैं, वे धन्य हैं। ऐसे भाग्यवानों में थे स्वन्तामधन्य श्रावक शिरोमणि साहू शांति प्रसाद जी।

साहूजी देश के जाने-माने महान् उद्योगपति थे ही, परंतु सभी क्षेत्रों में उनका अधिकार था। वे उन श्रीमानों में से नहीं थे जो अपनी आँखें व बुद्धि को गिरबी रखकर केवल कानों से ही कार्य लेते हैं। वे कार्य करने के पूर्व उसे भली प्रकार बुद्धि की कसौटी पर कसकर क्रियान्वित करते थे वे लक्ष्मीपति होकर भी आजीवन सरस्वती के पुजारी रहे। उन्हें दोनों का समान रूप से वरदान प्राप्त था। अतएव अपने जीवन में उन्होंने सामाजिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों को तन-मन-धन से अपूर्व सहयोग प्रदान किया।

कोई भी क्षेत्र उनकी सेवाओं से अछूता न रह सका। उनके साथ उनकी सहधर्मिणी चतुर्मुखी प्रतिभाशालिनी रमा जी का व्यक्तित्व भी संपूर्णतः उन्हीं में विलय हो एकाकार हो गया था। ऐसा मणि-काचन संयोग बिरले ही दंपतियों को प्राप्त होता है।

द्रव्याभाव के कारण विपन्न परिवारों की प्रतिभाएँ कुण्ठित हो विकसित हुये बिना ही नष्ट हो जाती हैं। यह व्यक्तिगत विनाश नहीं, अपितु समाज का पतन है। इससे मानवता का अपकर्ष होता है। ऐसा अनुभव करते हुये उन्होंने छात्रवृत्तियाँ देने के लिये तत्काल ट्रस्ट स्थापित कर इस महत् अभाव की पूर्ति की, जिससे हजारों विद्यार्थी प्रशिक्षित हुये और हो रहे हैं। इच्छुक शिक्षितों को साहू उद्योगों में नियुक्त कर आजीविका की विभीषिका से भी विमुक्त कर दिया। यह था उनका समाज-प्रेम। इसीलिये वे समाज के प्राण स्वरूप थे। ज्ञान दान की महत्ता को उन्होंने यथार्थतः आका था।

ज्ञानपीठ, काशी संस्थान की संस्थापना कर लुप्त हो रहे अनेक अनुपलब्ध प्राचीन ग्रंथों का एवं लोकोपकारी परिष्कृत मौलिक साहित्य का प्रकाशन कर वे सर्वसाधारण को सुलभ किये। जैन कुलोत्पन्न होने से जैन साहित्य, दर्शन के प्रति स्वभावतः आकर्षित थे ही; पर भारतीय भाषाएँ भी उन्हें प्रिय थी। फलतः ज्ञानपीठ, काशी के माध्यम से साहित्यकारों को उनकी सर्वोच्च सृजनात्मक साहित्यिक कृति पर उनके सम्मानार्थ, विश्वविख्यात नोबल पुरस्कार की भाँति आपने भी प्रतीकात्मक एक लाख रुपये पुरस्कार स्वरूप देने की घोषणा कर, भारत में नवीन परम्परा का सूत्रपात किया। इस योजना के अंतर्गत प्रतिवर्ष विविध भाषाभाषी सरस्वती-पुत्रो का सम्मान किया जा चुका है। इस योजना की आधारशिला इतनी सुदृढ़ है कि भविष्य में भी बिना किसी व्यवधान के सुचारुरूपेण साकार होती रहेगी।

ज्ञानपीठ की भाँति आपके द्वारा संस्थापित साहू जैन ट्रस्ट, साहू जैन चेरीटेबल सोसायटी आदि अनेक संस्थाएँ हैं, जो आपके कुशल संचालन में कार्यरत रही। इनके द्वा-

सामाजिक क्षेत्र में बहुप्रशंसित कार्य प्रगतिमान हैं। वैशाली प्राकृत जैन धर्म एवं ग्रहिसा शोध संस्थान भी आपके प्रचुर अनुदान से अभिभूत हुये हैं।

साहूजी ऊर्जस्वी विचारवान् व्यक्ति थे। उनकी भारतीय संस्कृति में भी अद्वितीय अभिरुचि थी। जैन धर्म के उपासक होने के नाते जैन तीर्थों के प्रति उनकी अगाध भक्ति थी। उस ओषड़ दानी ने नवीन मंदिरों का निर्माण न कराकर, भारत के अधिकांश तीर्थों का जीर्णोद्धार कर उन दानियों के समक्ष आदर्श उपस्थित किया, जो यश-प्राप्ति हेतु यथेष्ट पात्रता पर ध्यान नहीं देते। बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहूजी ने जो भी कदम उठाया, सोच समझकर विवेकपूर्वक उठाया। इसीलिये सभी कार्य ठोस हुये, सतही नहीं। उनकी कार्यक्षमता एवं सूझबूझ अनूठी थी।

भगवान महावीर के पच्चीसवीं निर्वाण महोत्सव के कार्यक्रमों को मफल बनाने के लिये आपने भारत भर की कई बार यात्रा कर समाज में जागरण का मंत्र फूंक अनोखी चेतना जगाई। आपके व्यक्तित्व से प्रभावित हो जैन समाज के चारो सम्प्रदायों की ओर से गठित भगवान महावीर पच्चीससौवा निर्वाण महोत्सव समिति ने आपको कार्याध्यक्ष मनोनीत किया। आपका सर्वोत्तम गुण यह था कि आपमें वृद्धों जैसा अनुभवपूर्ण गाम्भीर्य था तो तरुणों जैसा कार्य करने में अदम्य उत्साह भी था। परिणामस्वरूप उन्होंने अध्यक्ष पद की गरिमा महिमा का मूल्योंकन कर अपने उत्तरदायित्व का समुचित निर्वाह किया।

समाज ने जहाँ भी आपको आमंत्रित किया, वहाँ जाकर आपने अपनी बहुमूल्य सेवाएँ अर्पित की। किसी भी प्रांत या नगर का जैन समाज उनका सौहार्द या परम आह्लादित हो अपना अहोभाग्य मानता था। आपकी उपस्थिति में समाज के वर्षों से अवरुद्ध कार्य अप्रत्याशित गति से अग्रसर होने लगते थे। यह अतिशयोक्ति न होगी कि आप वर्तमान युग में समाज के प्रमुख कर्णधार थे। अनेक विवादग्रस्त विषय आपने निपटायें।

आप पूज्यपतियों में अपने हंसमुख मिलनसार और क्षीर-नीर बिंदुकी स्वभाव के कारण अपवाद स्वरूप थे। आपने इस उक्ति को चरितार्थ कर दिया था कि जैसे पत्र-पुष्प-फलों से समृद्ध वृक्ष सहज ही झुक जाते हैं, उसी प्रकार भौतिक विभूति के साथ गुणसम्पन्नता से युक्त आप प्रकृततः विशेष नम्रीभूत थे। आपमें कुछ ऐसी विलक्षण

सरलता थी कि अविरचित व्यक्ति भी प्रथम मिलन में ही भुग्न हुये बिना न रहते थे।

आज के कतिपय विद्वानों के कारण समाज में जो विघटन चल रहा है, उससे वे अत्यंत व्यथित थे। अन्तिम समय तक खाई को पाटने में लगे रहे। नैनवाँ काण्ड ने तो उनके मन-मस्तिष्क को भिन्नोड़ कर रख दिया। जिनवाणी का अपमान एक जैन और वह भी पंडित सज्जाधारी व्यक्ति के द्वारा हो तो वह और भी अधिक शोचनीय हो जाता है। यह ऐसी घटना थी, जिसने जैन जगत् में शोभ उत्पन्न कर हलचल मचा दी। उन्हें भी असह्य होना स्वाभाविक ही था। भाव विह्वल हो उन्होंने अश्रुपूर्ण नयनों से कड़े शब्दों में भर्त्सना की थी। माँ जिनवाणी का विसर्जन, दहन करने जैसे घृणित कुकर्म सुनकर किस धर्मप्रेमी कल्याणच्छुक का हृदय न रो पड़ेगा? जिनवाणी का अनादर पंच परमेष्ठी का, किंवा स्वयं आत्मप्रभु का ही अनादर है।

इस समय उनकी नितान्त आवश्यकता थी। उनकी उपस्थिति कदाचित् समाज को एक सूत्र में बाँधने में समर्थ हो सकती थी। उनसे समाज को बहुत बहुत आशाएँ थी, पर क्रूर काल की गति अवरुद्ध करने की क्षमता किसमें है? उसने अत्यंत निर्ममता से असमय में ही समाज का कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न-सा पुरुष-पारस हमसे छीन लिया।

वे अपने जीवन में ही यशस्वी हुये। देश के कोने-कोने में उनकी यशपताका फहरा रही है। साहू शांति प्रसाद जी का जीवन समाज को आदर्शस्वरूप है। इसलिये नहीं कि वे समृद्धिशाली थे, प्रत्युत वे कर्तव्यनिष्ठ सरल हृदय लगनशील समाज के विनम्र सेवक थे। समाज सेवा का व्रत उन्होंने आजीवन निबाहा।

यह दुःखद सत्य है कि समाज एक महान शोचितक के नेतृत्व से सदैव के लिये वंचित हो गया। यद्यपि उनका पार्थिव शरीर हमारे बीच नहीं है, तथापि उनके महत्त्वपूर्ण कार्य उनके जीवन्त स्मारक के रूप में सदैव रहेंगे एवं पद-पद पर युगो-युगों तक वे उनका स्मरण कराते रहेंगे।

साहूजी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुये साहू परिवार के प्रति हार्दिक सवेदना व्यक्त करती हूँ। जैन जगत् को उनके उत्तराधिकारियों से भी आशा ही नहीं वरन् पूर्ण विश्वास है कि वे उनके द्वारा प्रारंभ किये गये रचनात्मक कार्यों को अभिव्य में भी अविरत रखेंगे।

दानवीर श्रावक शिरोमणि

□ श्रीमहेन्द्र कुमार जैन, दिल्ली

सरल स्वभावो, धर्मनिष्ठ, समाजसेवी, निरभिमानी, राष्ट्रसेवी, अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त उद्योगपति, दानवीर, श्रावक शिरोमणि, साहू शान्ति प्रसाद जैन का भारत की राजधानी दिल्ली में गत वर्ष बृहस्पतिवार, दिनांक 27 अक्टूबर, 1977 को प्रातः 11 बजे देहावसान हुआ था। समाज सेवा, राष्ट्र सेवा, साहित्य व संस्कृति के क्षेत्र और शैक्षणिक, औद्योगिक एवं पत्रकारिता जगत् शोकाकुल हो उठा। सुहास्य, सौम्य मुद्रा में विकसित, सादगी, मिलन-सारिता, सरलता, सौजन्य, आतिथ्यशीलता, गुम्भकित, लोकप्रियता, धर्मनिष्ठा एवं एकता के प्रतीक साहू शान्ति प्रसाद जैन के निधन से आघात-स्तम्भ टूट गया। इससे समाज को ही नहीं अपितु राष्ट्र को बड़ी क्षति पहुंची जिसकी पूर्ति होना सम्भव नहीं है। शुक्रवार, दिनांक 27 अक्टूबर, 1978 का दिवस उनकी प्रथम पुण्य तिथि का अवसर है। हम सबका कर्तव्य है कि हम उनका स्मरण करें, उनके द्वारा आलोकित मार्ग का अनुकरण करें, तथा पुण्य तिथि को उपकृत भाव से मनायें।

श्री शान्ति प्रसाद जी की प्रेरणा व मार्ग दर्शन से भगवान् महावीर का 2500 वां निर्वाण महोत्सव राष्ट्र व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक सफलता से सम्पन्न हुआ। उनके सक्रिय प्रयत्न के कारण समग्र समाज में इस महोत्सव वर्ष में एकता स्थापित हुई।

उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत नजीबाबाद के पुराने घरानों में साहू जैन घराना बहुत प्रतिष्ठित रहा है। शान्ति प्रसाद जी का जन्म इसी नगर और घराने में सन् 1911 में हुआ था। उनके पितामह साहू सलेखचन्द जैन, पिता श्री दीवानचन्द जी और माता मूर्तिदेवी जन-जन में श्रद्धेय थे।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा नजीबाबाद शिक्षा केन्द्रों में हुई। हाई स्कूल करने के बाद आपने काशी विश्वविद्यालय

में प्रवेश किया। वहां से फिर आगरा विश्वविद्यालय में आए। आगरा विश्वविद्यालय से बी०ए० प्रथम श्रेणी में पास किया। वस्तुतः आपका समूचा विद्यार्थी जीवन प्रथम श्रेणी का रहा और यह केवल अध्ययन और ज्ञानोपार्जन की दृष्टि से ही नहीं बल्कि अन्य दृष्टियों से भी उल्लेखनीय था। उनमें वे सभी सद्गुण और सद्गुणव्यापक विकसित हुई जो सफलता के शिखर तक पहुंचने के लिए आवश्यक हैं।

उद्योग के क्षेत्र में आपने तीसरे दशक में पदार्पण किया था और प्रारम्भ में ही अपनी दृष्टि इस और केन्द्रित की कि न केवल देश के उद्योग-व्यवसाय का विकास और अभिवर्द्धन हो, बल्कि संचालन प्रणालियों में भी नये से नये प्राविधिक रूपों का क्रियान्वयन हो। इसके लिये आपने स्वयं विभिन्न आधुनिक पद्धतियों का गम्भीर अध्ययन किया तथा विविध विषय-क्षेत्रों में निरन्तर गवेषणाएं कराईं। अर्थशास्त्र और वित्तीय सिद्धान्तों और पद्धतियों का आपका बड़ा व्यापक और विशेष अध्ययन था। प्रत्येक विषय से सम्बद्ध फ्रांको एवं विवरण की जानकारी इस प्रकार हृदयंगम थी कि वह देश-विदेश के आर्थिक मामलों के तथ्यों को पूरे परिप्रेक्ष्य में देख कर सही निष्कर्ष निकालते थे और अपनी प्रतिभा से सबको चकित कर देते थे। विशेष रूप से, भारतीय उद्यम और भारतीय क्षमता के प्रति आप अपने औद्योगिक जीवन के प्रारम्भ से ही अत्यन्त आस्थावान् रहे।

साहू साहब ने अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति को लक्ष्य में रखते हुए आवश्यकता के अनुरूप अन्त्यान्त्य देशों का भ्रमण-पर्यटन भी किया। सर्व प्रथम 1935 में वे डच ईस्ट इण्डोला गए, फिर 1945 में आस्ट्रेलिया और 1954 में सोवियत रूस। ये तीनों यात्राएं उन्होंने भारतीय औद्योगिक प्रतिनिधि के रूप में की थीं और परिणामों की दृष्टि से वह अत्यन्त उल्लेखनीय मानी जाती हैं। ब्रिटेन, अमेरीका,

जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशों का भी आपने परिभ्रमण किया और अनुभवों के समावेश द्वारा साहू जैन उद्योगों को अधिकाधिक समृद्ध किया।

सचमुच जिम सहजता के साथ उद्योग एवं व्यवसाय के क्षेत्र में साहू जी ने सफलता प्राप्त की, वह उनकी स्वाभावगत प्रतिभा और बूझबूझ, संगठन-क्षमता तथा अध्यवसाय और सहनशीलता की सम्मिलित देन है। पिछले लगभग 45 वर्षों में आपने विभिन्न प्रकार और प्रकृति के उद्योग-धन्धों को एक सुविस्तृत श्रेणी की स्थापना एवं संचालना करके देश के औद्योगिक विकास में योगदान किया व अनेक उद्योगों का नेतृत्व किया। इस श्रेणी के अन्तर्गत जहाँ एक ओर कागज, चीनी, वनस्पति, सीमेंट, एम्बेस्स प्रोडक्ट्स, पाट निर्मित वस्तुएँ, भारी रसायन, नाइट्रोजन खाद, पावर अल्कोहल, प्लाइवुड, साइकिल निर्माण, कोयले की खानें, लाइट रेलवे व इन्जीनियरिंग वर्कमें आते हैं, वहाँ दूसरी ओर हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी, गुजराती के दैनिक पत्र और साप्ताहिक पत्रिकाएँ तथा महत्वपूर्ण सांस्कृतिक, साहित्यिक शोध एवं प्रकाशन के कार्य भी आते हैं।

विगत वर्षों में देश की विभिन्न व्यवसाय-संस्थाओं के आप अध्यक्ष रहे हैं। इनमें प्रमुख हैं : फेडरेशन आफ इण्डियन चेम्बर आफ कामर्स, इण्डियन शुगर मिल्स एसोसिएशन, इण्डिया पेपर मिल्स एसोसिएशन, बिहार चेम्बर आफ कामर्स एवं इण्डस्ट्रीज, राजस्थान चेम्बर आफ कामर्स एवं इण्डस्ट्रीज, इस्टर्न यू० पी० चेम्बर आफ कामर्स एंड इण्डस्ट्रीज। चार वर्ष तक लगातार आप आल इण्डिया ग्रांग-नाइजेशन आफ इण्डस्ट्रियल एम्प्लायर्स के भी अध्यक्ष रहे और इसी अवधि में भारतीय श्रम व्यवसाय सम्बन्ध नियम बनते समय आपने उद्योग-धन्धों का व्यावहारिक दृष्टिकोण उपस्थित किया।

अपनी विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्नता तथा व्यापक अनुभव के कारण साहूजी देश के उद्योग एवं व्यवसाय वर्ग द्वारा अनेक अवसरों पर सम्मानित किये गये। स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरू ने देश की औद्योगिक प्रगति की। वैज्ञानिक परिकल्पना को कार्यान्वित करने के लिये जो

प्रथम समिति गठित की थी उसमें आप देश के तरुण औद्योगिक प्रतिनिधित्व रहे।

साहू साहब को भारतीय धर्म-दर्शन और इतिहास तथा सांस्कृतिक विषयों के अध्ययन में भी आन्तरिक अभिरुचि थी। भारतीय कला एवं पुरातत्व के क्षेत्र में भी वे सर्वाधिक चर्चा किया करते थे। धार्मिक श्रद्धा में वह अडिग थे। भारतीय भाषाओं एवं साहित्य के विकास-उन्नयन की दिशा में आपका अति विशिष्ट योगदान रहा। आपके द्वारा सन् 1944 में भारतीय ज्ञानपीठ की संस्थापना एवं अपनी सहधर्मिणी स्वर्गीया श्रीमती रमा जैन के साथ उसकी कार्य-प्रवृत्तियाँ, विशेषकर उसके द्वारा प्रवर्तित भारतीय भाषाओं की सर्वश्रेष्ठ सृजनात्मक साहित्यिक कृति पर प्रति वर्ष एक लाख रुपये की पुरस्कार योजना की परिकल्पना और तब तक 11 पुरस्कारों के निर्णयों की कार्यविधि में अतन्वरीत रुचि एवं मार्गदर्शन, उनकी दूरदर्शिता एवं क्षमता के बहुप्रशंसित अमर प्रतीक हैं। ज्ञानपीठ के अतिरिक्त आपने साहू जैन ट्रस्ट, साहू जैन चैरिटेबल सोसायटी तथा अनेक शिक्षण संस्थाओं की भी स्थापना की। आप वंशाली प्राकृत जैन धर्म एवं अहिंसा शोध संस्थान, प्रखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी, बम्बई, अहिंसा प्रचार समिति, कलकत्ता, प्रखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद् एवं मारवाडी रिलीफ सोसायटी के अध्यक्ष रह चुके थे।

भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव के कार्यक्रमों को सफल बनाने में आपका सर्वाधिक योगदान रहा है। जैन समाज के चारों सम्प्रदायों की ओर से गठित भगवान महावीर 2500 वा निर्वाण महोत्सव महासमिति के आप कार्यध्यक्ष थे। भारत के सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज की ओर से गठित आल इण्डिया दिगम्बर भगवान महावीर 2500 वां निर्वाण महोत्सव सोसायटी एवं बंगाल प्रदेश क्षेत्रीय समिति के अध्यक्ष के रूप में आपने देशव्यापी सांस्कृतिक चेतना को जागृत किया। भारत सरकार द्वारा गठित राष्ट्रीय समिति और बिहार तथा बंगाल की समितियों में भी आपने महत्वपूर्ण (क्षेत्र पृष्ठ ५१ पर)

सरस्वती के परम उपासक

□ डा० कस्तूर चंद कासलीवाल, जयपुर

साहू शान्तिप्रसाद जी जैन देश एवं समाज के उन श्रेष्ठ रत्नों में से थे जिनकी सेवाएं सदा अविस्मरणीय रहेंगी तथा जिनका नाम भविष्य में उदाहरण के रूप में लिया जाता रहेगा। साहू जी समाज के गौरव थे। उनके आश्रय में समस्त जैन समाज निश्चिन्त था। वे एक महान् व्यक्ति थे जिनके हृदय में समाज का दर्द छिपा हुआ था। इसलिये साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सभी गति-विधियों के विकास में उनका वरद हस्त रहता था। समाज में उनकी उपस्थिति ही कार्यकर्ताओं में उत्साह पैदा करने के लिये पर्याप्त मानी जाती थी। साहू जी समस्त दि० जैन समाज के एक मात्र प्रतिनिधि थे, इसलिये जिस भी उत्सव, मेले एवं कार्यक्रम में साहू जी सम्मिलित हो गये तो ऐसा माना जाता था कि मानो पूरे समाज का ही जंमे समर्थन मिल गया हो।

साहू शान्तिप्रसाद जी जैन ने समाज पर 30-40 वर्षों तक एक छत्र शासन किया। उन्होंने समाज को नयी दिशा प्रदान की, कार्य करने की शक्ति दी तथा संकट के समय उसका जितना प्रकार साध दिया वह सब इतिहास की आज प्रमूख धरोहर हो गयी है। उनके निधन से समाज ने वास्तव में अपना बहुमूल्य रत्न खो दिया है जिसकी पूर्ति निकट भविष्य में सम्भव नहीं लगती। यदि सामाजिक इतिहास के पृष्ठों को खोल कर देखा जाए तो हमें मालूम पड़ेगा कि ऐसा उदारहृदय समाजसेवी व्यक्तिगत संकड़ों वर्षों में नहीं हुआ।

साहू जी से मेरी प्रथम भेंट कलकत्ता महानगरी में बेनगच्छिया में आयोजित जैन साहित्य एवं कला प्रदर्शनी में कोई 28-30 वर्ष पूर्व हुई थी। उस समय उन्होंने जिस तन्मयता से जैन ग्रंथों में रुचि ली थी तथा अपने भाषण में उनके महत्व पर प्रकाश डाला था, उससे मेरे मन पर गहरी छाप पड़ी थी। उसके पश्चात् देहली में आयोजित

एक बृहद् जैन प्रदर्शनी के अवसर पर उनसे भेंट हुई थी। देहली में भी उन्होंने प्रदर्शनी के आयोजन में पूरी रुचि ली थी तथा वहां प्रदर्शित प्रत्येक वस्तु का उन्होंने बारीकी से अध्ययन किया था। उन्होंने उस समय जयपुर के प्राचीन भक्तामर स्तोत्र की सवित्र पाण्डुलिपि की अपनी ओर से छापने का प्रस्ताव रखा था लेकिन जयपुर के मन्दिर के व्यवस्थापकों ने उसे स्वीकार नहीं किया और वह बहुमूल्य ग्रन्थ प्रकाशित होने से रह गया।

जयपुर में भगवान महावीर की 5 सौ वें निर्वाण महोत्सव की मीटिंग में सम्मिलित होने के लिये वे कितनी ही बार आये। जयपुर में उनका अन्तिम आगमन उनकी मृत्यु के कुछ ही समय पहिले हुआ था। वे भाद्रपद मास में बापूतनगर के पार्वनाथ जैन मण्डल द्वारा आयोजित युवा सम्मेलन में कुछ समय के लिये आये थे और युवकों को सामाजिक सेवा में जुट जाने की प्रेरणा दे गये थे। वह सम्भवतः उनका अन्तिम संदेश था।

साहू जी को साहित्य से कितना प्यार था, उसके प्रकाशन में उनकी कितनी रुचि थी, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उनका भारतीय ज्ञानपीठ जैसे संस्था का संचालन है। उन्होंने संकड़ों जैन ग्रन्थों के उद्धार कर महान पुण्य भर्जन किया। वे जीवन भर जिनवाणी के प्रकाशन एवं उसके प्रचार-प्रसार में मगपिन रहे। वास्तव में गत संकड़ों वर्षों में उन जैसा जिनवाणी का प्रचारक नहीं हुआ।

उन्होंने भारतीय ज्ञानपीठ के माध्यम से ही साहित्य सेवा नहीं की किन्तु अन्य प्रकाशन संस्थाओं को भी उन्होंने खूब आर्थिक सहायता दी है। वीर सेवा मन्दिर द्वारा प्रकाशित जैन लक्षणावली के प्रकाशन में भी उनका पर्याप्त आर्थिक योगदान रहा। मैंने स्वयं ने समस्त हिन्दी जैन साहित्य के प्रकाशन के लिये जयपुर में जब श्री महावीर

ग्रन्थ प्रकाशनी की स्थापना की तथा उसकी योजना एवं नियम जब साहू जी को भेजे और उनसे संस्था का संरक्षक बनने के लिये निवेदन किया तो उन्होंने साहित्य प्रकाशन की योजना की प्रशंसा करते हुए तत्काल उसका संरक्षक बनना स्वीकार कर लिया। इसलिये पता नहीं उन्होंने कितनी प्रकाशन संस्थाओं को जैन साहित्य के प्रचार प्रसार में योग दिया।

जैन साहित्य एवं जैन समाज की सेवा के लिये उनके हृदय में गहरे भाव थे। भगवान महावीर के 2500वें निर्वाण महोत्सव का जिस कुशलता एवं सजगता में संचालन किया तथा समस्त जैन समाज को एकसूत्र में बांधने का जो प्रशसनीय कार्य किया वह साहू जी जैसे व्यक्ति से ही सम्भव था और वह सब उनके वर्षों की साधना का फल था। स्वास्थ्य खराब होने एवं धर्मपत्नी श्रीमती रमा जी का वियोग होने पर भी उन्होंने जिस असाधारण साहस एवं सूझबूझ से काम लिया, सारे देश

का एक बार ही नहीं, कितनी ही बार दौरा किया तथा गरीब से लेकर श्रीमती तक जन सेवा के भाव-भरे, वह सब उनके महान् व्यक्तित्व का परिचायक है। जयपुर में आयोजित एक सभा में वे इतने द्रवीभूत हो गये कि सारी सभा के ही आंसू बह निकले थे।

साहू जी पुरातत्व के प्रेमी थे। प्राचीन मन्दिरों के जीर्णोद्धार में उन्होंने विशेष रुचि ली। दक्षिण भारत एवं बुंदेलखण्ड के कितने ही मन्दिरों का उन्होंने जीर्णोद्धार करवा कर मन्दिरों की कला एवं सम्पत्ति को नष्ट होने से बचा लिया।

साहू जी के कार्यों का वर्णन करने के लिये किसी एक बड़े ग्रन्थ की आवश्यकता है जिसमें उनके जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत उसके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर सांगोपांग वर्णन रहे। तभी जाकर हम उनके पूरे कार्यों से समाज को एवं आगे आने वाली पीढ़ी को परिचित करा सकेंगे।



(पृष्ठ ४६ का शेषांश)

पदों का दायित्व तन्मयता से सम्भाला। निर्वाण महोत्सव के बहुमुखी कार्यक्रमों को आपने चिन्तन, उत्साहपूर्ण नेतृत्व और मुखर श्रद्धा के प्रत्यक्ष प्रभाव से उपलब्धियों का जो वरदान दिया, वह जैन समाज के इतिहास में अविस्मरणीय रहेगा।

दिगम्बर जैन समाज की उत्कट आकांक्षा के अनुरूप आपने अखिल भारतीय स्तर पर दिगम्बर जैन समाज के एक मंच 'दिगम्बर जैन महासमिति' के गठन का निर्णय कर दिगम्बर जैन महासमिति की स्थापना की। उसके संस्थापक अध्यक्ष का दायित्व वहन किया तथा पगपग पर समाज का मार्ग दर्शन किया।

समाज ने अपनी श्रद्धा स्वरूप आपको 'दानवीर' तथा 'आवकशिरोमणि' की उपाधियों से सम्मानित

किया। अन्तिम क्षणों में साहू जी के परिणाम इतने निर्मल हो गये थे कि उन्होंने अपने पुत्र श्री अशोक कुमार जैन से इच्छा व्यक्त की थी कि वे स्वस्थ होने के उपरान्त हस्तिनापुर में मुनिश्री ज्ञान्ति सागर जी महाराज के निर्देशन में शेष जीवन व्यतीत करेंगे। महाराजश्री जब जैसी वीक्षा उचित समझेंगे दे देंगे। आज उनके वे शब्द हम फिर सुनने के लिए कितने आतुर हैं। हमें चाहिए कि हम उनकी इस पुण्य तिथि को साकार करने के लिये, उनके द्वारा निर्देशित कार्यक्रम को पूरा करने के लिये दिगम्बर जैन महासमिति को संगठित रूप दें, उसे सब प्रकार से समर्थ और क्रियाशील बनायें।

एफ 94, जवाहर पार्क वेस्ट

लक्ष्मीनगर, दिल्ली-110092



आधुनिक खारवेल

□ श्री बिशन चन्द जैन, शिकारपुर

श्री साहू शान्ति प्रसाद जी जैन से मेरा बहुत सुपरिचय था। जिस समय मैं सन् 1920 में लगभग 35 वर्ष तक बराबर “जैन मित्र मंडल देहली” का सभामुद् व मंत्री रह कर हर प्रकार से देश-विदेशों में जैन धर्म प्रचार का कार्य कर रहा था व भा० दि० जैन परिषद आदि अन्य जैन संस्थाओं का भी सभासद और मंत्री रह कर धार्मिक और सामाजिक कार्य कर रहा था, उस समय रिटायर होने के बाद दिनांक 14 मई, 1959 को साहूजी के दफ्तर “साहू सीमेट सरविमेज, नई देहली” में मुझे ओवरसियर के पद पर नियुक्त किया गया और दिनांक 5 नवम्बर, 1959 से मार्च, 1969 (10 वर्ष) तक साहू जी की ओर से म० प्र०, उ० प्र० और राजस्थान के कुछ प्राचीन दि० जैन तीर्थक्षेत्रों के मंदिरों के जीर्णोद्धार के कार्यों तथा “साहू जैन संग्रहालय” आदि के निर्माण कार्य को, नई देहली में 6 सरदार पटेल रोड पर साहूजी की कोठी और नजीबाबाद में साहूजी के भवन के निर्माण आदि के कार्यों को अपनी देखरेख में कराता रहा। इस कारण साहूजी के प्रति मेरी और अधिक जानकारी बढ़ गई, और उनसे मेरा बराबर पत्र-व्यवहार होता रहता था।

श्री साहू शान्ति प्रसाद जी जैन एक माने हुए नाग-गिरामी, भारतवर्ष की दि० जैन समाज के धार्मिक व्यक्ति थे। वे जैनियों के सरताज थे। उनका 66 वर्ष की आयु में ता० 22 अक्टूबर, 1977 (गुरुवार) को नई देहली में इस नाशवान संसार से निधन हो गया। जिस समय उनके निधन के समाचार समाचार पत्रों (अखबारों) में पढ़े गये, संसार के कोने-कोने में शोक की लहरे फैल गई। हृदय की अत्यन्त दुःख हुआ और उनके प्रेम तथा उनके कार्यों की बराबर याद आती रही। स्थान-स्थानपर उनके निधन पर शोक सभाये होने लगी।

उनका जन्म सन 1911 ई० में नजीबाबाद (बिजनोर)

उ० प्र० में एक ऐसे प्रतिष्ठित जैन परिवार में हुआ था जो देश की भलाई और अपनी उदारता के लिये विख्यात था। वे श्री साहू दीवानचन्द जी जैन के तेजस्वी व होनहार पुत्र थे। उनकी माता का नाम श्रीमती मूर्ति देवी था। साहू शान्तिप्रसाद जी जैन ने नजीबाबाद में अपनी शुरू की शिक्षा पूरी करने के बाद आगरा विश्वविद्यालय से बी० एस-सी० की परीक्षा प्रथमश्रेणी में पास कर उन्होंने साहित्यिक, धार्मिक आदि पुस्तकों का अध्ययन कर योग्यता प्राप्त की। उन्होंने अपनी सूझ-बूझ से व्यापार में उन्नति करने के विचार से विकसित देशों का दौरा किया। वहाँ जाकर उन्होंने भारत में विकने वाली चीजों तथा वहाँ की चीनी, कागज, वनस्पति, पटसन, रसायन, खाद, सीमेट आदि की फैक्ट्रियों का भी अध्ययन किया। भारत में आकर उन्होंने अपनी सूझ-बूझ से भारत के कुछ शहरों में रोहतास इंडस्ट्रीज, जूट मिल्स, साहू केमिकल, रसायन खाद, श्री कृष्णा ज्ञान उदय, चीनी, अशोक सीमेट, अशोक स्टील, दी जयपुर उद्योग लि०, बगाल कोट सीमेट, कोलाईर्ज कम्पनी नाम की फैक्ट्रियों का निर्माण किया और उनके द्वारा चीजे तैयार करा-करा कर उनको मार्केट में पहुँचाया तथा इस प्रकार विपुल धन पैदा किया, जिससे वह उद्योगपति बड़े बने। यह कोई मामूली काम न था हर एक व्यक्ति के बूते का काम न था। इससे उन्होंने अपने को और अपने परिवार को ऊँचा उठाते हुए अपना और अपने पुरुषों का नाम संसार में रोशन किया।

खारवेल अपनी सूझ-बूझ से उन्नति करते-करते महाराजा खारवेल की पदवी प्राप्त कर गरीब परवर, दयालु कहलाये तथा अपनी 35 हजार सेना आदि की तकलीफों का ध्यान रखते हुये उनकी सहायता करते रहे और नवीन-नवीन मंदिरों के निर्माण कराने की अपेक्षा वे पुराने पुराने के निर्माण करायें हुये प्राचीन मंदिरों के जीर्णो-

द्वार के कार्यों को कराने में अधिक धर्म-पुण्य मानते थे। इससे पुरखों के बनाये हुये प्राचीन मंदिर व प्राचीन कला संकड़ों हजारों वर्षों तक सुरक्षित रह सके और अनेक वाली पोढ़ी उनके दर्शन कर, ज्ञान प्राप्त कर जैन धर्म की उन्नति करती हुई उसे ऊंचा उठा सकी। इसी प्रकार, श्री साहू शांति प्रसाद जी जैन भी इन्ही विचारों के धार्मिक व्यक्ति थे। वे दानी, समाज सेवक, सच्चे प्रेमी, गरीब परवर, उदार हृदय, सब मनों के प्रति आदरभावी धर्मात्मा थे। उन्हें अनेक धन का मान न था। बल्कि वे अपने हजारों की संख्या में कर्मचारियों को प्रसन्न रखने पर ध्यान रखते थे। साहू जी सुधारक विचारों के थे। रूढ़िवादी न थे। वे मा० वर्ष० दि० जैन परिषद के हामी (सहयोगी) थे। बहुत-सी जैन संस्थाओं के संरक्षक व अध्यक्ष थे। उन्होंने नजीबाबाद में साहू जैन कालज, मूर्ति देवी सरस्वती इटर कालेज और "मूर्ति देवी कन्या इटर कालेज" की स्थापना की, जिससे उनका नाम अमर रहेगा। साहूजी भी महाराजा खारवेलकी भाँति नवीन नवीन मंदिरों के निर्माण कराने की अपेक्षा प्राचीन दि० जैन तीर्थक्षेत्रों आदि के मंदिरों के जीर्णोद्धार के कार्यों के वास्ते दान देने में अधिक धर्म व पुण्य मानते थे।

अनेक व्यक्ति प्राचीन मंदिरों के होते हुये भी उसी स्थानपर गजरथ की प्रथा को लेकर लाखों रुपया व्यय करके नवीन-नवीन मंदिरों का निर्माण कराते रहते हैं लेकिन म.प्र. और उ० प्र० के प्राचीन क्षेत्रों आदि स्थानों में संकड़ों प्राचीन जैन मंदिर खंडित पड़े हैं और हजारों की संख्या में प्राचीन मूर्तियाँ जंगली आदि स्थानों में बिखरी पड़ी हैं तथा बहुत से शिला लेख जमीन में दबे पड़े हैं। उनकी सुरक्षा का वहाँ की जैन समाज को कुछ भी ध्यान नहीं आता। साहूजी इन विचारों के नहीं थे। वह तो प्राचीन मंदिरों के जीर्णोद्धार और प्राचीन मूर्तियों की सुरक्षा कराने के पक्ष में थे। इसका कारण इस प्रकार है कि म० प्र० और उ० प्र० के कुछ प्राचीन दि० जैन तीर्थक्षेत्रों के मंदिरों पर पुरातत्व विभाग की ओर से जो चौकीदार रहते थे उनका संतोषजनक इंतजाम न होने के कारण वहाँ के प्राचीन दि० जैन तीर्थ क्षेत्रों के मंदिरों से अर्थात् देवगढ़, दुधई, चांदपुर, जहाजपुर,

नेमनाथ की बारात (उ० प्र०) और बूढ़ी चंदेरी, गोला-कोट (म० प्र०) के मंदिरों से बराबर मूर्तियाँ व मूर्तियों के सिर काट काट कर चोर ले जाते रहे।

इस घटना की सूचना सन् 1958 में मिली। तब भारत-वर्ष की जैन समाज में सर्वत्र क्षोभ फैल गया और यह भी मालूम हुआ कि एक वर्ग कुछ वर्षों से इन क्षेत्रों में प्राप्त जिन मूर्तियों की सुन्दर कला के कारण उनके सिर काट-काट कर विदेशियों को बेचकर अच्छी धनराशि प्राप्त कर रहा है और उसने इस कार्य को अपना व्यापार बना लिया है। सन् 1959 ई० में अखिल भारतीय जैन कन्वेंशन की गई जिसके द्वारा भारत, मध्य प्रदेश व उत्तर प्रदेश सरकारों से अनुरोध किया गया कि वे इन दुखद घटनाओं को रोकें तथा अपराधियों को दण्ड दें। कन्वेंशन के सभापति उद्योगपति साहू शांति प्रसाद जी जैन ने इस घटना की देखते हुये उपरोक्त प्रांतों के प्राचीन तीर्थक्षेत्रों के मंदिरों के जीर्णोद्धार के कार्यों के वास्ते तीन लाख (3,00,000) रुपए की धनराशि देने की घोषणा की, तथा जैन पुरातत्व कमेटी स्थापित की गई और यह निश्चय किया गया कि इस द्रव्य से श्री राजेन्द्र कुमार जैन की देखरेख में क्षेत्रों के जीर्णोद्धार का कार्य कराया जाये तथा मूर्तियों की सुरक्षा का भी प्रबंध किया जाये। अचानक गोलाकोट (खनिया घाटा), म० प्र० के प्राचीन तीर्थक्षेत्र के मंदिर में से एक व्यक्ति रामगोपाल मुनार एक प्राचीन सुन्दर मूर्ति का सिर काटता हुआ पकड़ा गया। उसके साथ दूसरा आदमी गोरघन भी था। दोनों को खनियाघाटा की पुलिस ने गिरफ्तार किया और चोरी का पता लगाने के वास्ते दोनों अपराधियों को देहली लाई। रामगोपाल मुनार देहली में धर्मपुरा मोहल्ला के एक मकान में रहता था। पुलिस ने उसके मकान की तलाशी ली तो यह भी पता लगा कि रामगोपाल, शिवचरण बन्ना, सुन्दर नगर, नई देहली की मूर्तियाँ बेचता है। तब पुलिस ने शिवचरण बन्ना की सुन्दर नगर, नई देहली की फर्म पर छापा मारा। बन्ना की फर्म में से पुलिस को कुछ मूर्तियाँ और कुछ मूर्तियों के सिर कटे हुये मिले। पुलिस ने शिवचरण बन्ना को भी गिरफ्तार कर लिया। तीनों अपराधियों के खिलाफ अदालत में मुकदमा चालू कर दिया गया। साहूजी

सहयोग से व जैन समाज की हर प्रकार की कोशिशों से भाँसी न्यायालय ने अपराधियों को सजा के आदेश दिये ।

साहूजी ने म० प्र० व उ० प्र० के प्राचीन तीर्थक्षेत्रों के मंदिरों के जीर्णोद्धार के कार्यों को कार्यान्वित करने के वास्ते अपने दफ्तर "साहू सीमेंट सर्विसेज", नई देहली से दिनांक 5 नवम्बर, 1959 ई० को श्री भार० सी० पारिख ऐडिशनल चीफ इंजीनियर, श्री बिशनचंद जैन ग्रावरसियर तथा श्री उलाल (फोटोग्राफर टाईम्स आफ इंडिया नई देहली) से एक टेक्निकल पार्टी को प्राचीन क्षेत्रों का निरीक्षण और सर्वेक्षण करने के वास्ते ललितपुर भेजा । टेक्निकल पार्टी ने लगभग 1 1/2 महीने में बड़ी लगन के साथ रातदिन एक करके 51 प्राचीन क्षेत्रों का निरीक्षण और सर्वेक्षण किया । सब चीजों को नोट किया नक्शे बनाये, जीर्णोद्धार व नवोन साहू जैन संग्रहालय आदि कार्यों की लागत के तखमीने (Estimates) बनाये, हर क्षेत्र की मूर्तियों आदि के फोटो तैयार कराकर हर क्षेत्र के अलग-अलग एलबम तैयार करवाये तथा क्षेत्रों की रंगीन फिल्म तैयार करवाई जिनको साहूजी ने बहुत पसन्द किया । इन फिल्मों को नई देहली में लाल मंदिर और पपोरा क्षेत्र आदि स्थानों पर दिखाया गया ।

उपरोक्त क्षेत्रों का निरीक्षण और सर्वेक्षण करने में बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ी जबकि तमाम क्षेत्रों के मार्ग व क्षेत्र भयानक जंगलों, वनों, झाड़ियों, नदी-नालों, पहाड़ों, खूखार जानवरों, (शेर आदि जानवरों) और डाकुओं से घिरे हुये थे तथा छोड़ो पर जाने-आने के मार्ग बड़े ही खराब, भयानक और खतरनाक थे । ऐसे स्थानों पर जाना और आना कोई मामूली काम न था । मौत और जिन्दगी का सबाल था । कई बार देवगढ़, पचराई, धोवनजी और नंनागिर आदि क्षेत्रों पर खतरे की खबर मिलने पर पास के गाँवों में भागना पड़ा था । भगवान के नाम और णमकार मंत्र के जाप के द्वारा सब कार्य सिद्ध हुये । उपरोक्त क्षेत्रों की सब रिपोर्टें साहूजी के सम्मुख रखीं । उन्होंने कुल क्षेत्रों में से देवगढ़, बानपुर (उ० प्र०), कन्धार हिल (चदेरी), पचराई (खनियाधाना), बोवनजी,

द्रोणगिर (म० प्र०), पपोरा, घाहार (टीकमगढ़) और चितौडगढ़ किले का दि० जैन मंदिर कुल 9 क्षेत्रों का जीर्णोद्धार, यात्रियों की सुविधा के लिये नवीन सड़कों व देवगढ़ में मूर्तियों की सुरक्षा के लिये एक नवीन साहू जैन संग्रहालय का निर्माण कराने की स्वीकृति दी । सब उपरोक्त क्षेत्रों का कार्य प्रोग्राम के मुताबिक श्री विशनचंद जैन ग्रावरसियर की देखरेख में कराया गया । ये सब कार्य सन् 1960 से मार्च, सन् 1968 तक पूरे हुये । सब कार्यों में लगभग 4 लाख रुपये व्यय हुये ।

साहूजी की यह भी योजना थी कि मूर्तियों की सुरक्षा के वास्ते एक-एक साहू जैन संग्रहालय ललितपुर, चन्देरी, खनियाधाना और खजुराहो में भी निर्माण कराया जाये । लेकिन यह कार्य इस कारण से न हो सका कि इन क्षेत्रों के सरकारी अधिकारियों ने क्षेत्रों की जैन समाज को वहाँ की बिखरी हुई प्राचीन मूर्तियों को उठाने की इजाजत नहीं दी । इसके अतिरिक्त, साहूजी इसी प्रकार दूसरे दि० जैन मंदिरों के जीर्णोद्धार के कार्यों के वास्ते दान देते रहते थे । समय-समय पर अपनी मौजूदगी में देहली के चांदनी चौक के लाल किले के सामने के प्राचीन जैन मंदिर (जो लाल मंदिर या उर्दू के जैन मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है) उसके लिये, अहिक्षेत्र के जैन मंदिरों के लिये तथा अयोध्याजी के जैन मंदिर आदि के जीर्णोद्धार के लिये लाखों रुपये दान में देते रहते थे जिससे वह पुण्य के भागी बने । साहूजी जैनियों के सरताज थे । उनमें बहुत से गुण थे । उनके गुणों का आदर करते हुये दिसम्बर, सन् 1970 में श्रीमान साहू शांति प्रसाद जो जैन को देहली में एक भव्य समारोह में श्रावक-शिरोमणि की पदवी दी गई । साहूजी का जैसा नाम था वैसे ही उनमें गुण भी थे । वे शांतस्वभावी थे । जब कभी वह अपने नवीन भवन का निरीक्षण करते थे अकेले ही शांति के साथ करते थे और उसकी अच्छाई और बुराई को देखते थे ।

जिस प्रकार अक्सर बड़े-बड़े धनवान् कानों के कच्चे होते हैं, साहूजी कानों के कच्चे न थे । वह तो सच्चे प्रेमी और उसुलों के पाबन्द थे । जो व्यक्ति उनसे किसी की बुराई या चुगली करता था वे उस चुगलखोर और शिका-यत करने वाले की बातों का यकीन नहीं करते थे, जब

तक उन बातों की अच्छी तरह से छानबीन न कर लेते थे। छानबीन करने से जिसकी गलती होती थी उसके विरुद्ध उचित कार्यवाही करते थे। मुझे उनकी इस प्रकार की बातों का खूब अनुभव है। अक्सर झूठी चुगली करने वालों और शिकायत करने वालों को अपने स्वार्थवश नीचा देखना पड़ा। साहूजी मुनि श्री शांति सागरजी, मुनि श्री देशभूषण जी, मुनि श्री विद्यानन्द जी और मुनि श्री गणेशकीर्ति जी आदि साधुओं के सच्चे भक्त थे। वे विद्वानों, पंडितों और धार्मिक-सामाजिक कार्यकर्ताओं का भी आदर करते थे। भारतीय ज्ञानपीठ के द्वारा जैन धर्म के शास्त्र, पुस्तकें, क्षेत्रों के इतिहास व नक्शे और नवीन अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखवा-लिखवा कर प्रकाशित करा कर देश-विदेशों में प्रचार कराते थे जिससे जैन धर्म की उन्नति होती थी। साहूजी सबसे अच्छी पुस्तक लिखने वाले विद्वान की ज्ञान-पीठ द्वारा हर साल एक लाख रुपये का पुरस्कार दिया करते थे। साहू जैन संस्थाओं ने देश की जो सेवाएँ की हैं वे सर्वविदित हैं। साहूजी भारतीय राष्ट्र के सेवक व हमदर्द भी थे। भारत सरकार उनका आदर करती थी।

जिस समय सन 1965 ई० में भारत और पाकिस्तान की लड़ाई छिड़ी उस समय देहली में परेड के मैदान में जैन समाज की ओर से श्री साहू शांति प्रसाद जैन का सभापतित्व में एक आम सभा हुई। श्री साहूजी ने जैन समाज की ओर से भारत के प्रधान मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री जी को रुपये की एक थैली भेंट की, और साहूजी की अपील पर बहुत-सी जैन समाज की स्त्रियों ने अपने-अपने जेवर उतार उतार कर भारत के प्रधान मंत्री को भेंट किए। मुनि श्री देशभूषण जी महाराज ने भारत के प्रधान मंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री जी के सिर पर हाथ रखकर उनको आशीर्वाद दिया। साहूजी भगवान महावीर 25सौवां निर्वाण महोत्सव सोसायटी के अध्यक्ष थे। उस समय उनकी कोशिशों से भारत की भूतपूर्व प्रधान मंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने भगवान महावीर के निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष्य में उपरोक्त सोसायटी व भारत की जैन समाज के धार्मिक कार्यों में हर प्रकार की सहायता की। साहूजी को जैन धर्म को ऊँचा उठाने के प्रति बहुत लगन रहती थी। उन्होंने भगवान महावीर के निर्वाण महोत्सव को सफल बनाने और हर प्रकार से जैन धर्म प्रसार के लिये अनेक कार्यों का प्रचार करते हुये एक कार्य यह भी किया कि उन्होंने भारतवर्ष की जैन समाज से अपील की कि हर घर में जितने व्यक्ति हों, हर व्यक्ति एक-एक पैसा

प्रति दिन गुन्जक में डानकर जमा करे और इस धन को सोसायटी के पास भेजे। मैंने भी इस अपील के मुताबिक 312 रु० 50 पैसे जमाकर श्री सुकुमार चंद जैन महा मंत्री के पास भेरे और इसी उपलक्ष्य में जीर्णोद्धार आदि कार्य कराये। इस प्रकार इस अपील से जैन समाज को और से हजारों की संख्या में धन राशि प्राप्त हुई। यह भी एक महान कार्य था। साहू जैन संस्थाओं ने देश की जो सेवाएँ की हैं वे सर्वविदित हैं। इससे साहू जी का नाम अमर रहेगा। वे भारत के प्रमुख उद्योगपति तथा भारतवर्षीय जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष, तीर्थभक्त, आबक शिरोमणि, समाज सेवक, दानवीर साहू श्री शांति प्रसाद जी जैन की प्रेरणा से उनकी धर्मपत्नी तथा साहू जैन ट्रस्ट की अध्यक्ष श्रीमती रमा जैन जैसी महान् आत्माओं ने उपरोक्त तीर्थ स्थानों को प्रकाश में लाने तथा उनका जीर्णोद्धार व मूर्तियों की सुरक्षा के लिये "साहू जैन संग्रहालय", यात्रियों आदि की सुविधा के लिये पहाड़ों वनों आदि की कटाई कराकर क्षेत्रों में आने-जाने के पक्के मार्गों का निर्माण कराकर जो महान कार्य कराया है वह सराहनीय है, जो सैकड़ों व हजारों वर्षों तक उनकी ध्वज कीर्ति को प्रकट करता रहेगा। आपके द्वारा अनेक संस्थाएँ स्थापित हैं। अनेक गरीब, अपाहिज व अन्य अनाथ आश्रम सहायता पा रहे हैं तथा अनेक विद्वार्थी छात्रवृत्ति प्राप्त कर अपना जीवन सफल बना रहे हैं एवं भारतीय ज्ञानपीठ के द्वारा जो जैन धर्म प्रचार आदि का कार्य हो रहा है वह सब आपके किए हुये बेमिाल कार्य है। आप जैसे उदार हृदय महामानव संसार में बिरले ही होते हैं।

साहू जी के निधन से भारत की जैन समाज का सर-ताज इस संसार से चला गया जिसमें भारत की जैन समाज को बड़ी भारी क्षति हुई है और उनके चले जाने से, उनके स्थान की पूर्ति असंभव है। उनके निधन पर जितना भी शोक मनाया जाये थोड़ा है। लेकिन हृदय में शांति लाने से ही सुख की प्राप्ति होती है।

मैं सच्चे हृदय से उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और श्रीजी से प्रार्थना करता हूँ कि स्वर्गीय की आत्मा को शांति प्राप्त हो।

□ □ □

रिटायर्ड प्रोविसियर
भू० पू० मंत्री, जैन मित्र मंडल, देहली।
शिकारपुर (बुलन्दशहर) उ० प्र०

अहिंसा : विश्वधर्म

□ उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द

‘बाणी सिव परमेष्ठी सध्वं ह विष्णु चतुर्मुहो बुद्धो ।
अपोवि य परमपो कर्मविभूषको य होइ फुडं ॥’
अहिंसा भगवान् महावीर की दिव्य ध्वनि है,
बौद्ध तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट सम्यग् धर्म है और स्याद्-
बाद सिद्धान्त को मानने वाले कोटि-कोटि जनों का धर्म
है। इन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि अहिंसा प्राणिमात्र
का आत्मधर्म भी है। यह वस्तुस्वरूप होने से सभी को
प्रिय है। ‘वैरं मज्झं ण केणवि’ कहन बात तीर्थंकर विश्व
के सम्पूर्ण जीवाजीव से निर्वैर थे। सब मानवों से, विशेष
कीट-पतंगों से, विश्व के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रणुमहत् पर-
माणु पुद्गलों से असीम करुणामय अहिंसक व्यवहार करना
अहिंसा-धर्म का आरम्भिक पाठ है। तीर्थंकरों और उनके
अनुयायियों ने अहिंसा को चारित्र्यरूप देकर मानव जाति
का महान् उपकार किया है। अपने अहिंसामूलक आचार
द्वारा अर्थभूमि के कणकण को अपनी स्वेच्छया संचार-
शील चरणविभूति से निरन्तर पवित्र करने वाले जैना-
चार्यों और मुनियों ने मानव को हिंसक पशुवृत्ति से ऊपर
उठाकर मानवता की दयामयी मणिशिला पर प्रतिष्ठित
किया है। अहिंसा, माता की गोद के समान, समस्त
प्राणियों को अभय प्रदान करने वाली है। इस शब्द की
मधुरता को चलकर प्राणियों के परस्पर वैरभाव का
उपशम होता है। वैरभाव की निवृत्ति से हृदय में शान्ति
की शीतल धारा प्रवाहित होती है। शान्ति की इस जल-
धारा में अवगाहन करने वाला विश्व ही इस प्रकार
अहिंसा परम्परा के संबन्ध से तत्त्वचिन्तापरिणामी मोक्ष के
लिए मुख्य साधन है। अहिंसा के इस आत्मदर्शनमूलक
धर्म का प्रभाव विश्व के सभी धर्मों पर छाया हुआ है।
वैदिक धर्म, जिसमें यज्ञानुष्ठान विधि में हिंसा की जाती
रही, अहिंसा धर्म के प्रभाव से बड़ा ‘मा हिंस्या’ (हिंसा
मत करो), ‘निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव’ (जो
तत्त्वचिन्ता की ओर प्रवृत्त हो सकता है, और सब प्राणियों
में वैर-रहित है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है), ‘अहिंसा-
प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः’ (अहिंसा की प्रतिष्ठा
रखने से अहिंसक के पास वैर-त्याग की भावना का उदय

होता है) इत्यादि जीवन सूत्र हिन्दू शास्त्रकार लिखने
लगे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अक्रोध, ब्रह्मचर्य इत्यादि
धर्म के बस लक्षणों में वैदिकों ने ‘अहिंसा’ को धर्म का
स्वरूप माना। यह अहिंसाधर्म की महान् विजय थी।
अहिंसा धर्म की प्रभावना के परिणामस्वरूप भारत में जैन
धर्म के अनुयायियों की विशाल सख्या थी। आठवें के
राज्यकाल में चार करोड़ जैन थे।

ईसाई मिशनरियों द्वारा दुर्गम अगम आदिम क्षेत्रों,
पर्वतीय प्रदेशों और पिछड़ी-उपेक्षित जातियों में धर्म धम-
कर अस्पताल, स्कूल आदि बनाकर ग़रीब मानव सेवा भाव
भी अहिंसा धर्म की ही प्रेरणा है।

सम्यक् चारित्र्य ही धर्म है। यह कागज पर नहीं जीवन
में अंकित करना होता है। जीवन में उतारे बिना कागज में
रहा धर्म प्राणी को त्राण नहीं देता। धर्म की रक्षा जीवन
को तन्मय बनाकर होती है। धर्म रक्षा के लिए उसके पालने
वालों की सख्या अधिकतम होनी चाहिए, क्योंकि ‘न धर्मो
धार्मिकविना’ (धार्मिकों के बिना धर्म किसम स्थित
होगा)। अतः विश्व के देशों में, प्रदेशों में, नगरों, गावों
और जातियों में धार्मिकता का शंख फूकने की परमावश्य-
कता है, ताकि उदार सर्वोदयी धर्म का विस्तृत रूप विश्व-
मय पर पुनः अवतीर्ण हो और ‘अत्ता चैव अहिंसा’,
(आत्मा ही अहिंसा है) के सन्देश के उद्घोषक तीर्थंकर
वृषभदेव के, जिन्होंने लोकसंग्रह एवं लोक-कल्याण की
भावना से ससार को दिव्य-ध्वनि का अमृतकलश पिलाया,
उसी लोकधर्म और आत्मधर्म के अमृतस्थान से हिंसा,
वैर, कलह, शिथिलाचार आदि दुर्जात आधि-व्याधियों का
शमन किया जा सके और विश्वशान्ति के घूमिलहुए चित्रों
में भी नया रंग उमगाया जा सके।

‘चारित्तं खलु धम्मो’ की गूँज में से उठने वाली
अहिंसा की पदध्वनि को पहचानकर जनसाधारण
सम्मान से वित्त हो उठे, भूम उठे, इसके अनुरूप स्वयं
को बनाना धर्मभावना के लिए प्रथम मंगलपाठ है।
अशेष प्राणियों का हित-साधन करने वाले तीर्थंकरों के
अहिंसा-धर्म को ही सर्वोदय-तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त

हुई थी। धर्म का यश-नाद गुंजरित करते हुए श्रमण मनीषियों ने 'सर्वोदय तीर्थमिदं तत्रैव' यह वाक्य धर्म के राज-मार्ग पर संकेत-शिला के रूप में उत्कीर्ण कर दिया है। वह मंगलमय धर्म पुनः विश्व में सर्वोदय तीर्थ के रूप में पहचाना जाए, इसमें श्रावकों, त्यागियों और विशेष धर्मानुरागियों को मन, वचन और कर्म से सहयोग करना चाहिए। एक ग्रन्थ साहस लेकर, निष्ठा और संकल्पपूर्वक निर्वैराभाव द्वारा तप, त्याग, संयम, अपरिग्रह, शौच, अर्जव आदि उत्तम गुणों को राष्ट्र के वातावरण में अपने विशुद्ध आचरण से संक्रमित करने वाला जैन, भगवान महावीर का सच्चा संदेश-वाहक है। श्रावक और त्यागी, मुनि और आचार्य तथा समाज के शास्त्र धुरन्धर विद्वान इस और एक मन, एक प्राण से चेष्टावान होंगे तो यह दयामय धर्म विश्वमानव की भोली की शान्ति, अहिंसा, निर्वैरा, अपरिग्रह, शील आदि रत्नराशि से भर देगा।

भारत धर्मभूमि है। अनादि काल से यहां के धर्म-कृषक अपने चरित्र के क्षेत्र में धर्म के बीज बोते आये हैं। भारतीयों के चतुर्विध पुरुषार्थ में प्रथम पुरुषार्थ धर्म है। अहिंसा उसका प्रमुख स्तम्भ है। कहना होगा कि एक अहिंसा में ही अन्य सारे धर्म समाए हुए हैं। सारे भारत में पुरातन धर्म स्तम्भ इसी धर्म के कीर्तिस्तम्भ के समान खड़े हुए धर्म का संदेश सुना रहे हैं। साम्राज्य आये और गये, सम्राट बने और बिगड़े, पर कोई अमरत्व प्राप्त न कर सका; किन्तु धर्म-स्तम्भों पर उत्कीर्ण ये धर्म-लेख अब तक खड़े हैं और उनमें अभिहित धर्म सदा रहेगा। जो आत्मा का धर्म है, वह आत्मा की तरह अमर है।

देवानांप्रिय अशोक के गिरनार अभिलेख से प्राप्त यह 'अहिंसा' धर्म-सूत्र परस्पर, एक-दूसरे के सपीड़न को परास्त करने वाला है। यह परिभाषा उस धर्म के लिए सिद्ध हो सकती है, जिसमें पर-पीड़न को अधर्म माना गया है। जैन धर्म ही वह धर्म है जिसमें मन से भी परद्रोह-चिन्तन-पराङ्मुखता का विधान है।

प्रजापति ऋषभदेव ने इसी धर्म की प्रतिष्ठा लोक में स्थापित करते हुए इसके लौकिक तथा आत्मिक दो मार्ग—“कृषि करो या ऋषि बनो”—निर्धारित किये। प्रथम उन्होंने छह प्रकार की विद्याओं का प्रसार किया

जिससे लोक-जीवन समुन्नत बना और अन्त में श्रमण-वृत्ति धारण करते हुए पारमार्थिक श्रम-मार्ग की प्रतिष्ठा की। यह श्रमणत्व भी श्रम के महत्व को ही व्यक्त करता है।

उपलब्धियों के लिए श्रम करना आवश्यक है। मुनि सम्यक् श्रम करते हैं, अतः श्रमण संज्ञा से विभूषित होते हैं। बादलों से आच्छन्न सूर्य का प्रकाश पृथ्वी पर नहीं आता। जो मनुष्य होकर इसी भव में साध्य उत्तम फलों के लिए अपनी भुजाएं ऊपर नहीं उठाता, उसे उनसे वंचित रहना होगा। तप मनुष्य को सभी क्षेत्रों में समुन्नति देता है और उसे मनुज बनाता है, परन्तु तप से रहित को पतन का मार्ग देखना पड़ता है। 'तप' का विलोम शब्द 'पत' है जिसका अर्थ पतन है। अपने परिश्रम का परिणाम गुंजा और मणि दोनों में यदि मिल सकता है तो कौन बुद्धिमान मणि छोड़कर गुंजा ग्रहण करना चाहेगा ?

शरीर से मनुष्य होना अलग बात है और आचरण से मनुष्य होना अलग बात है। आज प्रायः से शरीर मनुष्य तो अति संख्या में हैं, इतने कि सरकार को उनके उदर-पूरण के लिए विदेशों से अन्न-याचना करनी पड़ती है, परन्तु उनमें आचारवान् मनुष्य बहुत अल्प संख्या में हैं। जब आचारवान् अधिक होंगे, तब राष्ट्र सर्वतोमुखी उन्नति करेगा। गणपूरकों ने कभी विजय प्राप्त नहीं की।

आज विश्वत्राण के लिए वृषभदेव का उपदेश सर्वाधिक सशक्त है। वीतराग परमदेव को अपना मार्गदर्शक स्वीकारने से युद्ध, हिंसा, भय, सीमोल्लंघन, परपीड़न इत्यादि विश्व को संश्रुत करने वाली आकुलताओं का प्रशमन सहज हो जाएगा। भगवान महावीर का लगभग ढाई हजार वर्ष पुराना वह स्वर, जिसका समाघोष उन्होंने विश्वमानव के लिए किया था, आज भी उतना ही प्राणवन्त है, जितना उनके अपने समय में था। वह समाघोष है 'मिती में सध्व भूदेसु'—मैं सम्पूर्ण विश्व का मित्र हूं, मेरा कोई वैरी नहीं है। यह घोषणा पुनः जन-जन के हृदय-पटल पर उत्कीर्ण करने योग्य है। स्मरण रखिए कि यह वैश्व-शासन की बीर-वाणी है, महावीर का सिंहनाद है, परन्तु नितान्त उत्पीड़न-रहित तथा विश्व को शान्ति प्रदान करने वाला।

जैन साधु की चर्या

□ डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच

स्वसंवेद्य समरसानन्द की सहज अनुभूति से समुत्प्लसित स्वरूप की साधना में रत स्वात्मा का अवलोकन करने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ सहज लिंग से आत्माराम में विचरण करने वाले परमार्थ में जैन साधु कहे गये हैं। जो केवल व्यवहार में विमूढ़ है, जिन्हें शुद्धात्मा के स्वरूप का परिचय नहीं है, केवल साधुता का वेश ही धारण किए हुए हैं, वे परमार्थ से जैन साधु नहीं हैं। जैन साधु ही उस शुद्धात्म-चर्या में तल्लीन रहते हैं, जिस परम तत्त्व तथा सत्य के साक्षात्कार के लिए विश्व में तरह-तरह के नाम-रूपों तथा बाह्य क्रियाओं एवं मतों को अपनाकर अपनी-अपनी मान्यताओं तथा पक्षों का पोषण कर रहे हैं। परन्तु वास्तव में जैन साधु सभी प्रकार के मत-मान्यताओं, पक्षों तथा आचार-विचारगत पोरग्रहों से रिक्त यथार्थतः साधुता का पालन करता है। पालन करता है—यह कहना भी भाषा की असमर्थता है। जैन साधु तो अपनी चर्या में अपने गुण पर्याय रूप परिणामते हुए अपने आप का अवलोकन करते हैं। उस दशा में केवल विज्ञान घन स्वभाव अपने पूर्ण उज्ज्वल स्वरूप का, चैतन्य का पूर्ण प्राश एकरूप रूप से उदित होता है, उस समय कोई द्वैत भासित नहीं होता है, अनादि काल की अज्ञान दशा विघट जाती है और स्वतत्त्व का उदय हो जाता है। यही ज्ञानियों का प्रभात है। अज्ञान-अन्धकार से प्रशाश योगियों की चर्या है।

‘तमसो मा ज्योतिर्गमय’ का सहज सन्देश जैन साधुओं की चर्या से सहज प्रकट होता है। जिस अनात्म दशा में ससार के तथाकथित विद्वान्, वैज्ञानिक तथा अन्वेषणकर्ता प्रत्येक समय सोते रहते हैं, उससे भिन्न आत्मस्थिति में ज्ञानी साधु प्रत्येक समय में जाग्रत रहते हैं—यहाँ तक कि जिस घोर अन्धकार से व्याप्त रात्रि में चर-अचर सभी जीव सोते रहते हैं, उस समय से भी ज्ञानी अपने ज्ञान में जागते रहते हैं^१। ज्ञान-चैतन्य के समक्ष काम वासनाओं, पर-भावों, विभावों तथा परममय के मिथ्या भाव टिक ही नहीं पाते हैं। केवल ज्ञान चैतन्य का विनाश ही उत्तम मुनियों की

चर्या है जो स्थायी एवं सहज आनन्द की जननी है, जिसे एक बार उपलब्ध हो जाने के अनन्तर कुछ प्राप्त्य एवं करणीय नहीं रह जाता है। वास्तव में जैन साधु की चर्या सच्ची शान्ति एवं आनन्द में निहित है। जब शुद्ध के लक्ष्य से प्रेरित अनन्तविकल्पी ज्ञान एक शुद्धात्मनिष्ठ होकर ज्ञानस्वभाव-तन्मय होकर परिणमित होता है तब सच्चे सुख की किरण उद्भासित हुए बिना नहीं रहती, क्योंकि साधु चर्या ही धर्म है और धर्म में अविनाभाव रूप से सच्चा सुख विलसित होता है। अतः धर्म परिणत आत्मा नियम से आनन्द का भोग करता है। सच्चा आनन्द ही उसका जीवन है। यही साधु-चर्या का प्रत्यक्ष परिणाम है। साधु की चर्या का आदि बिन्दु क्या है? सतत सहज भेद विज्ञान का उच्छलन। जिसे आत्म-अनात्म का भेद-विज्ञान नहीं है, वास्तव में वह जैन साधु होने का भी पात्र नहीं है, क्योंकि उक्त दशा तथा स्थिति हेतु उसका लक्ष्य स्थिर नहीं हो सकता।

भेद विज्ञान

जो आत्म-दर्शन करना चाहता है, उसे भेद-विज्ञान करना ही पड़ता है। यह मोक्षमार्ग की आवश्यक भूमिका है, क्योंकि सत्-असत् की पहचान के बिना वस्तु-स्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता। वास्तव में एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। सभी वस्तुएं स्वतन्त्र व स्वाधीन हैं। वस्तु की असलियत का ख्याल आते ही आनन्द की धारा उमड़ पड़ती है, क्योंकि परमार्थ में प्रत्येक वस्तु अपने में प्रतिष्ठित है। ज्ञान ज्ञान में है और श्रोत्रादिक श्रोत्रादिक में है। दोनों का स्वभाव भिन्न होने से दोनों ही भिन्न हैं। इन दोनों में आधार-आधेयत्व भी अपने-अपने में ही है।^१ किन्तु दर्शनमोह के वश में होकर हम अनादि काल से यह मानते चले आ रहे हैं कि रागादिक भाव चैतन्य करता है। उपयोग तो चैतन्य का परि

१ ‘तदप्रभवे चैक ज्ञानमेवैकस्मिन् ज्ञान एव प्रतिष्ठित विभावयतो न पराधाराधेयत्व प्रतिभाति । ततो ज्ञानमेव ज्ञाने एव श्रोत्रादय एव श्रोत्रादिव्यवेति साधु सिद्ध भेदविज्ञानम् ।’—समयसार, गा० १८१ की आत्मव्याप्ति टीका।

णमन होने से ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भावकर्म, द्रव्य-कर्म एवं नोकर्म सभी पुद्गल द्रव्य के परिणाम होने से जड़ हैं। इनकी आज तक वास्तविक पहचान नहीं हुई। इसीलिये ससार में भटक रहे हैं। काललब्धि के वशगुरु के सम्यक् उपदेश के निमित्त से मिथ्यात्वादि प्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होते ही स्व-पर भेद-विज्ञान प्रकट हो जाता है और तभी आत्मा अपने स्वरूप को पहचान लेती है। स्वात्मतत्त्व की रुचि को प्राप्त हुआ जीव ही संयोगी दशा में भी पर-द्रव्य से भिन्न निज तत्त्व की प्रतीति कर सकता है।

जैसे दो जुड़ी हुई वस्तुओं को छलग-छलग करने के लिए मिस्त्री सन्धि के स्थान पर छैनी मार कर या करोंत चलाकर कुशलता के साथ उन दोनों को पृथक् पृथक् कर देता है, वैसे ही सम्यक्त्व के सम्मुख ससारो जीव ज्ञान-रूपी करोत के अभ्यास से कुशलता के साथ लक्षण भेद का ज्ञान होने से जीव और अजीव को भिन्न-भिन्न कर जानता है। रागादिक भावों की भिन्नता के साथ ही चैतन्य रम से निर्मर जायक आत्मा तत्काल ऐसा प्रकाशित हो जाता है, जैसे कि खान में से निकला हुआ मोना सोलह बानी ताव पर चढ़कर अपने उज्ज्वल स्वरूप में चमकमाने लगता है।

भेद-विज्ञान करोत की तीक्ष्ण धारा के समान कहा गया है। जैसे करोत लकड़ी के टुकड़े-टुकड़े कर डालती है, उसी प्रकार भेद-विज्ञान भी ज्ञान और रागादि विकार इन दोनों को अपनी अन्तर्दृष्टि रूपी तीक्ष्ण आर के द्वारा परस्पर में या पूर्ण रूप से पृथक् पृथक् करके, यह निमज्ज भेद-विज्ञान, जो स्वयं शुद्ध चैतन्य का ठोस पिण्ड है, पर के संयोग से रहित निज स्वरूप में लीन हो जाता है।

अतः स्वरूपलीनता के अनुपम सुख को प्राप्त करो।^१ इस भेद-विज्ञान से ज्ञानभाव और राग की सूक्ष्म अन्तःसंधि स्पष्ट रूप से प्रतिभासित हो जाती है और निजात्मा में प्रतीत होने वाली ज्ञान और रागादि भावों की एकता दूर हो जाती है। भेद-विज्ञान का माहात्म्य यह है कि यदि जीव निरन्तर उसका अभ्यास करता रहे, कभी भेद-विज्ञान की धारा न टूटे तो भेद-विज्ञान व बल से ध्रुव, शुद्ध आत्मा का अनुभव करता हुआ प्रवृत्त होता है। इतना ही नहीं, प्रकाशमान अपनी आत्मा को परद्रव्य से उत्पन्न विकारी परिणति को भी दूर कर शुद्ध रूप में स्वयं को प्राप्त कर लेता है।^२ यह सुनिश्चित है कि भेद-विज्ञान से ही निज शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है।

वास्तव में भेद-विज्ञान में निमित्त/निमित्त रूप में, उपादान उपादान रूप में, साधन साधन रूप में और साध्य साध्य रूप में, जो जैसा हो वैसा ही उद्भासित होने लगता है। जब तक जीव को हेय-उपादेय का बोध नहीं होता है, तब तक यह हेय को त्यागकर उपादेय को ग्रहण नहीं करता। भेद-विज्ञान होने पर सभी राग-रगों की हेयता का बोध हो जाता है, इसलिए जीव उन सबको छोड़कर निज शुद्धात्म-स्वभाव का आलम्बन लेता है। यही भेद-विज्ञान की उपयोगिता है।

पाच महाव्रत, समिति, इन्द्रियनिरोध, लोच, छह प्राव-श्यक, अचेलस, अस्नान, भूमिषयन, अदन्तधावन, खडे होकर भोजन तथा एक बार आहार, ये श्रमण के अट्ठाइस मूल गुण जिनबरो ने कहे हैं।^३ यथार्थ में सभी प्रकार के व्यापारों से मुक्त सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य तथा सम्यक् तप में अनुरक्त निग्रन्थ एव निर्मोह साधु होते हैं।^४

१. चैदूष्य जड़रूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तद्विहणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।

भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिद मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ॥

समयासारकलश, श्लो० १२६

२. यदि कथमपि धाराराहिना बोधनेन
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते।

तदयमुदयद्वात्माराममात्मानमात्मा

परपरणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपेति ॥ वही, १२७.

३. प्रवचनसार, गा० २०८-२०९.

४. बाबारविषयमुक्ता च उविहाराहणासयारता।

णिगमंया णिमोहा साह एरेरिसा होति ॥

—नियमसार, गा० ७५

उत्तम सविबचलित अलण्ड अद्वैत परम चिद्रूप के श्रद्धान, ज्ञान तथा अनुष्ठान रूप स्वभावस्वरूप में अनुरत होते हैं।

ज्ञानी साधु का ज्ञानरूप परिणमन करना, यह अन्तरंग चर्या है। किन्तु बाहर में ज्ञान-ध्यान एवं अध्ययन में लीन रहना, स्व-समय में स्थिर होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य का पालन करना और स्वरूप की श्रावणा के लिए अन्तरंग तथा बाहर सभी प्रकार के परिग्रहों से मुक्त होकर महाव्रतों एवं मूलगुणों का पालन करना आर्ष श्रमण मार्ग है। ऐसे ही साधु वीतरागी गुरु कहे जाते हैं। वीतरागता की पूर्ण उपलब्धि ही उनका चरम लक्ष्य होता है। वे स्वयं वीतरागता के एक शिखर होते हैं। इसलिए उस शिखर पर अधिरोहण करने की इच्छा से नैतिकता की अपनी व्यवहार-बुद्धि से धर्म मानने वाला श्रावक उनसे वीतरागी-मार्ग की शिक्षा व उपदेश प्राप्त करता है। उनके वीतराग-चारित्र्य में जीविसो घटे आनन्द की धारा प्रवाहित होती रहती है। उनके यम, नियम, व्रत, उपदेश आदि सभी एक-रस धारा से आप्यायित होते रहते हैं। वहाँ शान्ति व आनन्द के सिवाय, ध्यान व अध्ययन के अतिरिक्त जगत का कोई व्यापार नहीं चलता। अतः साधु सब प्रकार से नग्न होकर—तन से, मन से, विकारों से—यथार्थ में त्यागी होता है। जो केवल वस्त्र को साधुत्व के लिए बाधक समझता है, वह साधु चर्या के योग्य नहीं हो पाता, क्योंकि आत्मचर्या में वस्त्र बाधक नहीं है, किन्तु वस्त्र का परिग्रह बाधक है। जो वस्त्र का परिग्रह किए हुए है, वह उसकी आसक्ति से परे नहीं हो सकता। अतः तृणमात्र भी धारण करना अपरिग्रह महाव्रत से बाहर है। पूर्ण अपरिग्रही तिल, तृण मात्र भी परिग्रहण नहीं कर सकता। केवल बाहर वस्त्रों को मोड़ना ही परिग्रह नहीं है किन्तु आहार में आसक्ति रखना, अमृक वस्तु में स्वाद लेना, ससार के विषयों के प्रति रुचि या चाह होना, अपने नाम व यश की कामना करना, मेरा कोई अभिनन्दन या स्वागत करे, ऐसा विकल्प होना, किसी के अच्छे बुरे की प्रशंसा करना, सभी परिग्रह कोटि में है। अतः सच्चा त्याग अन्तरंग का माना गया है। किन्तु बाहरी साधनों को देखकर अन्तरंग के परिग्रह का अनुमान किया जाता है। इस कारण

अन्तरंग त्याग के साथ बहिरंग त्याग का भी उपदेश दिया गया है। इस प्रकार साधु की चर्या वही है जिसमें अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह का किसी प्रकार ग्रहण नहीं होता। सभी प्रकार से स्वावलम्बी जीवन की चर्या का नाम साधुचर्या है, जिसमें सम्पूर्ण स्वतन्त्रता का सागर लहराता रहता है और जिस आत्मनिष्ठ साधना में साधक अपने साध्य की पूर्णता की उपलब्ध होता है। अतः बाहरी जीवन की प्रत्येक क्रिया में उसे अपनी आत्मचर्या का आनन्द रस का ही स्वाद संवेदित होता रहता है। अतः बाहरी क्रियाओं में जैन साधु को बलेश एवं पीड़ा का अनुभव न होकर आनन्द रस का उच्छलन ही होता है। जैनागमों में जैन यतियों, मुनियों तथा साधुओं की चर्या का यही रहस्य उद्घाटित किया गया है कि वे आत्मज्ञान से भीतर-बाहर प्रकाशित होते हुए आत्मचर्या में निरत रहते हैं, लौकिक किंवा व्यावहारिक जगत के द्वैग से परे रहते हैं एवं अद्वैत की समरसी भूमिका को अलोकित करते रहते हैं। □□□

२४३, शिक्षक कालोनी, नीमच मध्य प्रदेश

‘अनेकान्त’ के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज,

नई दिल्ली

मुद्रक-प्रकाशक—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त

श्री भोमप्रकाश जैन

प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक

राष्ट्रिकता—भारतीय

पता—२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन

राष्ट्रिकता—भारतीय

पता—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, भोमप्रकाश जैन, एतद्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

—भोमप्रकाश जैन, प्रकाशक

भरत और भारत

□ श्री गणेश प्रसाद जैन, वाराणसी

“भरत” नाम के कई महापुरुष इस पुण्य-भूमि ‘भारत-देश’ में हुए हैं। किन्तु जिस महामानव ‘भरत’ के नाम पर इस देश का नाम ‘भारत’ प्रख्यात हुआ, वह ‘भरत’ प्राग्-ऐतिहासिक-काल में हुआ है। वह जैन धर्म के प्रवर्तक, आदि-तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के एक सौ पुत्रों में ज्येष्ठ थे। वह चक्रवर्ती, महान् प्रतापी, महापराक्रमी महायोगी, महातपस्वी और ब्रह्मज्ञानी थे। अद्वैतानुभूति अत्यन्त तीव्र होने से प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में जड़-भरत के नाम से उनका कथन है। ‘ऋग्वेद’ आदि में जिन ‘भरतों’ का बारम्बार उल्लेख है, वे उक्त भरत के ही वंशज हैं।

“भारत” देश के जनक “भरत” के सम्बन्ध में प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों को भ्रम हुआ है, और देश के नाम का सम्बन्ध अर्वाचीन चंद्रवंशीय दुष्यन्त-पुत्र ‘भरत’ के नाम से जोड़कर इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों में पाठ्य-रूप प्रचलित कर दिया गया है, जिसके कारण एक गलत परम्परा का विकास हो रहा है।

अनेक विद्वानों ने अपनी शोधस्वरूप उक्त भ्रांति का निराकरण करते हुए, ठोस प्राचीन-साहित्यिक प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि—“दुष्यन्त-पुत्र चंद्रवंशीय था। इस ‘भरत’ से १५०० वर्षों (पन्द्रह सौ वर्षों) के पूर्व से (इस) देश का नाम ‘भारत’ संसार में प्रख्यात हो चुका था।”

‘प्राग्-ऐतिहासिककाल’ से ही इस भारत देश की भूमि पर ‘भरत’ अथवा ‘भारत’ नाम की एक जाति बसती थी। उस भारत अथवा भरत जाति का सम्राट् (चक्रवर्ती) ‘भरत’ ‘सूर्यवंशीय’ था और उसी भरत के नाम पर इस भूमि का नामकरण भारत हुआ है। ‘ऋग्वेदादि’ प्राचीनतम साहित्य इसी “भरत-जाति” की स्मृति में प्रणीत हैं।

आदि सम्राट् (चक्रवर्ती) भरत का वंश इक्ष्वाकुवंश,

सूर्य-वंश, सूर्य-कुल आदि उपाधियों से विभूषित, प्रख्यात तथा इस देश का मूल निवासी है। अयोध्यापति, “सुदास”, जिसका वेदों में ‘सुहास’ व भरत नाम भी मिलता है, सूर्य वंशी और इस ‘प्राग्-कालिक’ भरत का वंशज है। इसी ‘सुदास’ का युद्ध चंद्रवंशीय राजा ‘पुरु’, जिसकी राजधानी ‘प्रयाग’ (भूँसी) में थी, हुआ था। इस युद्ध का वर्णन “देवासुर-संग्राम” अथवा “देवराज-युद्ध” के नाम से वैदिक ग्रन्थों में वर्णित है।

ऐल या चंद्रवंश—महाराजा ‘इक्ष्वाकु’ के समय के लगभग ही ‘मध्य-प्रदेश’ का एक प्रतापी राजा था, जो मानव वंश का नहीं था, उसका नाम ‘पुरुवा’ ऐल था। उसकी राजधानी प्रतिष्ठान अथवा ‘प्रतिष्ठानपुर’ प्रयाग के सामने भूँसी के पास थी। वहाँ आज भी ‘पहित’ नाम का एक गाँव है। उसे ही ‘प्रतिष्ठान’ का ठीक स्थान माना गया है।

‘पुरुवा’ की रानी ‘उर्वशी’ अप्सरा थी। उसका वंश ‘चंद्र अथवा ऐल’ कहलाता था। ‘ऐल वंश’ ने शीघ्र ही बड़ी उन्नति की और दूर-दूर के प्रदेशों तक अपना राज्य स्थापित किया था। ‘प्रतिष्ठान’ वाले मुख्य वंश में ‘पुरुवा’ का पौत्र ‘नहुष’ हुआ और नहुष का ‘ययाति’। (सूर्य वंश में भी नहुष-पुत्र ययाति हुआ है।) ‘ययाति’ के भ्राता ने नीचे की ओर गंगा के तट पर ‘वाराणसी’ राज्य की स्थापना की। बाद में उसके वंशज राजा ‘काश’ के नाम पर वह ‘काशी-राज’ कहा जाने लगा।

चंद्रवंशीय ‘ययाति’ के पाँच पुत्र—१. यदु, २. तुवंस, ३. द्रुह्य, ४. अनु और ५. पुरु थे। ‘पुरु’ के पास प्रतिष्ठान का राज्य था। उसके वंशज पौरव कहलाए। महाभारत के उद्योग-पर्व (१४६।३) में वर्णित है कि—“समः प्रजापतिः पूर्वकुलानां वंशवर्धनः।” इस वाक्य से स्पष्ट है कि—“कौरव-वंश” का प्रणेता ‘सोम’ का ५वां पु

भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्तवभूत् ।” (प्रणि पुराण प्र० १०७।११, १२) । श्री ऋषभदेव ने रानी मरुदेवी के गर्भ से जन्म लिया, और उनके पुत्र श्री ‘भरत’ हुए; उन्हीं के नाम पर इस वर्ष (देश) का नाम भारतवर्ष कहलाकर प्रख्यात हुआ है ।

‘भरत’ महाराज के पुत्र ‘सुमति’ थे । “वर्षोऽयं भारती नाम यत्रेयं भारती प्रजा, भरणाख्य प्रजानां वैमनुर्भरत उच्यते, निरुक्त-वचनाच्चैव वर्षं तद्भारतं स्मृतम् ॥” (वा० पु० ४५।१७६) । यह देश भारतवर्ष है और यहाँ की प्रजा भारती है । प्रजा का भरण-पाषण करने में ‘मनु’ को ‘भरत’ कहा गया है । निरुक्त के अनुसार, उस भरत का जो देश है, वही भारतवर्ष है । मत्स्य-पुराण में भी यही श्लोक है (११४।५) । ब्रह्माण्डपुराण एवं लिंगपुराण (१।४७।२४) का भी यही अभिमत है ।

इस भू-खण्ड का नाम भारतवर्ष पड़ने से पूर्व अजनाभ-वर्ष और हिमवर्ष प्रचलित था । (भा० ५।७।३ तथा विष्णु-पुराण २।१।१८) । प्रादिमानव का यही अजनाभ-वर्ष में जन्म हुआ था और उसी से विश्व में मानव-सम्पत्ता का विस्तार भी हुआ । ‘मनु’ भगवान ने कहा है कि “एतद्देशप्रसूनस्य सकाशादग्रजन्मनः । स्व स्व चरित्र शिखरेन् (पृथिव्या) सर्वमानवाः ॥”

महाभारतगुप्त प्रारम्भ होने से पूर्व ‘धृतराष्ट्र’ ने संजय से भारतवर्ष के सम्बन्ध में जिज्ञासा की । संजय ने पृथु, इक्ष्वाकु, ययानि, अंबरीष, मान्धाता, नहुष, शिवि, ऋषभ, मुचकुन्द, पुरुवा नृग, कुशिक, गाधि, सोमाक और दिलीप आदि कतिपय महान् राजाओं का नाम गिनाकर कहा— “सर्वेषामेवराजेन्द्र प्रिय भारत भारतम् ।” हे राजराजेन्द्र भारत (धृतराष्ट्र), इन सब लोगों को भारत देश अत्यधिक प्रिय था । ये सभी लोग देश भक्त हो गए हैं ।

महाराजा ‘पृथु’ ने पर्वत श्रेणियाँ काट-काटकर भूमि को समतल किया (समथल किया) । उसे मनुष्यों के आवास योग्य बनाया और कृषि, वाणिज्य एवं पशु पालन का प्रचलन किया । (विष्णु पु० १।१३।८२, ८३, ८४) । महामानव श्री ऋषभदेव ने मानवों को सम्य-सुसंस्कृत बनाया, प्रजा को गृहस्थाश्रम में नियमित किया । (भा० ५।४।१४) । इन्हीं श्री ऋषभदेव के पुत्र महाराजा ‘भरत’

थे जिन्हें जन्म देकर यह देश धन्य हो गया । उनके जाति के रूप यह ‘अजनाभवर्ष’ और हिमवर्ष से भारतवर्ष कहलाने लगा और अब इसी नाम से प्रख्यात है ।

श्रीमद्भागवत् के मंत्र (५।१४।४२) में महाप्रतापी महाराजा भरत के सम्बन्ध में वर्णित है कि— “जैसे गरुड़ से कोई भी पक्षी होड़ नहीं कर सकता, वैसे ही राजर्षि भरत के पथ का अनुसरण भी अन्य कोई राजा नहीं कर सकते ।

महाराजा ‘भरत’ का वंशानुक्रम “स्वायंभुव मनु” के पुत्र महाराजा ‘प्रियव्रत’ से सभी पुराणों में कथित है— प्रियव्रत के आग्निध्र, आग्निध्र के नाभि, नाभि के ऋषभ और ऋषभ के पुत्र ‘भरत’ महाराज थे ।

प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वयंभुवस्य च,
तस्यागन्धिस्ततोनामिर्ऋषभस्य सुतस्ततः ।

अवतीर्णं पुत्रशतं तस्यासद्विब्रह्मापारगम्,
तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः ॥

विख्यात वर्षं मेतन् नाम्ना भारतमुत्तमम् ॥

(भा० स्क० ५, प्र० ४)

अर्थात्—उक्त वंशावली में भरत हुए और उन्हीं के नाम पर यह देश भारत के नाम से विख्यात हुआ है ।

इक्ष्वाकुः प्रथमप्रधानमुदगादित्यवशस्ततः तस्मादेव च सोमवंश इति यस्त्वत्ये कुरुपादयः । (जैन हरिवंश-पुराण, पर्व १३, श्लोक ३२) अर्थात् सबसे प्रथम इक्ष्वाकु-वंश चला, उसके बाद सूर्य, चन्द्र, कुरु, उग्र आदि वंश प्रचलित हुए । इसी सर्वप्रधान प्रथम इक्ष्वाकुवंश में भरत हुए हैं । पुराणों के अनुसार ‘इक्ष्वाकु’ के एक सौ पुत्र थे । उनसे ही सम्पूर्ण आर्य-वंश की परम्परा चली है । श्री ऋषभदेव जी को भी एक सौ पुत्र थे । ‘इक्ष्वाकु’ वंश के नामकरण का कारण जैन ग्रंथ में निम्न प्रकार से है—

“आकनाच्चतदिक्ष्णं रस सग्रहशृङ्गाम् । इक्ष्वाकुः इत्यभूद्देवो जगतामभिसम्मतः ॥” अर्थात् श्री ऋषभदेव की प्रथम पारणा के समय राजा श्रेयास ने उन्हें ‘इक्षु रस’ दिया था, तभी से इस वंश को इक्ष्वाकु-वंश कहा जाने लगा । ‘इक्षु’ का उल्लेख अथर्ववेद (१।३४) तथा ऋग्वेद में है ।

पं० श्री भगवतदास जी ने अपनी रचना ‘भारतवर्ष का इतिहास’ में राजा ‘सुदास’ की वंशावली प्रथम ‘मनु’

(श्री नाभि)से दी है। ६३वीं पीढ़ी में श्री रामचन्द्र जी है। राजा 'सुदास' ५२वीं पीढ़ी में है। ५३वीं में कल्याणपाद, ५४वीं में सूर्यकर्मा ५५वीं में अमररण्य, ५६वीं में निधन, ५७वीं में रघु, ५८वीं में अनमित्र, ५९वीं में दिलीप, ६०वीं में रघु (द्वितीय), ६१वीं में अज, ६२वीं में दशरथ और ६३वीं में श्रीराम है।

द्वितीय रघु ६०वीं पीढ़ी से रघुवंश की उत्पत्ति लिखा है। इस तालिका से यह सिद्ध होता है कि "श्रीरामचन्द्र जी से ११ पीढ़ी पूर्व 'सुदास', अर्थात् 'भरत-जाति' का अस्तित्व था। इसके पूर्व से ही देश का नाम 'भारत' प्रचलित था।"

प्रो० इन्द्र एम० ए० २० मार्च सन् १९४६ के हिन्दुस्तान (समाचार-पत्र) में लिखते हैं कि 'भारत' नाम वैदिक काल में 'भरत जाति' के द्वारा, जो हमारी पूर्वतम जाति है, रचना गया है। उन्हीं लोगों ने देश बसाया, सभ्यता संस्कृति प्रदान की और नामकरण भी किया। पौराणिक साहित्य में 'भारत' शब्द का प्रयोग 'आर्यावर्त' की तरह सीमित प्रदेश के लिए नहीं किया गया है, अपितु समूचे देश के लिए हुआ है। 'भरत' जाति की चर्चा विशेषतः ऋग्वेद, यजुर्वेद और ब्राह्मण-ग्रंथों में है।

श्री ब्रह्मदत्त जी शर्मा ने २५ सितम्बर, सन् १९४६ के हिन्दुस्तान पत्र में लिखा है कि वास्तविक स्थिति यह है कि "इस देश का अत्यन्त प्राचीन नाम 'भारत' था, जिसका वर्णन ऋग्वेद के तृतीय मण्डल एवं १०वें मण्डल के ७५वें सूक्त में हुआ है। साथ ही, भारत की मुख्य-मुख्य नदियों के नाम भी लिखे हैं। अनन्तर यजुर्वेद और अथर्ववेद में 'भारत' के मुख्य-मुख्य प्रान्तों का भी निर्देश मिलता है। लेख के अन्तिम भाग में लिखा है कि "वेदों से लेकर दूसरी शताब्दी तक निःसन्देह, एवं बारहवीं शताब्दी तक विकल्प रूप में, इस देश का अन्य देशों में भारत एवं भारतवर्ष नाम प्रसिद्ध था।"

प्रो० राजबली पाण्डेय ने अपनी रचना "भारतीय इतिहास का परिचय" (पृ० १, द्वितीय संस्करण में) लिखा है कि "जिस देश में हम बसते हैं, उसका प्राचीन नाम भारत-वर्ष है। जान पड़ता है कि 'भरत' के वंशजों की प्राचीन भरत जाति ने ही यह नाम देश को दिया है। राजनीति,

धर्मनीति, विद्यानीति और संस्कृति आदि में भरत जाति आर्यों में अग्रणी थी। उसके विस्तार और प्रभाव से सारा देश भारतवर्ष अथवा भरतो का देश कहलाया। यहाँ तक कि देश की विद्या और कुल का नाम भी 'भारती' पड़ा।

प० जयचन्द विद्यालंकार ने अपने ग्रन्थ "भारतीय इतिहास की रूपरेखा" (प्र. सं. प्र. जि. पृ. १४६) में लिखा है कि ऐसा सोचने का प्रलोभन होता है कि "हमारे देश का नाम भारतवर्ष उसी भरत" (शकुन्तला-दुष्यन्त-पुत्र) से हुआ है, किन्तु वह नाम (भरत) एक और प्राचीन राजा ऋषभ पुत्र 'भरत' के नाम से बतलाया जाता है और वह भरत या तो कल्पित है या प्रागैतिहासिक।

विद्यालंकार जी ग्रन्थ में यह भी लिखते हैं कि "दुष्यन्त-पुत्र 'भरत' चद्रवंशियों के भिरमौर्य हुए हैं। इनके पूर्वज चद्रवंशीय थे। ये चद्रवंशीय लोग भारत में बहुत थोड़े समय पूर्व ही बाहर से आये थे। इनका सबसे प्रथम राजा जो भारत आया, 'पुरुवा' था। यद्यपि वह बड़ा प्रतापी और वीर था, किन्तु उसको यहाँ विशेष सफलता नहीं मिली, इसलिए वह अपने देश लौट गया। परन्तु उसकी संतान यहाँ ही बसी रह गई। शनः-शनः ये लोग अपनी शक्ति बढ़ाते और अपने राज्य का विस्तार करते रहे। उस समय इन कुल का नाम 'ऐल' था।

इस 'पुरुवा' के पूर्व यहाँ 'आर्य' रहते थे। उन्हीं लोगों का इस देश पर एकछत्र राज्य था। इन्हीं सूर्यवंशियों से ऐलों का अनेक बार युद्ध हुआ, परन्तु इन युद्धों में सदा विजय सूर्यवंशियों की ही होती रही। इसी वंश के महाप्रतापी राजा 'पुरु' का घनघोर युद्ध सूर्यवंशियों से दाशराज-युद्ध के नाम से हुआ, जिसमें ६६००० सैनिक एवं सेनाध्यक्ष मारे गए। अन्त में विजय सूर्यवंशियों की ही हुई। इसी 'पुरु' की ३१वीं पीढ़ी में दुष्यन्त-पुत्र भरत हुए हैं, अर्थात् अनुमानतः पुरु के १५०० वर्षों बाद ही शकुन्तला-दुष्यन्त पुत्र भरत जन्मा था।

प० जयचन्द विद्यालंकार के उपरोक्त कथन में यह है कि दुष्यन्त-शकुन्तला-पुत्र भरत की १५वीं पीढ़ी, अर्थात् लगभग १५०० वर्षों पूर्व में ही इस भारतवर्ष की भूमि पर दो वंशों का अस्तित्व था -- भरत वंश (सूर्यवंश) और

(शेष पृष्ठ ६६ पर)

बिहार के बिहारी : अप्रतिहत अर्हन्त

□ श्री लक्ष्मीचन्द्र 'सरोज' एम० ए०, जावरा

[जैसे ८४ लाख योनियों में मनुष्य योनि सर्वश्रेष्ठ है वैसे ही मनुष्यों में सर्वश्रेष्ठ अर्हन्त है। अर्हन् जैन और बौद्ध धर्मावलम्बियों के परम आराध्यदेव है। अर्ह पूजाया जातु से शत्रु प्रत्यय होकर अर्हत शब्द बना, इसके प्रथम सम्बोधन में अर्हन शब्द बना, जिसका अर्थ पूजनीय है और यह उसकी पूज्यता का ही प्रभाव है कि उसे वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों सस्कृतियों ने अपनाया। विचार के बिन्दु से अर्हन्त शब्द का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। बराहमिहिर संहिता, योगवासिष्ठ, वायुपुराण, भागवत, पद्मपुराण और विष्णुपुराण, शिवपुराण में इस शब्द का उल्लेख है। अप्रतिहत अर्हन्त का यहाँ जैन-बौद्ध दृष्टि से संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत है।]

बिहार प्रदेश का नाम बिहार क्यों पड़ा? प्रस्तुत प्रश्न का सुस्पष्ट उत्तर यह कि बिहार में अर्हन्तों का बहुत बिहार (आमन-गमन) हुआ, अतएव अपने आराध्य देवताओं की पुनीत स्मृति लिए कृतज्ञ भक्त-जनो ने अपने प्रदेश का नाम बिहार रख लिया। अर्हन्तो के निवास के लिए यहाँ अनेक बिहार (आवास) बने, इसलिए इस प्रदेश की सजा बिहार हो गई। यह बात अतीव स्वस्थ हृदय और सतुलित मस्तिष्क से इतिहास और पुराण के परिप्रेक्ष्य में आज भी निस्संकोच कही जा सकती है।

जिन दो भगवन्तो-अर्हन्तों की दिव्य और भव्य स्मृति बिहार अपने अन्तर में आज भी सजाए है, उनके नाम भगवान महावीर और महात्मा गौतम बुद्ध हैं। इन दोनों अर्हन्तो का बिहार से काफी घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। चूँकि भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा में महात्मा गौतम बुद्ध भी अर्द्धयुग वर्ष तक जैन श्रमण साधु रहे, अतएव यह स्वाभाविक था कि उनके आचार-विचार, धर्म देशना पर जैन संस्कृति की भी क्षीण छाया पड़ी, अनेक जैन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी बौद्ध वाङ्मय में हुआ, उदाहरण के लिए अर्हन्त, आस्रव, गन्धकुटी, यम-नियम, सम्यक् विचिकित्सा, यदत्तादान आदि पर्याप्त होंगे।

“बुद्ध शरण गच्छामि, धम्म शरण गच्छामि, संघ शरण गच्छामि” पर णमोकार मन्त्र के मागलिक पाठ की प्रस्तुत त्तियोंकी क्षीण छाया पड़ी—अर्हन्ते शरण पव्वज्जामि,

सिद्धे शरण पव्वज्जामि, साहू शरणं पव्वज्जामि, केवल पणत्तं धम्म शरणं पव्वज्जामि। चूँकि एक धर्म, एक दर्शन, एक संस्कृति, एक समाज, एक साहित्य अपने पड़ोसी धर्म, दर्शन, संस्कृति, समाज और साहित्य से प्रभावित हुए बिना रह ही नहीं सकता है, अतएव तीनों भारतीय भारतीय संस्कृतियाँ वैदिक, जैन और बौद्ध परस्पर प्रभावित हुईं। विशेषतया महावीर और बुद्ध के व्यक्तित्व और कृतित्व में, उनकी जीवन मानना में अनेक समानताओं की दृष्टि-पथ में रखकर कुछ ऐतिहासिक विद्वान् दोनों को पृथक् नहीं अपृथक् भी समझने लगे थे, पर कालान्तर में उनकी धारणा निर्मूल सिद्ध हुई।

जैन और बौद्ध तथा वैदिक संस्कृति में अर्हन्त शब्द की काफी चर्चा हुई है। जैन जनो का णमोकार-मन्त्र ही ‘णमो अर्हन्ताणं’ (अर्हन्तो को नमस्कार हो) से आरम्भ होता है और बौद्धों के धम्मपद ग्रन्थ में बाल-ब्राह्मण वग्ग की भाँति अर्हन्त वग्ग भी है। तीर्थंकर अर्हन्त जिनेन्द्र के सद्गुण गौतम बुद्ध को भी अमर-कोप और पञ्चनन्त्र संस्कृत ग्रंथों में ‘जिन’ जितेन्द्रिय, सर्वज्ञ, शास्ता कहा गया पर इतने पर भी अर्हन्त विषयक जैन और बौद्ध दृष्टिकोण में उतना ही अन्तर बना रहा, जितना अन्तर महावीर और गौतम बुद्ध में रहा।

अर्हन्त : जैन दृष्टि

सर्वज्ञो जितरागादिदोषवस्त्रैलोक्यपूजितः ।

यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हत्परमेश्वरः ॥

बिचार के इस बिन्दु से जैन अरहन्त परमेश्वर सर्वज्ञ, बीतराग त्रैलोक्यपूजित यथा स्थितार्थवादी होते हैं। दूसरे शब्दों में, जैन अरहन्त बीतरागी, सर्वज्ञ और हिनोपदेशी होते हैं। गुणस्थानों की दृष्टि से साधु-उपाध्याय-आचार्य से आगे बढ़कर तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर जीवनमुक्त सदृश अरहन्त होते हैं। वे समवशरण या धर्म-सभा में आसीन होकर पुरुष और स्त्री, पशु और पक्षी, राजा और रक, देव और राक्षस सभी को समान रूप से दिव्य देशना देते हैं। वे व्यक्तियों और पदार्थों की समस्त अवस्थाएँ वैसे ही सुस्पष्टतया देखते और लेखते हैं जैसे हम हाथ पर रखे आईने को या दोपहर में हाथ की रेखाओं को देखते हैं।

जैसे साथ के २८, उपाध्याय के २५ और आचार्य के ३६ गुण होते हैं वैसे ही अरहन्त के ४६ गुण होते हैं—३४ अतिशय, ८ प्रतिहाय और ४ अनन्त चतुष्टय। ३४ अतिशयों में से १० अतिशय जन्म के १० केवल ज्ञान के, और १४ देवकृत अतिशय हैं। अतिशय का अर्थ आज की भाषा में 'असाधारणता' करना उचित होगा।

अरहन्त शरीर में सुन्दर-सुगन्धित होते हैं। वे स्वेद-मल मूत्र रहित होते हैं। वे हित-मित-प्रियभाषी, अनुलित वली, श्वेतरुधिर, १००८ लक्षण समचतुस्स सस्थान वज्र वृषभनाराच सहनन वाले होते हैं। जिस स्थान में अरहन्त होते हैं वहाँ से मी योजन तक सुकाल होता है। वे आकाश में गमन करते हैं। उनका मुख चारों ओर दिखता है। अदया का अभाव और उपसर्ग (उपद्रव) का भी अभाव होता है। वे सर्वसाधारण सदृश ग्रास वाला आहार नहीं लेते हैं। वे ममस्त विद्याओं के स्वामी होते हैं, उनके नख-केश बढ़ते हैं और न नेत्रों की पलकों झपकती है तथा न शरीर की छाया पड़ती है। वे एक ही चिर-युवा होते हैं जो जन्म-जरा मरण से मुक्त होते हैं।

अरहन्त की भाषा अद्भ्युमागधी होती है। उनके प्रभाव से सभी जीव मित्र सदृश रहते हैं। दशो दिशाओं के साथ आकाश निर्मल होता है। छोटी ऋतुओं के फल-फूल-धान्य एक समय फलने हैं। एक योजन तक पृथ्वी दर्पण की तरह स्वच्छ होती है। जब अरहन्त विहार करते हैं तब उनके चरणों के नीचे देवता सीधे स्वर्णकमल रचते हैं। आकाश

में जय-ध्वनि होमी है, सुगन्धित जल की वृष्टि होती है, पवनकुमार देवभूमि को निष्कण्टक करते हैं सभी प्राणी मुदित होते हैं। अरहन्त के आगे धर्म चक्र चलता है और छत्र-चक्र-वज्र-चक्र-कलश जैसे दर्पण आठ मणल द्रव्य साथ-साथ रहते हैं।

प्रशोक वृक्ष, रत्नमय विहासन, तीन छत्र, भामण्डल, निरक्षरी दिव्य ध्वनि, पुष्पा वृष्टि, ६४ चक्र लालन, दुन्दुभि वाद्यनाद, प्रतिहायं महित अरहन्त होते हैं। वे अनन्त दर्शन ज्ञान-सुख-तीर्थ सम्पन्न होते हैं। वे जन्म-जरा, तृषा, क्षुधा, विस्मय, प्ररति, खेद, रोग, शोक, मद, मोह, भय, निन्द्या, चिन्ता, स्वेद, राज, द्वेष, मरण रहित होते हैं। वे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, घालिया कर्मों का नाश कर चुकते हैं। वे जीवन्मुक्त नियम-मतः मुक्तिश्री के निकट भविष्य में अधिकारी होते हैं। क्षपकश्रेणी आरूढ जीवात्मा निश्चय से अरहन्त होते हैं। अरहन्त एक से अधिक एक साथ हो सकते हैं पर तीर्थंकर नहीं, इसलिए उनके पाँच कल्पाणक होना भी अनिवार्य नहीं है। जो सोचने कारण भावनाओं का चिन्तन करते हैं, तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करते हैं वे ही तीर्थंकर होते हैं। तीर्थंकर या अरहन्त भी नितान्त निष्काम, निरीह भाव से धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हैं। संस्कृत के एक सुविश्व क शब्दों में उनकी वाणी का सारांश यह है

आस्त्वोभवहेतुस्यात् सवरः मोक्षकारणम्।

इतीयमाहन्ती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपचनम्॥

अर्थात् आस्त्व ससारका और सवर मोक्ष का कारण है। इतनी ही अरहन्त की दृष्टि है। शेष सभी इसी का विस्तार है। अरहन्त, अरहन्त, अरहन्त, अरहन्त, अरहन्त शब्द का अर्थ उनकी वास्तविक व्युत्पत्ति की दृष्टि से समकक्ष ही है। अरहन्त शब्द का भिन्न-भिन्न भाषाओं में निम्नलिखित रूप है, जिसका भाषा विज्ञान साक्षात् है—

भाषा	रूप	भाषा	रूप
संस्कृत	अरहन्	तमिल	अरह
प्राकृत	अरिहन्त	आअ्रश	अलहनु, अलिही
पालि	अरिहत	कन्नड़	अरहन्त, अरहन्त
मागधी	अलहन्, अलिहन्		

अमरकोष में जहाँ “सर्वज्ञो वीतरागो अर्हन् केवली तीर्थकृज्जिनः” कहा गया वहाँ नाममाला में “सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन् केवली धर्मचक्रभूत” कहा गया। भर्तृहरि ने शृङ्गारशतक में “स्याद्वादिकः आर्हतः” कहा तो ऋग्वेद में “अर्हन् विभर्षि सायकानि” कहा गया।

अर्हन्तः बौद्ध बूढ़

जिसका मार्ग समाप्त हो चुका है, जो शोकरहित और सर्वथा विमुक्त है, सब ग्रंथियों में छूट चुका है, उसके लिए कोई सन्ताप नहीं है। स्मृतिवान लोग उद्योग करते हैं, वे गृह में रमण नहीं करते हैं। जिस प्रकार हंस जलाशय का परित्याग कर चले जाते हैं उसी प्रकार वे (अर्हन्त) लोग भी गृहों को त्याग देते हैं। जो वस्तुओं का संचय नहीं करते हैं, जिन्हें शून्यतास्वरूप निमित्तरहित मोक्ष दिखाई पड़ता है, उनकी गति उसी प्रकार कठिनाई से जानने योग्य है जिस प्रकार कठिनाई से जानने जानने योग्य है जिस प्रकार आकाश में पक्षियों की गति कठिनाई से जानने योग्य होती है। जिनके चित्त के मूल क्षीण हो गये हैं, जो आहार में अनामक्त हैं, जिसे शून्यतास्वरूप निमित्तरहित मोक्ष दिखाई देता है, उसकी गति उसी प्रकार कठिनाई से जानने योग्य है जिस प्रकार आकाश में पक्षियों की गति कठिनाई से जानने योग्य है। जिस प्रकार सारथी के हाग धोड़ो का दमन किया जाता है उसी प्रकार जिसकी इन्द्रिया शान्त हो गई है ऐसे अभिमानरहित आस्रवविहीन मनुष्य (अर्हन्त) की देवता भी चाह करते हैं।

पठवी समो न विरुज्भति इन्द्र खीलूपमोतदिसुव्वतो।

रहदो अपेत कददमो संसारी न भवन्ति तादिनो ॥

जो पृथ्वी के समान क्षुब्ध नहीं होता, जो इन्द्र के समान व्रत में दृढ़ है, जो जलाशय के समान कीचड़ से शून्य है, उसके लिए संसार नहीं होता है। जो मनुष्य यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति से विमुक्त और उपशान्त हो गया है, ऐसे मनुष्य का मन शान्त हो जाता है, उग्रही वाणी और कर्म शान्त होते हैं। जो मनुष्य अब श्रद्धा से रहित है, जो अकृत निर्वाण को जानने वाला है, जो प्रवकाश रहित है, जिसने तृष्णा का परित्याग कर दिया, वही उत्तम पुरुष है। जहाँ अर्हन्त विवरण करते हैं, वह चाहे ग्राम हा

या ग्रन्थ, नीचा स्थान हो या ऊँचा, वह भूमि रमणीक है। उन रमणीय ग्रन्थों में, जहाँ साधारण लोग रमण नहीं करते हैं, वहाँ कामनाओं के पीछे नहीं भटकने वाले वीतराग जन रमण करेंगे। ऐसी विविध बातें धम्मपद में अर्हन्त के विषय कही गई हैं। अर्हन्त के विषय में उल्लेखनीय है कि जिसने अपने को जीत लिया। वह युद्ध में जीतने वालों से बढ़कर है और धर्म का एक पदश्रेष्ठ है जिसे मुनकर शान्ति प्राप्त हो जाती है। “रवीणसव अरहन्” अर्थात् अरहन्त आस्रव से क्षीण होते हैं। “नत्थि जागरतो भयं” अर्थात् जागने वाले को भय नहीं है। “बुद्धो तपति तेजसा” बुद्ध तेज में प्रकाशित है।

तथागत अर्हन्त है, सम्यक् सम्बुद्ध है। वे दो अन्त अष्टांगिक मध्यम मार्ग, चार आर्य सत्य के सन्देशवाहक हैं। अर्हन्त से आशय मूक्त पुरुष का है। अर्हन्त शास्ता भिक्षुओं के लिए उपदेश देते हैं - भिक्षुओं, बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, सुख के लिए विचरण करो। आरम्भ, मध्य और अन्त सभी अवस्थाओं में कल्याणकारक धर्म का उसके शब्दों और भावों सहित उपदेश करके सर्वांग में परिशुद्ध परिपूर्ण ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो। अर्हन्त धर्म को सुप्रास्थान कहते हैं। दुःख के क्षय के हेतु ब्रह्मचर्य पालने को कहते हैं। उद्योगी हों, आलसी न बनो, सुचरित धर्म का आचरण करो, यह प्रेरणा देते हैं। धर्म-चारी पुरुष इस लोक वपरलोक में मृत्यु से सोता है। प्रव्रजित होने पर नाम-गोत्र से विलग सभी श्रमण होते हैं। जन्म से न कोई ब्राह्मण होता है न अब्राह्मण, कर्म से ही कोई ब्राह्मण या अब्राह्मण होता है। बुद्ध अर्हन्त शाश्वतवाद-उच्छेद-वाद दोनों से परे है। उनके उपदेश का सार यह है—

सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा।

सच्चिन्त परियोदपनं एतं बुद्धानुसासनं ॥

अर्थात् समस्त पापों का त्याग करना, समस्त पुण्य कर्मों का संचय करना, अपने चित्त को निर्मल, पवित्र रखना, यही बुद्ध का अनुशासन है। बुद्ध-अरहन्त आठ अनुत्तलचपनीय नियमों स्वीकृति पर भिक्षुणी संघ की स्थापना करते हैं। वे मन-वचन-काय के दुश्चरित को पाप शकु-शन धर्म अक्रिया कहते हैं। वे स्वधर्म में पर धर्मानुयायी

को दीक्षित कर भी उनसे पूर्व व्ययहार छोड़ने को नहीं कहते हैं। मैत्री, करुणा, मुदिता की भावना को जीवन के विकास के लिए आवश्यक मानते हैं। वे पाँच काम गुण आर्य विनय मे जंजीर मानते हैं और पांच नीवरण कम आर्य विनय में आवरण मानते हैं। वे बुद्ध (परमतत्त्वज्ञ), धर्म (परमतत्त्व), सध (परमतत्त्वक्षक समुदाय) की शरण अतीव आवश्यक मानते हैं। प्राणातिपात विमरण — अहिंसा, आदिनादान विमरण — अचोरी, काम मिथ्याचार विमरण-अध्यभिचार, मृदावाद विमरण — भूट त्याग, सुरा मेरय मद्य प्रमाद स्थान विमरण - नशा त्याग का परामर्श देते हैं। वे निरुपाधिशेष सम्यक् सम्बुद्ध होते हैं। वे तीर्थों के निर्माता रत्नों के आधार होते हैं। प्रबुद्ध पाठक अनुभव करेंगे कि अर्हन्त विषयक जैन और बौद्ध दृष्टि मे काफी समानता तथा कम असमानता है। अर्हन्त शोक रहित नियुक्त गृह त्यागी अर्मग्रही अनाशक्त जितेन्द्रिय यथार्थ-विद होते हैं, वे तूष्णी और प्रमाद के परित्यागी होकर जागृत लोक हितैषी होते हैं। उनकी अनुभव मूलक देशना है। जा राग में अनुरक्त है वे तूष्णी के स्रोत मे जा पड़ते हैं जिस प्रकार भकड़ी अपने स्वयं के बनाये जाल मे फस जाती है, पर निस्पृह धैर्यशाली लोग इसे काटकर सब दुखों को छोड़कर संसार मे विरक्त होने हैं। जब मनुष्य आलसी बन जाता है, जगदा खाने वाला निद्रालु हो जाता है करवट बदल-बदलकर सोता है तब खा-पीकर मोटे बने हुए सुअर के समान वह मूर्ख बार-बार जन्म लेता है। गीता की दृष्टि से “जातस्य ध्रुवं मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च” अनुभव करना है। शंकराचार्य के शब्दों मे “पुनरपि जननं, जननी जठरे शयनं, पुनरपि मरणं भुगतता है। यह सूर्य सत्य हृदयगम कर यदि हम चिरकाल से ८४ लाख योनियों मे भटकते हुए जन्म-मरण से तिलतुषमात्र भी भयभीत हुए हों तो अर्हन्त जैसा आचरण करे, उनके द्वारा उपदेशित मार्ग पर चल-

कर अर्हन्त बनने उतना परिश्रम करें, जितना भी शक्य-सम्भव हो।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के उत्तराधिकारी, सर्वधर्म-समभाव के इच्छुक विनोबा भावे के शब्दों में कहे — “अर्हन् इदं दयमे विश्वं अभवम् (ऋग्वेद) — हे अर्हन् ! तुम इस तुच्छ दुनिया पर दया करते हो। अर्हन् और दया दोनों ही जैनों के प्यारे शब्द हैं। सामुदायिक मासाहार निवृत्त का मन्त्र पहला श्रेय शायद जैनों को ही है। बाद मे बौद्ध, वैष्णव, ब्राह्मण आदि ने उसकी स्वीकार किया। बुद्ध की जिज्ञासो का धम्मपद मे समायोजन है और वे सहज भाव से सभी स्वीकार कर सकते हैं। भगवान बुद्ध की जो इज्जत ब्रह्मदेश और तिब्बत मे है वह हमारे लिए बहुत बड़ी बात है। बौद्ध धर्म मे करुणा पर जोर है और जैनों मे क्या खाना-पान-खाना पर।

बुद्ध का धर्म करुणामूलक परन्तु वैराग्यप्रधान है। उनका क्षेत्र मानवता है। जैनों का धर्म भी करुणामूलक है, तो सही। पर उसका क्षेत्र मानव नहीं समूचा जीव जगत है, उसमें न विह्वलता है, न खलबली, उसमे है तटस्थता।

आचार्य कुम्भकन्द ने अरहन्त को पुण्य का फल कहा। उन्हें त्रेमठ शलाका का पुरुषों में शीर्षस्थ माना। अनेक बौद्ध विद्वानों ने अर्हन्त की भक्ति विषयक बातें लिखी। उपनि-पद और गीता की शिक्षाओं मे अर्हन्त का यह कथन मध्य कडी के समान आज भी पठनीय, मननीय, चिन्तनीय, गृहणीय है — जो समभाव से बरतता है, जो शान्त, दमन-शील, संयमी, ब्रह्मचारी है, जिसने दण्डत्याग करके सब भूतों को अभय दिया है वह ब्राह्मण है, वह श्रमण है, वह वह भिक्षु है।

बजाजखाना, जाबरा (म० प्र०)

□□□

(पृष्ठ ६५ का शेषांश)

ऐल वंश (चंद्रवंश)।

श्री बलदेवजी उपाध्याय ने अपनी सज्जना ‘पुराण-विमर्श’ (पृ० ३३३) मे लिखा है कि प्राचीन निरुक्ति के अनुसार स्वायम्भुव मनु के पुत्र थे प्रियव्रत, जिनके पुत्र थे नाभि। नाभि के पुत्र थे ऋषभ, उनके शतपुत्रों मे ज्येष्ठ भरत थे। उन्होंने पिता से सिंहासन प्राप्त किया और इन्हीं राजा भरत के नाम पर यह प्रदेश ‘अजनाभ’ से परिवर्तित होकर भारतवर्ष कहलाने लगा। जो लोग दुष्यन्त-पुत्र ‘भरत’ के नाम पर यह नामकरण मानते हैं,

वे परम्परा विरोधी होने से अप्रमाण है।

उपरोक्त उद्धरणों सिद्ध है कि “इस देश का नाम जिस ‘भरत’ के नाम पर भारतवर्ष पड़ा और प्रख्यात हुआ, वह दुष्यन्त-शकुन्तला पुत्र ‘भरत’ (चंद्रवंशीय) से हजारों वर्ष पूर्व सूर्य-वंश मे हुआ। जिन सूर्य वंशियों का प्राचीन-साहित्य मे उल्लेख मिलता है, वे इसी ऋषभ पुत्र ‘भरत’ की सन्तान हैं, और ‘भरत-वंश’ के नाम से प्रसिद्ध है।

बसन्ती कटारा (ठठरी बाबा), वाराणसी

□□□

□ डा० प्रेमचन्द रावका, जयपुर

महाकवि ब्रह्म जिनदास १५वीं शताब्दी के संस्कृत-हिन्दी बाङ्गमय के उद्भट विद्वान् एवं कवि थे। इन्होंने संस्कृत एवं हिन्दी भाषा के माध्यम से मां भारती की अनुपम सेवा की। संस्कृत-भाषा में छोटे-बड़े १३ काव्यों एवं हिन्दी भाषा ६० से भी अधिक लघु वृहत् काव्यों के प्रणयन से मां भारती के भण्डार को भरकर अपना अमूल्य योग दिया।

अन्य प्राचीन कवियों की भांति 'ब्रह्म जिनदास' ने भी अपनी किसी कृति की प्रशस्ति में अपना परिचय नहीं दिया है। केवल जम्बूस्वामी चरित्र एवं हरिवंश पुराण की प्रशस्तियों में भट्टारक सकलकीर्ति को अपना अग्रज भ्राता एवं गुरु बताया है। सकल 'कीर्तिनुरास' में भट्टा० सकलकीर्ति का परिचय दिया गया है।^१ उसीके अनुसार ब्रह्म जिनदास के पिता कर्णसिंह एवं माता शोभा अणहिन-पुर पट्टण के निवासी हूँवडवंशीय थे। समृद्ध परिवार था। पर इस समृद्धि के प्रति ब्रह्म जिनदास का कोई लगाव न था। ये अपने अग्रज भ्राता भट्टा० सकलकीर्ति के समान प्रारम्भ से ही गृहस्थ एवं संसार से विरक्त रहे। उनके साथ-साथ तीर्थयात्रा, आत्म-साधना एवं साहित्य-सृजन में रत रहने लगे। इनके बाल्यकाल, शिक्षा-दीक्षा,

गृहस्थ-जीवन आदि का कहीं कुछ विवरण नहीं मिलता। परन्तु प्रारम्भ से ही सकलकीर्ति के संघ का आश्रय आत्म-साधना की उत्कट लगन और सर्वत्र अपनी रचनाओं में अपने नाम के पूर्व 'ब्रह्म' एवं 'ब्रह्मचारी' शब्द का प्रयोग ये सिद्ध करते हैं कि ब्रह्म जिनदास बाल ब्रह्मचारी थे। विनेश्वर का भक्त होने के कारण अपने का 'जिनदास' कहा है।

इनके जन्म एवं निधन के सम्बन्ध में भी अन्तःसाक्ष्य एवं बहिसक्षि के आधार पर अभी तक कोई निश्चित जानकारी नहीं मिली है। प० परमानन्दजी शास्त्री एवं डा० कस्तूरचन्द कामलीवान ने इनका जन्म समय क्रमशः वि० सं० १४४३ एवं वि० सं० १४४५ के बाद का माना है। सवत् १४८१ में भट्टा० सकलकीर्ति ने ब्रह्म जिनदास के आग्रह से 'मूलाचार प्रदीप' जैसे उच्छांति के आचार-शास्त्र की रचना की।^२ उस समय ब्रह्म जिनदास की आयु कम से कम २०-२५ वर्ष की तो अवश्य होनी चाहिए। इस दृष्टि से 'ब्रह्म जिनदास' का जन्म वि० सं० १४६० या इससे पूर्व का होना चाहिए।

ब्रह्म जिनदास ने अपनी केवल दो रचनाओं में ही रचनाकाल दिया है, अन्यत्र किसी में नहीं। एक 'राम रास' का रचनाकाल स० १५०८ एवं दूसरे 'हरिवंश पुराण

१. राजस्थान के जैन सन्त : डा० कस्तूरचन्द कासली-वाल, पृ० २३।

२. श्री सकलकीर्ति गुरु प्रणमीनि,

मुनि भुवनकीर्ति भवतार।

ब्रह्म जिणदाम कहे निरमनो, रास कियो मेसार ॥

— आदिपुराण रास

३. भ्रातामि तस्य प्रथितः पृथिव्या सद्ब्रह्मचारी जिन-दास नामा। —जम्बू स्वामी चरित्र ॥२८,

४. राजस्थान के जैन सन्त : व्यक्तित्व एवं कृतित्व :

डा० कासलीवाल, पृ० २३।

५. संवत् चौदह सौ इक्यासी भला, श्रावण मास महंतरे।

पूणिमा दिवसे पूरण किया, मूलाचार महंतरे ॥

भ्राता अनुग्रह थकी, कीधा ग्रथ महंत रे ॥

— मूलाचार प्रदीप, भट्टा० सकलकीर्तिकृत ॥

६. सर ब्रह्मचारी गुरुपूर्वकोऽस्य,

भ्राता गुणजोस्ति विशुद्धचित्तः।

जिनेशभक्तो जिनदास नामा,

कामारिजेता विदितो धरिम् ॥२९॥ हरिवंशपुराण

रास' का रचनाकाल सं० १५२० है।^१ इनके प्रतिरिक्त स्वयं कवि ने अन्यत्र किसी भी काल-संवत् का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु 'पद्मा' नामके कवि ने अपने 'वर्द्धमान रास' की रचना में 'ब्रह्म जिनदास' की सहायता का उल्लेख किया है। इस रास का रचनाकाल सं० १५१६ दिया गया है।^२ इसी प्रकार, गजवासीदा (म०प्र०) के बूढ़ेपुरा के जैन मन्दिर में ब्रह्म जिनदास के उपदेश से प्रतिष्ठित सं० १५१६ की मूर्ति प्राप्त हुई है।^३ इन सबसे कवि का समय वि० सं० १४६० से वि० सं० १५२० तो सुनिश्चित है। मूर्ति का लेख इस प्रकार है—

'सं० १५१६ माघ सुदी ५ श्री मूलसषे भ० सकलकीर्तिदेवः तच्छिष्य ब्रह्मश्रीजिनदासस्य उपदेशात् ब० मल्लिदाग जोगडा पोरवाड साहु नाऊ भार्या नेइ आता घणा भार्या हर्पी नित्यं प्रणमति।'

इससे प्रतीत होता है कि ब्रह्म जिनदास प्रतिष्ठाचार्य भी थे। वैसे भट्टा० सकलकीर्ति के मान्निध्य में उन्होंने कई प्रतिष्ठाओं में भाग लिया। इनके समय में भट्टा० सकलकीर्ति द्वारा प्रतिष्ठित अनेको प्रतिमाएँ उदयपुर, डूंगरपुर आदि स्थानों में मिलती हैं और अपने समय के श्रावकों की जिनालयों के निर्माण एवं जीर्णोद्धार की प्रेरणा दी।

ब्रह्म जिनदास ने अपने सभी काव्यों के प्रारम्भ एवं अन्त में अपने गुरु भट्टा० सकलकीर्ति एवं भट्टा० भुवन-कीर्ति का बड़ी ही आदर-भावना से गुण-गान किया है।

इनके प्रतिरिक्त अन्य किसी गुरु का उल्लेख नहीं मिलता। अपने इन दोनों गुरुओं के प्रति ब्रह्म जिनदास की प्रगाढ़ भक्ति एवं प्रसीम श्रद्धा थी। अपने उद्धार के लिए कवि ने अनेक स्थानों पर अपने गुरु से अपनी दीक्षा की याचना की है। 'गुरु जयमाल' नामक १४ पद्यों की लघु-रचना में गुरु का स्तवन किया गया है।

ब्रह्म जिनदास एक साथ विद्वान्, संत एवं कवि तीनों ही थे। उनका अधिकांश समय आत्म-साधना के प्रतिरिक्त अध्ययन एवं अध्यापन में व्यतीत होता था। उन्होंने अपने शिष्यों को हिन्दी एवं संस्कृत का ज्ञान कराकर उनमें धर्म एवं साहित्य के प्रति रुचि जागृत की और साहित्य-सृजन की प्रेरणा दी। उनके सन्तत्व, विद्वत्ता एवं कवित्व से उनके सम-सामयिक विद्वान्, श्रावक-श्राविकाएँ एवं शिष्य-गण प्रभावित हुए। उनकी रचनाओं की भिन्न-भिन्न कालों एवं स्थानों पर की गई प्रतिलिपियाँ इस तथ्य की साक्षी हैं।

जहाँ तक उनके शिष्य-सम्प्रदाय का सम्बन्ध है, हमें अभी तक उनके छ. शिष्यों की^४ जानकारी मिली है। उनके हरिवंश पुराण की प्रशस्ति में मनोहर, मल्लिदास एवं गुण-दास इन तीन शिष्यों का तथा परमव्रम राम में नेमिदास का तथा एक अन्य कृति में शान्तिदाम का उल्लेख मिलता है। रामसीता राम के कर्ता गुण-कीर्ति भी इन्हीं के शिष्य थे।^५ चारुदत्त रास में डा० मल्लिदास एवं नेमिदास का उल्लेख है।

महाकवि ब्रह्म जिनदास अपने गुरु एवं अग्रज भट्टा०

१. संवत् पञ्चर अठोतरा, मागसिर मास विसाल।

शुक्ल पक्ष चउदसि दिनी, रास कियो गुणमाल ॥

— रामरास, ॥६॥

संवत् पनर बीसोतरे, वंशाख मास बीशाल।

सुकल पक्ष चौदसि दिने, रास कियो गुणमाल ॥

— हरिवंशरास, ॥६॥

२. वर्द्धमान रास : पद्मा कवि—आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर।

३. अनेकान्त : प० परमानन्द शास्त्री, वर्ष २४, किरण ५, पृ० २२७।

४. श्री सकलकीर्ति पाय प्रणमीने,

मुनि भुवन कीर्ति गुरु चग।

चारुदत्त गुण वंशजवुं,

ब्रह्म जिनदास भणे मन रग ॥१॥ चारुदत्त रास।

५. शीष्य मनोहर खूबड़ा, ब्रह्म मल्लिदाग गुणदास।

पढ़ो पढ़ावो बहु भाकसू, जिम होय मोरव्य निवास ॥
॥४॥ रामरास।

ब्रह्म जिनदास शिष्य निरमला, नेमिदास सुविचार ॥

— परमहंस रास

६. राजस्थान के जैन सन्त :

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, पृ० १८६ ॥

सकलकीर्ति के सदृश साहित्य-सृजन में अग्रणी रहे। विविध विधाओं में रचित इनका विशाल साहित्य इन्हें सरस्वती का वरद पुत्र सिद्ध करता है। प्राकृत, संस्कृत, गुजराती एवं राजस्थानी आदि भाषाओं पर इनका अपना अधिकार था तथापि लोकभाषा मरु गुर्जर से इनका विशेष अनु-राग था। संस्कृत केवल विद्वानों के बोधगम्य थी। अतः जन सामान्य की दृष्टि से इन्होंने अपने समय की प्रचलित लोकभाषा में (जिसमें कबीर एवं मीरा का साहित्य मिलता है) अपना ८० प्रतिशत साहित्य रचा।^१ यही नहीं, पद्मपुराण, हरिवंश पुराण एवं जम्बू स्वामी चरित्र जैसे विशाल ग्रंथों का प्रणयन, संस्कृत में कर्ण के पश्चात् पुनः उसी विशाल रूप से हिन्दी में भी किया गया। देश भाषा में काव्य-रचना का कारण कवि ने “आदि पुराण रास” के प्रारम्भ में उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है।^२ पं० परमानन्द शास्त्री ने जैन सि० भा० में कवि की ४८ रचनाओं का उल्लेख किया है।^३ डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने इनकी संस्कृत की १२ एवं हिन्दी की ५५ कृतियों का उल्लेख किया है एवं विशिष्ट कृतियों का संक्षिप्त परिचय देकर इन्हें ‘रास शिरोमणि’ सिद्ध किया है।^४ मुझे अपने अनुसंधान में अभी तक इस कवि की कुल ८० कृतियों की उपलब्धि हुई है, जिनमें ६७ हिन्दी की व शेष संस्कृत की है। विषय-वस्तु की दृष्टि से हिन्दी-कृतियों का वर्गीकरण निम्न प्रकार है :—

पुराण काव्य परक—१. आदि पुराण रास, २. रामरास पद्मपुराण रास ३. हरिवंश पुराण रास

चरित्र काव्य परक—४. अजित जिनेश्वर रास, ५. हनु-मंत रास, ६. जीवंधर रास, ७. जंबूस्वामी रास, ८. यशोधर रास, ९. अम्बिकानो रास, १०. सुकुमाल स्वामी रास, ११. गौतम स्वामी रास, १२. श्रेणिक रास, १३. घनकुमार रास, १४. भविष्यदत्त रास, १५. श्रीपाल रास, १६. नागकुमार रास, १७. सुदर्शन रास, १८. भद्रबाहु रास, १९. चारुदत्त रास (णमोकार रास), २०. नागश्री रास (रात्रिभोजन रास) २१. रोहिणी रास।

आख्यान परक काव्य—२२. समकित अष्टांग कथा रास, २३. सासर वामा की रास, २४. होली रास, २५. महायज्ञ विद्याधर कथा।

दानकथा काव्य—२६. लुब्धदत्त विनयवती कथा, २७. सूकात साह की कथा २८. घनपाल कथा रास।

व्रतकथा काव्य—२९. सोलह कारण रास, ३०. दश-लक्षण कथा रास, ३१. अक्षय दशमी रास, ३२. निर्दोष सप्तमी रास, ३३. मोड सप्तमी रास, ३४. चन्दन पष्ठी कथा रास, ३५. आकाश पंचमी कथा रास, ३६. पुष्पांजलि रास, ३७. रविव्रत कथा, ३८. अनन्त व्रत रास।

पूजाकथा काव्य—३९. पुरन्दर विधान कथा, ४०. ज्येष्ठ जिनवर पूजा कथा, ४१. मालिणी पूजा कथा, ४२. मेडूकनी पूजा कथा।

रूपक काव्य—४३. परमहंस रास। ये सब प्रबन्धात्मक काव्य हैं। निम्नलिखित प्रगोतात्मक हैं :—

सिद्धान्तपरक काव्य :—४४. समकित मिथ्यात रास ४५.

१. भवीयण भावई सुणउ आज रास कहू मनोहर।
आदि पुराण जोरकरी, कवित्त कहुं मनोहर ॥१॥
बाल गोपाल जिम पढ़इ सुणइ, जाणै बहुभेद।
जिन सासण गुण निरमला, मिथ्या मतछेद ॥२॥
कठिन नालीप ने दीजि माला हाथ, ते स्वाद न जाणै।
छोल्या केत्या दाख देजे, ते गुण बहु मानै ॥३॥
तीम ए आदि पुराण सार, देस भषा बखानु।
प्रकट गुण जीम वास्तरे, जिन सासण वखानु ॥४॥
रतन माणिक होरा जगा जोति, पारखे अजाण न जाणै।
तीम जिण सासण भेद गुण, भोला किम वरवाणि ॥५॥
तीह कारणि ए रास-चंग, कहं गुणवत।
भवीयण मन संतोष यग, रोखे जयवत ॥६॥

—आदि पुराण रास

२. जैन सिद्धान्तभास्कर, आरा (बिहार)
भाग-२५, किरण-१, पृष्ठ २६।

३. राजस्थान के जैन सन्त :
व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ०-२४१-२५।

४. संस्कृत सास्त्र जोरकरी, सुगमि कीयो गुणमाल।
बाल बोध अति खूबडो, प्रकट करे गुण विसाल ॥
— व० भ० रास

५. संस्कृत सलोक बंधण, कीघु हणमंत एसता।
विस्तार से कथा जानवीए, पद्मपुराण मझारिस ॥
भवीयणनण संशोधवाए, राम की इमि चंगतु।
अंजना गुण बहुवरणकाए, हनुमन्त सहित उत्तंगतु ॥
—हनुमन्त रास

ग्रंथबीस मूलगुण रास, ४६. बारह व्रत गीत ४७.

चौदह गुण स्थान रास, ४८. प्रतिभा ग्यारह का रास ।

उपदेश परक काव्य—४९ निजमनि संबोधन, ५०. जीवडा गीत, ५१. चून्डी गीता, ५२. धर्मतरु गीत, ५३. शरीर सकल गीत ।

स्तुतिपरक काव्य—५४. आदिनाथ स्तवन, ५५. तीन चौवसी विनती, ५६. ज्येष्ठ जिनवर लहान, ५७. जिनवर पूजा होली, ५८. पंच परमेष्ठी गुण वर्णन, ५९. गिरिनारि घवल, ६०. गुरु जयमाल, ६१. जिन-वाणी गुणमाला, ६२. पूजा गीत, ६३. गौरी भास, ६४. मिथ्यादुक्कड विनती ।

स्फुट काव्य—६५. चौरासी न्याति माला, ६६ बंक चूल रास, ६७. धर्मपरीक्षा रास, ६८. कर्मविपाकिन द्वादशा कथा, ६९. प्रेमा चक्रवर्ती ।

काव्य-रूप की दृष्टि से ये रचनाएँ प्रबन्ध काव्य के महाकाव्य, और खण्ड काव्य तथा गीति काव्य के अंतर्गत भी विभक्त की जा सकती हैं । पुराण एवं चरित काव्य महाकाव्य की सीमा में परिगणनीय है तो आख्यानपरक काव्य खण्डकाव्य की सीमा को पटुंचते हैं । शेष रचनाएँ मुक्तक या प्रगीतिकाव्य की विधा में समाविष्ट हो सकती हैं । इन विशाल रचनाओं के धनी महाकवि ब्रह्म जिनदास बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न थे । जैन सिद्धान्त के गहन अध्ययन के साथ-साथ भक्तिपरक साहित्य के निर्माण में उनकी विशिष्ट रुचि थी । साहित्य की विविध विधाओं—पुराण, काव्य, चरित, कथा, स्तवन, पूजा आदि के रूप में मा-भारती के भण्डार को पूर्ण करने में इस महाकवि ने कोई कसर नहीं छोड़ी । इन सबके माध्यम से आत्मोत्थान कवि का एक मात्र प्रतिपाद्य लक्ष्य था । कवि की रचनाएँ किसी एक स्थान पर उपलब्ध नहीं होती । ईडर, बासवाड़ा, मागवाड़ा, गलिया-कोट, डूंगरपुर उदयपुर और ऋषभदेव आदि गुजरात एवं राजस्थान के सीमावर्ती प्रदेशों में कवि के मुख्यतः बिहार एवं साधना स्थल रहे । अतः इन प्रदेशों के जैन शास्त्र भण्डारों में कवि का साहित्य विशेष रूप से उपलब्ध होता है । वैसे जयपुर, अजमेर, प्रतापगढ़, दिल्ली आदि स्थानों के जैन शास्त्रागारों में भी उक्त साहित्य की अनेकों प्रतियाँ मिल जाती हैं । इससे कवि की प्रसिद्धि एवं उसके साहित्य की लोकप्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है ।

ब्रह्म जिनदास उन विरले सौभाग्यशाली सन्त महाकवियों में थे, जिन्हें अपने समय में ही प्रसिद्धि मिल जाती है । उन्होंने अपने काव्यों की रचना के लिए अपने समय की लोक प्रचलित हिन्दी-भाषा को माध्यम चुना । इससे जन-सामान्य को बौद्धिक बुराक मिली । सम-सामयिक

लोगों ने उनकी प्रतिभा की पहिचाना । उनके समय में ही उनके ग्रन्थों की प्रतिलिपियों की यत्न-तन्त्र स्वाध्याय हेतु मांग होने लगी । उनकी काव्य-रचना जन-जीवन के निकट थी । उपलब्ध पांडुलिपियों की प्रशस्तियाँ यह तथ्य उजागर करती हैं कि कवि के लोकवाणी में प्रथमानुयोग काव्यों के प्रणयन में भूत प्रेरक शिष्यगण, श्रावक-श्राविकाएँ एवं विद्वान् थे । कालान्तर में भी उन काव्यों की समय-समय पर प्रतिलिपियाँ की गईं और भिन्न-भिन्न जिनालयों में उन्हें स्वाध्यायार्थ बिराजमान किया गया ।

इस स्वनामधन्य महाकवि ने अपनी ६० से भी अधिक कृतियों से हिन्दी वाङ्मय को समृद्ध किया । हिन्दी साहित्य के आदिकाल में ४० से भी अधिक रास-काव्यों का प्रणयन ब्रह्म जिनदास की अपनी देन है । उनका प्रत्येक रास-काव्य प्रबन्ध काव्य की सीमा को पटुंचता है । मं० १५०८ में रचित प्रलेख 'राम-रामो'—राजस्थानी भाषा की प्रथम जैन रामायण जिसका उल्लेख हिन्दी के फादर कामिल तथा बुल्के ने 'रामकथा परम्परा' में किया है । जो गो० तुलसीदास के रामचरित मानस से सवा-सौ वर्ष पूर्व का है, किसी भी दृष्टि से मानस से कम महत्व नहीं रखता । यह राम-रासो लगभग ६५०० शब्द प्रमाण है । इसमें कोई अत्युक्ति नहीं कि समूचे हिन्दी साहित्य के इतिहास में ब्रह्म जिनदास अपनी सानी नहीं रखते ।

अपनी उत्कट आत्म-साधना के साथ गुरु-भक्ति, तीर्थाटन, नियमित स्वाध्याय, प्रतिष्ठाओं का संचालन और फिर उच्चकोटि का विशाल साहित्य-सृजन, ये सब कार्य ब्रह्म जिनदास जैसे बहुमुखी व्यक्तित्व की ही अनुपम देन हैं । वे अप्रतिम प्रतिभाओं के धनी थे, जिनमें एक साथ अद्भुत विद्वत्ता, उच्च कोटि के साधुत्व, अपने आराध्य के प्रति प्रगाढ़ भक्ति के साथ-साथ अनुपम कवित्वशक्ति और अविचलित आत्म-साधना के सभी गुण विद्यमान हैं । इसीलिए उनका साहित्य प्राणि-मात्र के इह लौकिक एवं पारलौकिक जीवन का अमृदुदयकारक होने से पूर्णतः सत्य शिव और सुन्दर से ओत-प्रोत है । वस्तुतः ब्रह्म जिनदास की हिन्दी साहित्य को उल्लेखनीय देन है । वे अपने युग के प्रतिनिधि कवि हैं । भक्तिकालीन सत साहित्य में वे सर्वोपरि गणनीय हैं । भाव, भाषा, वस्तु-विधान आदि सभी दृष्टियों से उनका काव्य-सृजन उल्लेखनीय है । हिन्दी वाङ्मय की अनुपम सेवा की दृष्टि से हिन्दी साहित्य-संसार सदा सर्वदा महाकवि ब्रह्म जिनदास का कृतज्ञ रहेगा ।

राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, मनोहरपुर (जयपुर)

जैन देवकुल में यक्षी चक्रेश्वरी

□ डा० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, वाराणसी

हिन्दू एवं बौद्ध धर्मों के समान ही जैन धर्म भी भारत का एक प्रमुख धर्म रहा है। जैन धर्म का अस्तित्व लगभग आठवीं शती ई० पू० में २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में स्वीकार किया जाता है। कुछ विद्वान् सिन्धु सभ्यता (लगभग ३००० ई० पू०) में जैन धर्म का अस्तित्व — प्रतिपादित करते हैं, जिसे निर्णायक प्रमाणों के अभाव में स्वीकार नहीं किया जा सकता। जैन देवकुल में २४ तीर्थंकरों (या जिनों) को सर्वोच्च महत्ता प्रदान की गई। इन्हें देवाधिदेव कहा गया। जैन देवकुल के अन्य सभी देवताओं को किसी न किसी रूप में जिनों से उनके सहायक के रूप में संबद्ध किया गया। छठी से दसवीं शती ई० के मध्य तार्किक प्रभाव के फलस्वरूप सभी धर्मों में नवीन देवताओं को सम्मिलित कर देवकुल का विस्तार किया गया। जैन देवकुल में वृद्धि की यह प्रक्रिया छठी शती ई० में प्रारम्भ हुई और तेरहवीं-चौदहवीं शती ई० तक चलती रही। छठी शती ई० में जिनों के साथ उपासक देवताओं के रूप में यक्ष-यक्षी युगलों को सश्लिष्ट किया गया, जिनकी उपासना से अनुसूय अपनी भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकता था। उल्लेखनीय है कि वीतरागी जिनों की उपासना से सासारिक सुख-समृद्धि की प्राप्ति संभव नहीं थी।

आठवीं-नवीं शती ई० में, श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में प्रत्येक जिन के साथ एक स्वतन्त्र लाक्षणिक स्वरूपों का निर्धारण दसवीं-ग्यारवीं शती ई० यक्ष यक्षी युगल की कल्पना की गई। इन यक्ष-यक्षी युगलों में स्वतन्त्र में हुआ। यक्ष यक्षी युगल जिनों के चतुर्विध सध के शासन एवं रक्षक देव होते हैं। जैन मान्यता के अनुसार केवल ज्ञान प्राप्त होने के बाद सभी जिनों ने अपना प्रथम उपदेश देवनिमित्त सभा (समवसरण) में दिया था और उसी सभा में इन्द्र ने प्रत्येक जिन के साथ एक यक्ष-यक्षी युगल

को शासनदेवता के रूप में नियुक्त किया था। जैन ग्रंथ हरिवंश पुराण (दसवीं शती) के ६६वें सर्ग में स्पष्ट उल्लेख है कि २४ जिनों के निकट रहकर उनकी सेवा करने वाले शासन देवता सज्जनों का हित और शुभ कार्यों की विघ्नकारी शक्तियों, ग्रह, नाग, भूत, पिशाच, राक्षस—को शान्त करते हैं। यक्ष-यक्षी युगलों को जिन मूर्तियों के मिहामन या सामान्य पीठिका के दाहने और बायें छोरों पर निरूपित किया गया है। लगभग नवीं शती ई० से यक्ष एवं यक्षी की स्वतन्त्र मूर्तियाँ प्राप्त होने लगती हैं।

चक्रेश्वरी (या अग्रतिचक्रा) प्रथम जिन आदिनाथ (या ऋषभनाथ) की यक्षी है। चक्रेश्वरी जैन देवकुल की चार सर्वाधिक लोकप्रिय यक्षियों में एक है। अन्य यक्षिया अंनिका, पद्मावती और सिद्धाधिका हैं, जो क्रमशः २२वें, २३वें एवं २४वें तीर्थंकरों नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर की यक्षिया हैं। जैन चक्रेश्वरी के स्वरूप पर विष्णु की शक्ति वैष्णवी (या चक्रेश्वरी) का स्पष्ट परिलक्षित होता है। जैन लाक्षणिक ग्रंथों में यह प्रभाव देवी के गरुडवाहन एवं भुजा में चक्र के प्रदर्शन के सन्दर्भ में देखा जा सकता है।^१

परन्तु मूर्त अंकनों में यह प्रभाव गरुडवाहन और भुजाओं में चक्र के अतिरिक्त, शंख और गदा के प्रदर्शन के सन्दर्भ में भी प्राप्त होता है। हिन्दू देवी वैष्णवी के प्रभाव का स्पष्ट संकेत कुभारिया (गुजरात) के महावीर जैन मन्दिर की छत पर उत्कीर्ण चक्रेश्वरी की मूर्ति में देखा जा सकता है। मूर्ति लेख में जैन यक्षी को 'वैष्णवी' देवी कहा गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण, रूपमण्डन एवं देवपुराण जैसे ब्राह्मण ग्रंथों में किरौटमकुट से शोभित गरुडवाहन वैष्णवी की भुजाओं में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म के प्रदर्शन का निर्देश दिया गया है।

इसी प्रसंग में यह उल्लेख आवश्यक है कि हिन्दू प्रभाव

केवल जैन यक्षी चक्रेश्वरी के निरूपण तक ही सीमित नहीं रहा है। २४ यक्ष एवं यक्षियों की सूची में से अधिकांश के नामों एवं लाक्षणिक विशेषताओं को जैनो ने हिन्दू और कुछ उदाहरणों में बौद्ध देवों से ग्रहण किया था। हिन्दू देवकुल विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, स्कन्द, कार्तिकेय, काली, गौरी, सरस्वती, चामुण्डा और बौद्ध देवकुल की तारा, वज्र-शृङ्खला, वज्रतारा एवं वज्राकुशी के नामों और लाक्षणिक विशेषताओं को जैन धर्म में ग्रहण किया गया। जैन देवकुल के गरुड़, वरुण, कुमार यक्षी, और अम्बिका, पद्मावती, ब्रह्माणी यक्षियों के नाम हिन्दू देवकुल से ग्रहण किये गए, पर उनकी लाक्षणिक विशेषताएं स्वतन्त्र थीं। दूसरी ओर ब्रह्मा, ईश्वर, गामुख, भृकुटि, षण्मुख, यक्षेन्द्र, पाताल, धरणेन्द्र, कुबेर यक्षी और चक्रेश्वरी, विजया, निर्वाणी, काली, महाकाली, तारा, वज्रशृङ्खला यक्षिया के नामों एवं लाक्षणिक विशेषताओं दोनों को हिन्दू देवकुल से ग्रहण किया गया था। यक्ष-यक्षियों के अतिरिक्त जैन देवकुल के राम, कृष्ण, बलराम, महाविद्या, सरस्वती, लक्ष्मी, गणेश, नैगमेषिन्, भैरव एवं क्षत्रपाल आदि देवों को भी हिन्दू देवकुल से ही ग्रहण किया गया था।

प्रामाशास्त्रीय ग्रंथों में चक्रेश्वरी

श्वेताम्बर परम्परा में चक्रेश्वरी का अष्टभुज और दिगम्बर परम्परा में चतुर्भुज एवं द्वादशभुज निरूपित किया गया है। दोनों ही परम्पराओं में गरुड़वाहन चक्रेश्वरी के चक्रों में चक्र एवं वज्र के प्रदर्शन के सम्बन्ध में समानता प्राप्त होती है। श्वेताम्बर ग्रन्थ निर्वाणकलिका (१०वीं शती) के अनुसार यक्षी दक्षिण भुजाओं में वरद-मुद्रा, बाण, चक्र, पाश और वाम में घनुष, वज्र, चक्र, अक्षर धारण करती है।

“अप्रतिचक्राभिधाना यक्षिणी

हेमवर्णी गरुड़वाहनामष्टभुजा।

वरदबाणचक्रपाशयुक्तदक्षिणकरां

धनुषं वज्रचक्रां कुशवामहस्तां चेति ॥”

--निर्वाणकलिका : १८।१

दिगम्बर ग्रन्थ प्रतिष्ठासारसंग्रह (१२वीं शती) में चक्रेश्वरी का चतुर्भुज एवं द्वादशभुज स्वरूपों में ध्यान

किया गया है। चतुर्भुजा यक्षी की दो भुजाओं में चक्र और अन्य दो में फल एवं वरदमुद्रा के प्रदर्शन का विधान है। द्वादशभुज यक्षी की आठ भुजाओं में चक्र, दो में वज्र एवं अन्य दो में फल एवं वरदमुद्रा प्रदर्शित होगी।

वामे चक्रेश्वरी देवी स्थाप्यद्वादशसवभुजा।

धत्ते हस्तद्वये वज्रं चक्राणी च तथाष्टसु ॥

एकेन बीजपूरं तु वरवा कमलासना।

चतुर्भुजायवाचक्रं द्वयोर्गरुडवाहनं ॥

—प्रतिष्ठासारसंग्रह : ५, १५-१६।

तांत्रिक ग्रंथों में चक्रेश्वरी के भयावह स्वरूप का उल्लेख है। ऐसे स्वरूप में तीन नेत्रों एवं भयंकर दर्शनवाली यक्षी चक्र, पद्म, फल एवं वज्र से युक्त है। दक्षिण भारतीय श्वेताम्बर परम्परा में गरुड़वाहना चक्रेश्वरी को द्वादशभुज बताया गया है, जबकि दिगम्बर परम्परा में यक्षी षोडशभुज है। भुजाओं के आयुधों के सम्बन्ध में उत्तर भारतीय परम्परा का ही अनुकरण किया गया है।

मूर्त अंकनों में चक्रेश्वरी

मूर्त अंकनों में किरीटमुकुट से शोभित चक्रेश्वरी को सदैव मानव रूप में उत्कीर्ण गरुड़ पर आरोढ़ प्रदर्शित किया गया है। यक्षी की भुजाओं में चक्र के साथ ही गदा और शंख का नियमित चित्रण हुआ है। केवल उड़ीसा से प्राप्त चक्रेश्वरी मूर्तियों में गदा और शंख के स्थान पर खड्ग, खटक एवं वज्र का प्रदर्शन प्राप्त होता है। यक्षी की एक भुजा से सामान्यतः वरदमुद्रा (या अभयमुद्रा) प्रदर्शित है। देवी अविकाशतः एक पैर नीचे लटकाकर ललित मुद्रा में आसीन है। तीर्थंकर ऋषभनाथ की मूर्तियां क सिंहासन छारों पर चक्रेश्वरी का अंकन जहाँ आठवीं शती ई० में ही प्रारम्भ हो गया, वहीं यक्षी की स्वतन्त्र मूर्तियां नवीं शती ई० में बनीं। श्वेताम्बर स्थलों पर परम्परा के विपरीत चक्रेश्वरी का केवल चतुर्भुज स्वरूप में निरूपण ही लोकप्रिय रहा है। पर दिगम्बर स्थलों पर चक्रेश्वरी की द्विभुज से विंशतिभुज मूर्तियां बनीं। चक्रेश्वरी की मूर्तियों के विकास की दृष्टि से दिगम्बर स्थलों की मूर्तियां महत्वपूर्ण रही हैं। राजस्थान एवं गुजरात से श्वेताम्बर और अन्य क्षेत्रों से दिगम्बर परम्परा की मूर्तियां प्राप्त होती हैं। दक्षिण भारत की मूर्तियों में गरुड़वाहन का

चित्रण बहुत नियमित नहीं रहा है। साथ ही, भुजाओं में शंख और गदा का प्रदर्शन भी दुर्लभ रहा है। इस क्षेत्र में यक्षी की भुजाओं में चक्र, वज्र एवं पद्म के प्रदर्शन में नियमितता प्राप्त होती है।

चक्रेश्वरी की प्राचीनतम स्वतन्त्र मूर्ति उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिले में स्थित देवगढ़ (दिगम्बर) के मंदिर १२ की भित्ति से प्राप्त होती है। ८६२ ई० में निर्मित मन्दिर सं० १२ (शान्तिनाथ मन्दिर) की भित्ति पर जैन देवकुल की सभी २४ यक्षियों का अंकन प्राप्त होता है, जो २४ यक्षियों के सामूहिक चित्रण का प्रारम्भिकतम उदाहरण है। त्रिभग में खड़ी चतुर्भुज चक्रेश्वरी की सभी भुजाओं में चक्र है। गरुडवाहन दाहिने पाद में नमस्कार मुद्रा में खड़ा है। मूर्तिलेख में यक्षी का नाम 'चक्रेश्वरी' उत्कीर्ण है। यक्षी के निरूपण में जैन देवकुल की पाँचवीं महाविद्या अष्टचक्रा के स्वरूप का अनुकरण किया गया है, जिसकी सभी भुजाओं में चक्र के प्रदर्शन का विधान रहा है। महाविद्या की चारणा यक्षी चक्रेश्वरी की अपेक्षा प्राचीन रही है।

प्रारम्भिक दसवीं शती की दो अष्टभुज मूर्तियाँ मध्यप्रदेश के बिदिशा जिले में स्थित ग्यारसपुर के माला-देवी मन्दिर के शिखर पर उत्कीर्ण हैं। इनमें यक्षी के अवशिष्ट करो में छल्ला, वज्र, चक्र, चक्र, चक्र और शंख प्रदर्शित हैं। दसवीं शती की एक दशभुजा चक्रेश्वरी मूर्ति पुरातात्विक संग्रहालय, मथुरा (क्रमांक-०० डी-६) में सुरक्षित है। पद्मासन पर समभग में खड़ी यक्षी की नौ सुरक्षित भुजाओं में चक्र स्थित है। दो सेविकाओं से सेवित देवी के शीर्षभाग में लघु जिन आकृति उत्कीर्ण है। दिगम्बर स्थल खजुराहो (छतरपुर, मध्य प्रदेश) से यक्षी की दसवीं से बारहवीं शती के मध्य चार से दस भुजाओं वाली कई मूर्तियाँ मिली हैं। यहाँ की चतुर्भुज मूर्तियों में गदा, चक्र, शंख और अभयमुद्रा (या पद्म) प्रदर्शित हैं। घण्टई मन्दिर (१०वीं शती) के प्रवेश द्वार पर चक्रेश्वरी की अष्टभुज मूर्ति निरूपित है। यक्षी के हाथों में फल, घण्टा, चक्र, चक्र, चक्र, धनुष एवं कलश है। पार्श्वनाथ मन्दिर (८५४ ई०) के प्रवेश द्वार की मूर्ति में दशभुजा यक्षी वरद, खड्ग, गदा, चक्र, पद्म, चक्र, धनुष, फलक, गदा

और शंख से युक्त है।

देवगढ़ में चक्रेश्वरी का चतुर्भुज स्वरूप सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है। पर यक्षी की षड्भुज, अष्टभुज, दशभुज एवं विंशतिभुज स्वरूपों में भी अभिव्यक्त किया गया। उल्लेखनीय है कि नवी (८६२ ई०) से बारहवीं शती के मध्य की चक्रेश्वरी की सर्वाधिक स्वतन्त्र मूर्तियाँ देवगढ़ से ही प्राप्त हुई हैं। अधिकांश उदाहरणों में किरीटमुकुट से अलंकृत गरुडवाहन यक्षी के हाथों में चक्र, शंख एवं गदा है। बहुभुजी मूर्तियों में चक्र, शंख, गदा के अतिरिक्त खेटक, खड्ग, परशु एवं वज्र का प्रदर्शन लोकप्रिय रहा है। चतुर्भुज यक्षी की द्विभग में खड़ी एक मूर्ति मन्दिर १२ के अर्धमण्डप के स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। यक्षी के करो में वरदमुद्रा, गदा, शंख एवं चक्र प्रदर्शित हैं। षट्भुज चक्रेश्वरी की एक मूर्ति (११वीं शती ई०) मन्दिर १२ की दक्षिणी चहारदीवारी पर उत्कीर्ण है। यक्षी वरदमुद्रा, खड्ग, चक्र, चक्र, गदा एवं शंख से युक्त है। अष्टभुज चक्रेश्वरी की तीन मूर्तियाँ हैं। ग्यारहवीं शती की एक मूर्ति मन्दिर सं० १ के मानस्तम्भ पर उत्कीर्ण है, जिसमें यक्षी की भुजाओं में वरदमुद्रा, गदा, वाण, छल्ला, छल्ला, वज्र, चाप एवं शंख है। मन्दिर १४ की बारहवीं शती ई० की एक मूर्ति में तीन हाथों में चक्र और शेष में दण्ड, खड्ग, अभयमुद्रा, परशु एवं शंख प्रदर्शित हैं।

दशभुजा यक्षी की एक मूर्ति मन्दिर ११ के समक्ष के मानस्तम्भ (१०५६ ई०) पर उत्कीर्ण है। यक्षी वरद-मुद्रा, वाण, गदा, खड्ग चक्र, चक्र, खेटक, वज्र, धनुष एवं शंख से युक्त है। विंशतिभुज चक्रेश्वरी की ग्यारहवीं शती की तीन मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं, जिनमें से दो स्थानीय साहू जैन संग्रहालय में सुरक्षित हैं। साहू जैन संग्रहालय की एक विंशतिभुज मूर्ति में चक्रेश्वरी के साथ दो उपासको, चामरधारिणी सेविकाओं, पद्म धारण करने वाली पुरुष आकृतियों, उड्डीयमान मालाधरों एवं ऊपर की ओर जैन यक्षी पद्मावती और सरस्वती की भी आभूषित किया गया है। चक्रेश्वरी की केवल सात ही भुजाएँ सुरक्षित हैं, जिनमें चार में चक्र और अन्य में वरदाक्ष, खेटक और शंख प्रदर्शित हैं। संग्रहालय की दूसरी मूर्ति में चामरधारिणी सेविकाओं एवं उड्डीयमान मालाधरों से युक्त चक्रेश्वरी

को सभी भुजाएं सुरक्षित है। देवी की छह भुजाओं में चक्र एवं ग्रन्थ में शृङ्खला से युक्त घण्ट, खेटक, वज्र, खड्ग, तूणीर, मुद्गर, गदा, व्याख्यानमुद्रा—अक्षमाला, परशु, दण्ड, शंख, धनुष, सर्प एवं शूल प्रदर्शित है। देवी के शीर्षभाग में तीन जिन मूर्तियाँ निरूपित हैं। बहुभुज चक्रेश्वरी की ग्यारहवीं शती की एक मनोज्ञमूर्ति मध्य प्रदेश के गोलकोट नामक स्थल से प्राप्त होती है।

उड़ीसा की खण्डगिरि पहाड़ी (पुरी जिला) की नवमुनि गुफा में ग्यारहवीं शती की दमभुजा चक्रेश्वरी की एक मूर्ति है। जटामुकुट से शोभित गरुडवाहना यक्षी योगासन मुद्रा में दोनों पैर मोड़कर बैठी है। चक्रेश्वरी के सात हाथों में चक्र, दो में खेटक, अक्षमाला एवं एक हाथ योगमुद्रा में गोद में स्थित है। उड़ीसा की खण्डगिरि पहाड़ी की बारभुजा गुफा में द्वादशभुज चक्रेश्वरी की एक मूर्ति है। गरुडवाहना देवी की छह दक्षिणभुजाओं में वरद-मुद्रा, वज्र, चक्र, चक्र, अक्षमाला एवं खड्ग हैं, और तीन वामभुजाओं में खेटक, एवं सनाल पद्म हैं और तीन भुजाएं खण्डित हैं।

पश्चिम भारत के किसी स्थल से प्राप्त लगभग दसवीं शती की एक अष्टभुज मूर्ति राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली (क्रमांक ६७-१५२) में सुरक्षित है। गरुडवाहना यक्षी की ऊपर की छह भुजाओं में चक्र और ग्रन्थ दो में वरद-मुद्रा एवं फल प्रदर्शित है। कुमारिया (बनासकाठा, गुजरात) के शातिनाथ एवं महावीर मन्दिरों (११वीं शती) की छतों पर उत्कीर्ण ऋषभनाथ के जीवन दृश्यों में भी चतुर्भुज चक्रेश्वरी निरूपित है। शातिनाथ मन्दिर के उदाहरण में यक्षी वरदमुद्रा, चक्र, चक्र एवं शंख से युक्त है। महावीर मन्दिर के उदाहरण में “वैष्णवी देवी” के नाम से सम्बोधित यक्षी के करो में वरदमुद्रा, गदा, सनालपद्म एवं शंख प्रदर्शित है। गुजरात एवं राजस्थान के श्वेताम्बर स्थलों की चक्रेश्वरी मूर्ति के सन्दर्भ में एक प्रमुख बात यह है कि इन स्थलों पर यक्षी चक्रेश्वरी और पाँचवीं महाविद्या प्रतिचक्रा के निरूपण में अत्यधिक समानता प्राप्त होती है। इस कारण कभी-कभी यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि मूर्ति यक्षी की है या महाविद्या की। यद्यपि लाक्षणिक ग्रन्थों में दोनों के लिए स्वतन्त्र विशेषताएँ वर्णित हैं, पर मूर्त अभिव्यक्तियों में उनका निर्वाह नहीं किया गया।

दक्षिण भारत में यक्षी का चतुर्भुज, षट्भुज, अष्टभुज एवं द्वादशभुज स्वरूपों में निरूपण हुआ है। ग्यारहवीं

बारहवीं शती की एक चतुर्भुज मूर्ति कर्नाटक की कम्बड़ पहाड़ी स्थित शातिनाथ बस्ती के नवरंग स मिला है। गरुडवाहना यक्षी ने अभयमुद्रा, चक्र, चक्र एवं पद्म धारण किया है। होयसलकालीन एक षट्भुज मूर्ति कर्नाटक के जिननाथपुर स्थित जैन मन्दिर की दक्षिणी भित्ति पर है। यक्षी के करो में वरमुद्रा, वज्र, चक्र, चक्र, वज्र एवं पद्म प्रदर्शित हैं। बम्बई के सेंट जाविअर कालेज के इण्डियन हिस्टारिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट संग्रहालय में सुरक्षित ऋषभमूर्ति में चक्रेश्वरी द्वादशभुज है। त्रिभंग में खड़ी यक्षी की आठ भुजाओं में चक्र, दो में वज्र एवं एक में पद्म प्रदर्शित है। एक भुजा खण्डित है। द्वादशभुज चक्रेश्वरी की एक अन्य मूर्ति एलौरा (महाराष्ट्र) की गुफा ३० में देखी जा सकती है। गरुडवाहना चक्रेश्वरी के पाँच अवशिष्ट दक्षिण करो में पद्म, चक्र, शंख, चक्र एवं गदा प्रदर्शित है। यक्षी की केवल एक ही वामभुजा सुरक्षित है, जिसमें खड्ग स्थित है।

□ □ □

डी-५१/१६४वी, सूरजकुण्ड, वाराणसी-२२१००१ (उ० प्र०)

सम्बन्ध सूची

१. शाह, यू० पी०—आइकानोग्राफी आफ चक्रेश्वरी, दि यक्षी आफ ऋषभनाथ, जर्नल आफ दि ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट आफ बड़ौदा, ख० २०, अ० ३, मार्च १९७१, पृ० २८०-३११।
२. 'तिवारी' मारुतिनन्दन प्रसाद, 'दि आइकानोग्राफी आफ दि जैन यक्षी चक्रेश्वरी', अमण (वाराणसी), वॉ० २७, अ० १०, अगस्त १९७५, पृ० २४-३३।
३. शर्मा, बृजेन्द्रनाथ—'अन्यब्लिण्ड जैन ब्रोज़ेज इन दि नेशनल म्यूजियम', जर्नल आफ दि ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, ख० १९, अ० ३, मार्च १९७०, पृ० २७५-७६।
४. गुप्ता, एस० पी० तथा शर्मा, बी० एन०—'गदावल, और जैन मूर्तियाँ', अनेकांत, ख० १९, अ० १-२, अप्रैल-जून १९६६, पृ० १३०।
५. मित्रा, देबला—'शासन देवीज इन दि खण्डगिरि केवस', जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी, ख० १, अ० २, १९५६, पृ० १२७-३३।

भानपुरा संग्रहालय की जैन यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाएँ

□ श्री रवीन्द्र भारद्वाज, एम. ए., उज्जैन

मंदसौर जिले की भानपुरा तहसील अपने अन्दर प्राचीन शिल्प वैभव को समेटे हुए है।

परमारो से राज्य में जिन छोटे-छोटे और आंचलिक महत्व के कलाकेन्द्रों का विकास हुआ, उनमें मोड़ी एवं हिग्लाजगढ़ का विशिष्ट स्थान है। मोड़ी तो भानपुरा से १२ कि० मी० पश्चिम में स्थित था और हिग्लाजगढ़ २२ कि० मी० की दूरी पर उत्तर पश्चिम में। यहाँ पश्चिमी मालवा शैली विकसित एवं परिष्कृत हुई^१।

परमार काल में शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों के अतिरिक्त यहाँ जैन धर्म का भी व्यापक प्रसार हुआ। इस क्षेत्र के परमार कालीन सधारा^२, केयुनी^३, कंवना^४ और नीमथूर^५ के जैन मन्दिर इसके प्रमाण हैं।

परमारो के समय की प्राचीनतम अभिलिखित जैन यक्षिणी अष्टयुता की प्रतिमा सन् १०७५ (१०१८ ई०) यही हिग्लाजगढ़ से प्राप्त हुई है।^६

भानपुरा पुरातत्त्व संग्रहालय में यहाँ की जैन-मूर्ति-शिल्प धरोहर सुरक्षित है। पुरातत्त्व संग्रहालय में हिग्लाजगढ़ की यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाएँ परमारकाल की कला का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती हैं।

इनमें प्रमुख हैं परमारकालीन गोमेय यक्ष एवं अम्बिका की मूर्ति, जो कि भद्रपीठ पर आसनस्थ हैं। इस प्रतिमा का आकार—ऊँचाई ८२ से० मी०, चौड़ाई ४६ से० मी० तथा मोटाई ८ से० मा० है। गोमेय यक्ष तथा अम्बिका क्रमशः वाम तथा सव्यललितासन में हैं। प्रतिमा का प्रभामण्डल आभ्रवृक्ष का तथा नीचे इनका वाहन सिंह का अंकन है। प्रतिमा के ऊपर आसनक मुद्रा में पाश्वनाथ (?) तथा दोनों ओर स्थानक तीर्थंकर हैं। प्रतिमा के पार्श्व में चैवर्धारी पुरुष का अंकन है। प्रतिमा

के निचले भाग में मान अश्वारोही दशयि गये हैं।

एक अन्य अम्बिका की प्रतिमा हिग्लाजगढ़ से प्राप्त हुई है। यह भानपुरा संग्रहालय की शिल्प कृतियों में से एक है।

इस क्षेत्र की आंचलिक शिल्प विशेषता यह रही है कि प्रतिमाएँ लघु स्तम्भों से निर्मित रथिका में बनाई गई हैं। अम्बिका की प्रतिमा भी रथिका में स्थित है जो कि लघु-स्तम्भों के द्वारा निर्मित है। ऊपर कलात्मक चैत्य अलकरण है।

किरीट मुकुटधारिणी अम्बिका सव्यललितासन में आसनक है। दाहिना हस्त आभ्रलुम्बि युक्त तथा वाम शिशु को सहारा दिये हैं। अन्य ब्राह्मण प्रतिमाओं के सदृश ही अम्बिका की मूर्त्तिकृति गोलाई लिए सौम्य मुद्रा में है। उभरी हुई ठुडो तथा पलकों का अंकन में नुकीला-पन है। प्रतिमा के ओठ, वक्षस्थल तथा कटिप्रदेश के अंकन में सुरुचिपूर्ण मृदुता, लावण्य और मांसलता है। उन्नत और कठिन पयोधर पर कुचवन्धों का आलेखन किया गया है। प्रतिमा का अलकरण दृष्टव्य है—किरीट मुकुट, कुण्डन, श्रेयिक, स्तन पर मणिमाला, स्तनों के मध्य झूलता हिवकासूत्र, स्कन्धमाला, केशुर, कटिसूत्र तथा मखला और पैर नूपुरों से अलंकृत हैं। प्रतिमा के ऊपरी भाग में 'आसनक तीर्थंकर' प्रतिमा है। आभ्र वृक्ष का प्रभामण्डल और नीचे अम्बिका का वाहन सिंह का अंकन है। यह प्रतिमा लाल सिकताश्म की बनी है।

इस प्रकार, भानपुरा क्षेत्र परमारकालीन जैन शिल्प की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रखता है। □□□

पुरातत्त्व विभाग, विक्रम
विश्वविद्यालय, उज्जैन (म० प्र०)

१. श्री गंग, आर. एस.—मोड़ी-मण्डल का शिल्प वैभव—(प्रोग्रेसिव रिपोर्ट आफ आर्कैलाजिकल सर्वे, वेस्टर्न सकिल—वर्ष १९२०)।

२. PRAS. WC., P. ८८-९१

३. वही, पृ० ६२

४. वही, पृ० ८३

५. भारद्वाज, रवीन्द्र, भानपुरा का अप्रकाशित जैन शिल्प, बोरवाणी, वर्ष ३१, अंक ६, पृ० १४६।

६. श्रीगंग—मोड़ी-मण्डल का शिल्पवैभव—टंकितप्रति-प्रकाशनाधीन।

रामगुप्त और जैन धर्म

□ डा० सोहनकृष्ण पुरोहित, जोधपुर

गुप्तवंशी नरेशों के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी उसका द्वितीय पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त बना। परन्तु विशाखदत्त द्वारा रचित 'देवी चन्द्रगुप्तम्' नाटक के उपलब्ध अंशों, वाण के 'हर्षचरित' राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' तथा एक मुस्लिम कृति मज्जिमल-उत तवारीख' आदि साहित्यिक साधनों एवं राष्ट्र-कूटों के सजने, केम्बे तथा मांगली दानपत्रों के सम्मिलित साक्ष्यों से संकेतित है कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त उत्तराधिकारी बना, जिसके अनुज द्वितीय चन्द्रगुप्त ने उसे मारकर मिहामन पर अधिकार कर लिया था। उपर्युक्त साक्ष्यानुसार रामगुप्त एक कायर एवं कुल के लिए कलक तुल्य था। शक नरेश द्वारा घेर लिए जाने पर उसने अपनी पत्नी ध्रुव देवी का शकाधिपति को देना स्वीकार कर लिया था। लेकिन द्वितीय चन्द्रगुप्त ने शकाधिपति को धोखे से मारकर सम्राज्ञी और साम्राज्य का सम्मान बढ़ाया। बाद में अवसर पाकर रामगुप्त की भी हत्या करके मिहामन पर अधिकार और ध्रुव देवी से विवाह कर लिया। ये घटनाएँ ऐतिहासिक हैं अथवा नहीं, इस विषय पर करीब पिछले पचास वर्षों से बड़ा विवाद चला आ रहा है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों में रामगुप्त की मुद्राएँ और अभिलेख प्रकाश में आ जाने से उसकी ऐतिहासिकता प्रमाणित हो गई है।

रामगुप्त की मुद्राएँ विदिशा, एरिकिणप्रदेश (पूर्वी-मालवा) से प्राप्त हुई हैं। डा० के० डी० वाजपेयी ने इन मुद्राओं को चार प्रकारों में विभाजित किया है, जो इस प्रकार हैं—सिंह, गरुड़, गरुड़ध्वज और बाडर लिजेण्ड। इन मुद्राओं पर गरुड़ध्वज का अंकन उसे गुप्तवंशीय नरेश प्रमाणित करता है। उसके अभिलेख विदिशा के निवट दुर्जंतपुर ग्राम से प्राप्त हुए हैं। ये जैन मूर्ति अभिलेख हैं जिनकी स्थापना रामगुप्त ने करवाई थी। प्रथम एवं तृतीय अभिलेख के अनुसार, रामगुप्त ने चेलुक्षमण नामक आचार्य के उपदेशानुसार चन्द्रप्रभ नामक ग्रहंत की प्रतिमा स्थापित करवाई थी। द्वितीय लेख के अनुसार, उसने पुष्पदन्त नामक ग्रहंत की मूर्ति का निर्माण करवाया था।

हमारा मान्यता है कि गुप्तवंशीय नरेश होने के कारण उसने मुद्राओं पर गरुड़ का अंकन जारी रखा। लेकिन वास्तव में रामगुप्त का भुक्ताव जैन धर्म की ओर था जिसका प्रमाण उसके जैन प्रतिमालेख है। विशाखदत्त उसे कायर कहकर पुकारता है। लेकिन हम विशाखदत्त के विचारों से सहमत नहीं हैं। हमारी धारणा है कि शकाधिपति ने जब रामगुप्त पर आक्रमण किया, उस समय उसने (रामगुप्त ने) कायरता के कारण ध्रुवदेवी को देना स्वीकार किया था। अपितु रामगुप्त एक कट्टर जैन धर्मावलम्बी कट्टर नरेश था। इसलिए उसने सोचा कि यदि शकाधिपति से युद्ध किया जायेगा तो युद्ध में सैकड़ों व्यक्ति मारे जायेंगे।

१. भीतरी स्तम्भ लेख।

२. गुप्त, परमेश्वरीलाल—गुप्त साम्राज्य, पृ० १२३-१३०

३. वही, पृ० १३८। ४. वही।

५. इलियट, डाउसन—हिस्टरी ऑफ इण्डिया एज टोलड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, १, पृ० ११०।

६. ए० इ० ४, पृ० २५७, ए० इ० १७, पृ० २४८।

७. ज० न्यू० सो० ड० १२, पृ० १०३, १३, पृ० १२८

८. जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्टरी, ४२, पृ० ३८६।

९. प्रथम पंक्ति—भगवतोऽर्हतः। चन्द्रप्रभस्य प्रतिमेय कारिता।

द्वितीय पंक्ति—महाराजाधिराज, श्री रामगुप्तेन, उपदेशात् पाणिना—

तृतीय पंक्ति—त्रिक चन्द्रक्षमाचार्य क्षमण श्रमण-प्रशिष्याचार्य—

चतुर्थ पंक्ति—सर्पसेनलक्ष्मणशिष्यस्य गोदक्या-स्त्यासत्पुत्रस्य चेलुक्षमणस्येति।

१०. प्रथम पंक्ति—भगवतोऽर्हतः (चन्द्रप्रभ) स्य प्रतिमेय कारिता महा(राजा) धिराराज

द्वितीय पंक्ति—श्री (रामगुप्ते)न उपदेशात् (पा) नि (पात्रि)...

तृतीय पंक्ति चतुर्थ पंक्ति ..

११. (१) भगवतोऽर्हतः। पुष्पदन्तस्य प्रतिमेयं कारिता।

(२) महाराजाधिराज श्री रामगुप्ते उपदेशात् पाणिपात्रिक।

(३) चन्द्रक्षम (णा) चार्य-क्षमण-श्रमण प्रशि (ष्यस्य)

(४)

१२. ज० न्यू० सो० ड० २३, पृ० ३३१-४३।

फुलान की अप्रकाशित जैन प्रतिमाएं

□ डा० सुरेन्द्र कुमार शर्मा, उज्जैन

उज्जैन से ३२ किलोमीटर पश्चिम दिशा में नागदा-इंदौर बस मार्ग पर फुलान ग्राम स्थित है। यह उज्जैन जिले की बड़मगर तहसील में आता है। यहाँ पर विप्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन व मध्य प्रदेश राज्य-पुरातत्व विभाग के संयुक्त तत्वावधान में पुरातात्विक सर्वेक्षण किया गया है। यह सर्वेक्षण दंगवाड़ा-उत्खनन वर्ष १९७६ के कार्य का ही एक अंग था। डा० वि० श्री वावणकर के मार्गदर्शन में यह सर्वेक्षण किया गया था: नरसिंगा ग्राम से २ कि० मी० पूर्व की ओर फुलान ग्राम स्थित है। यहाँ पर मौर्यकाल, शकयुग व गुप्तकाल के अवशेष मिलते हैं और टीले पर बसा हुआ जो प्राचीन ग्राम का स्थान है, वह अब उजाड़ है। इस टीले पर सर्वेक्षण के दौरान तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व की ताम्र आहत मुद्राएं मिली हैं। साथ ही जीवदामन व रत्नदायन की व ताम्र मुद्राएं मिली हैं। यह एक सम्पन्न स्थल था जहाँ पर मौर्ययुग से शक काल तक पर्याप्त जनवास था। यही पर जैन प्रतिभाएं मिली हैं जिनका विवरण निम्नलिखित है :

ग्राम को घेरता हुआ एक भेरू है, नाला उसके किनारे परमार काल की एक तीर्थंकर प्रतिमा मिली है जिसका शीर्ष भंग है। प्रतिमा पद्यासन में है और आकार ६ फुट ऊंचा

□ □ □

(पृष्ठ ७६ का शेषांश)

जबकि जैनधर्मानुसार अहिंसा को परमधर्म माना गया है इसलिए रामगुप्त ने हिंसा से बचने हेतु अथवा यूँ कहें कि जैन धर्म के सिद्धान्तों की रक्षा हेतु अपनी पत्नी ध्रुव देवी को शकाधिपति को देना स्वीकार किया था। अतः हमें रामगुप्त को एक कायर नरेश नहीं अपितु कट्टर जैन धर्मावलम्बी नरेश के रूप में स्वीकार करना चाहिए। रामगुप्त के जैन होने की पुष्टि का सूक्ष्म संकेत राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के सजन ताम्रपत्र में भी मिलता है।

□ □ □

व ४ फुट ५ इंच चौड़ा है। पादपीठ पर संवत् ११७८ का शिलालेख है। लेख की ४ पंक्तियाँ हैं पर इनका भंग है कि केवल संवत् ११७८ ही पढ़ा जा सकता है। पादपीठ पर शेर बना हुआ है। अतः शेर-वाहन वाली यह महावीर प्रतिमा हो सकती है।

एक अन्य खंडित प्रतिमा हनुमान मन्दिर के पास ओटले पर रखी हुई है जो पार्श्वनाथ की खड्गासन में है और निश्चय ही १०वीं शताब्दी के शिल्प में निमित्त है।

तीसरी प्रतिमा माताजी के ओटले (चबूतरे) पर जड़ी हुई है। इसमें जैन देवी पद्मावती गरुड़वाहन पर आसीन है व ऊपर तीर्थंकर प्रतिमा पद्यासन में है। देवगण रक्ष, विष्णु व ब्राह्मण देवों से पुष्प वर्षा कर रहे हैं।

चौथी व पाचवी तीर्थंकर प्रतिमाएँ भंग हैं व केवल पादपीठ ही शेष है। एक अन्य प्रतिमा पर चरणचिह्न ही शेष है और सब भंग हैं। फुलानग्राम में यह जैन प्रतिमाएँ स्पष्ट करती हैं कि यहाँ पर परमार काल में कोई विशाल देवालय रहा होगा।

२२, भक्त नगर, दशहरा मैदान,
उज्जैन-४५६००१

मठावीस मूलगुण रास, ४६. बारह द्रव गीत ४७.

चौदह गुण स्थान रास, ४८. प्रतिमा ग्यारह का रास ।

उपवेश परक काव्य—४९. निजमनि संबोधन, ५०. जीवड़ा गीत, ५१. चून्डी गीता, ५२. धर्मतरु गीत, ५३. शरीर सकल गीत ।

स्तुतिपरक काव्य—५४. आदिनाथ स्तवन, ५५. तीन चौबसी विनती, ५६. ज्येष्ठ जिनवर लहान, ५७. जिनवर पूजा होली, ५८. पंच परमेष्ठी गुण वर्णन, ५९. गिरिनारि घवल, ६०. गुरु जयमाल, ६१. जिन-वाणी गुणमाला, ६२. पूजा गीत, ६३. गौरी भास, ६४. मिथ्यादुक्कड वीनती ।

स्फुट काव्य—६५. चौरासी न्याति माला, ६६. बंक चूल रास, ६७. धर्मपरीक्षा रास, ६८. कर्मविपाकिन द्वादशा कथा, ६९. प्रेमा चक्रवर्ती ।

काव्य-रूप की दृष्टि से ये रचनाएं प्रबन्ध काव्य के महाकाव्य, और खण्ड काव्य तथा गीत काव्य के अन्तर्गत भी विभक्त की जा सकती हैं । पुराण एवं चरित काव्य महाकाव्य की सीमा में परिगणनीय है तो आख्यानपरक काव्य खण्डकाव्य की सीमा को पहुँचते हैं । शेष रचनाएं मुक्तक या प्रगीतिकाव्य की विधा में समाविष्ट हो सकती हैं । इन विशाल रचनाओं के धनी महाकवि ब्रह्म जिनदास बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न थे । जैन सिद्धान्त के गहन अध्ययन के साथ-साथ भक्तिपरक साहित्य के निर्माण में उनकी विशिष्ट रुचि थी । साहित्य की विविध विधाओं—पुराण, काव्य, चरित, कथा, स्तवन, पूजा आदि के रूप में मा-भारती के भण्डार को पूर्ण करने में इस महाकवि ने कोई कसर नहीं छोड़ी । इन सबके माध्यम से आत्मोत्थान कवि का एक मात्र प्रतिपाद्य लक्ष्य था । कवि की रचनाएँ किसी एक स्थान पर उपलब्ध नहीं होती । ईडर, बासवाड़ा, सागवाड़ा, गलिया-कोट, डूंगरपुर उदयपुर और ऋषभदेव आदि गुजरात एवं राजस्थान के सीमावर्ती प्रदेशों में कवि के मुख्यतः बिहार एवं साधना स्थल रहे । अतः इन प्रदेशों के जैन शास्त्र भण्डारों में कवि का साहित्य विशेष रूप से उपलब्ध होता है । वैसे जयपुर, अजमेर, प्रतापगढ़, दिल्ली आदि स्थानों के जैन शास्त्रागारों में भी उक्त साहित्य की अनेकों प्रतियाँ मिल जाती हैं । इसमें कवि की प्रसिद्धि एवं उसके साहित्य की लोकप्रियता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है ।

ब्रह्म जिनदास उन विरले सौभाग्यशाली सन्त महाकवियों में थे, जिन्हें अपने समय में ही प्रसिद्धि मिल जाती है । उन्होंने अपने काव्यों की रचना के लिए अपने समय की लोक प्रचलित हिन्दी-भाषा को माध्यम चुना । इससे जन-सामान्य को बौद्धिक खुराक मिली । सम-सामयिक

लोगों ने उनकी प्रतिभा की पहिचाना । उनके समय में ही उनके ग्रन्थों की प्रतिलिपियों की यत्न-तन्त्र स्वाध्याय हेतु मांग होने लगी । उनकी काव्य-रचना जन-जीवन के निकट थी । उपलब्ध पांडुलिपियों की प्रशस्तियाँ यह तथ्य उजागर करती हैं कि कवि के लोकवाणी में प्रथमानुयोग काव्यों के प्रणयन में भूत प्रेरक शिष्यगण, श्रावक-श्राविकाएँ एवं विद्वान् थे । कालान्तर में भी उन काव्यों की समय-समय पर प्रतिलिपियाँ की गईं और भिन्न-भिन्न जिनालयों में उन्हें स्वाध्यायार्थ विराजमान किया गया ।

इस स्वनामधन्य महाकवि ने अपनी ६० से भी अधिक कृतियों से हिन्दी बाङ्गमय को समृद्ध किया । हिन्दी साहित्य के आदिकाल में ४० से भी अधिक रास-काव्यों का प्रणयन ब्रह्म जिनदास की अपनी देन है । उनका प्रत्येक रास-काव्य प्रबन्ध काव्य की सीमा को पहुँचता है । सं० १५०८ में रचित प्रकेला 'राम-रासो'—राजस्थानी भाषा की प्रथम जैन रामायण जिसका उल्लेख हिन्दी के फादर कामिल तथा बुल्के ने 'रामकथा परम्परा' में किया है । जो गो० तुलसीदास के रामचरित मानस से सवा-सौ वर्ष पूर्व का है, किसी भी दृष्टि से मानस से कम महत्व नहीं रखता । यह राम-रासो लगभग ६५०० शब्द प्रमाण है । इसमें कोई अत्युक्ति नहीं कि समूचे हिन्दी साहित्य के इतिहास में ब्रह्म जिनदास अपनी सानी नहीं रखते ।

अपनी उत्कट आत्म-साधना के साथ गुरु-भक्ति, तीर्थाटन, नियमित स्वाध्याय, प्रतिष्ठाओं का संचालन और फिर उच्चकोटि का विशाल साहित्य-सृजन, ये सब कार्य ब्रह्म जिनदास जैसे बहुमुखी व्यक्तित्व की ही अनुपम देन हैं । वे अप्रतिम प्रतिभाओं के धनी थे, जिनमें एक साथ अद्भुत विद्वत्ता, उच्च कोटि के साधुत्व, अपने प्राराध्य के प्रति प्रगाढ़ भक्ति के साथ-साथ अनुपम कवित्वशक्ति और अविचलित आत्म-साधना के सभी गुण विद्यमान हैं । इसीलिए उनका साहित्य प्राणि-मात्र के इह लौकिक एवं पारलौकिक जीवन का अमृदुयकारक होने से पूर्णतः सत्य शिव और सुन्दर से ओत-प्रोत है । वस्तुतः ब्रह्म जिनदास की हिन्दी साहित्य की उल्लेखनीय देन है । वे अपने युग के प्रतिनिधि कवि हैं । भक्तिकालीन सत साहित्य में वे सर्वोपरि गणनीय हैं । भाव, भाषा, वस्तु-विधान आदि सभी दृष्टियों से उनका काव्य-सृजन उल्लेखनीय है । हिन्दी बाङ्गमय की अनुपम सेवा की दृष्टि से हिन्दी साहित्य-संसार सदा सर्वदा महाकवि ब्रह्म जिनदास का कृतज्ञ रहेगा ।

राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, मनोहरपुर (जयपुर)

जैन देवकुल में यक्षी चक्रेश्वरी

□ डा० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी, वाराणसी

हिन्दू एवं बौद्ध धर्मों के समान ही जैन धर्म भी भारत का एक प्रमुख धर्म रहा है। जैन धर्म का अस्तित्व लगभग आठवीं शती ई० पू० में २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय में स्वीकार किया जाता है। कुछ विद्वान् सिन्धु सभ्यता (लगभग ३००० ई० पू०) में जैन धर्म का अस्तित्व—प्रतिपादित करते हैं, जिसे निर्णायक प्रमाणों के अभाव में स्वीकार नहीं किया जा सकता। जैन देवकुल में २४ तीर्थंकरों (या जिनों) को सर्वोच्च महत्ता प्रदान की गई। इन्हें देवाधिदेव कहा गया। जैन देवकुल के अन्य सभी देवताओं को किसी न किसी रूप में जिनों से उनके सहायक के रूप में संबद्ध किया गया। छठी से दसवीं शती ई० के मध्य तांत्रिक प्रभाव के फलस्वरूप सभी धर्मों में नवीन देवताओं को सम्मिलित कर देवकुल का विस्तार किया गया। जैन देवकुल में वृद्धि की यह प्रक्रिया छठी शती ई० में प्रारम्भ हुई और तेरहवीं-चौदहवीं शती ई० तक चलती रही। छठी शती ई० में जिनों के साथ उपासक देवताओं के रूप में यक्ष-यक्षी युगलों को सश्लिष्ट किया गया, जिनकी उपासना से मनुष्य अपनी भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकता था। उल्लेखनीय है कि वीतरागी जिनों की उपासना से सांसारिक सुख-समृद्धि की प्राप्ति संभव नहीं थी।

आठवीं-नवीं शती ई० में, श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में प्रत्येक जिन के साथ एक स्वतन्त्र लक्षणिक स्वरूपों का निर्धारण दसवीं-ग्यारवीं शती ई० यक्ष-यक्षी युगल की कल्पना की गई। इन यक्ष-यक्षी युगलों में स्वतन्त्र में हुआ। यक्ष यक्षी युगल जिनों के चतुर्विध सघ के शामन एवं रक्षक देव होते हैं। जैन मान्यता के अनुसार केवल ज्ञान प्राप्त होने के बाद सभी जिनों ने अपना प्रथम उपदेश देवनिमित्त सभा (समवमरण) में दिया था और उसी सभा में इन्द्र ने प्रत्येक जिन के साथ एक यक्ष-यक्षी युगल

को शासनदेवता के रूप में नियुक्त किया था। जैन ग्रंथ हरिवंश पुराण (८वीं शती) के ६६वें सर्ग में स्पष्ट उल्लेख है कि २४ जिनों के निकट रहकर उनकी सेवा करने वाले शासन देवता मज्जनों का हित और शुभ कार्यों की विघ्नकारी शक्तियों, ग्रह, नाग, भूत, पिशाच, राक्षस—को शान्त करते हैं। यक्ष-यक्षी युगलों को जिन मूर्तियों के मिहामन या मामान्य पीठिका के दाहिने और बायें छोरों पर निरूपित किया गया है। लगभग नवीं शती ई० से यक्ष एवं यक्षी की स्वतन्त्र मूर्तियाँ प्राप्त होने लगती हैं।

चक्रेश्वरी (या अग्रप्रतिचक्रा) प्रथम जिन आदिनाथ (या ऋषभनाथ) की यक्षी है। चक्रेश्वरी जैन देवकुल की चार सर्वाधिक लोकप्रिय यक्षियों में एक है। अन्य यक्षियाँ अंबिका, पदमावती और सिद्धायिका हैं, जो क्रमशः २२वें, २३वें एवं २४वें तीर्थंकरों नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर की यक्षियाँ हैं। जैन चक्रेश्वरी के स्वरूप पर विष्णु की शक्ति वैष्णवी (या चक्रेश्वरी) का स्पष्ट परिलक्षित होता है। जैन लाक्षणिक ग्रंथों में यह प्रभाव देवी के गरुड़वाहन एवं भुजा में चक्र के प्रदर्शन के सन्दर्भ में देखा जा सकता है।^१

परन्तु मूर्त अंकनों में यह प्रभाव गरुड़वाहन और भुजाओं में चक्र के अतिरिक्त, शंख और गदा के प्रदर्शन के सन्दर्भ में भी प्राप्त होता है। हिन्दू देवी वैष्णवी के प्रभाव का स्पष्ट संकेत कुभारिया (गुजरात) के महावीर जैन मन्दिर की छत पर उत्कीर्ण चक्रेश्वरी की मूर्ति में देखा जा सकता है। मूर्ति लेख में जैन यक्षी को 'वैष्णवी' देवी कहा गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण, रूपमण्डन एवं देवपुराण जैसे ब्राह्मण ग्रंथों में किरीटमुकुट से शोभित गरुड़वाहन वैष्णवी की भुजाओं में शंख, चक्र, गदा एवं पद्म के प्रदर्शन का निर्देश दिया गया है।

इसी प्रसंग में यह उल्लेख आवश्यक है कि हिन्दू प्रभाव

केवल जैन यक्षी चक्रेश्वरी के निरूपण तक ही सीमित नहीं रहा है। २४ यक्ष एवं यक्षियों की सूची में से अधिकार के नामों एवं लाक्षणिक विशेषताओं को जैनो ने हिन्दू और कुल उदाहरणों में बौद्ध देवों से ग्रहण किया था। हिन्दू देवकुल विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, स्कन्द, कार्तिकेय, काली, गौरी, सरस्वती, चामुण्डा और बौद्ध देवकुल की तारा, वज्र-शृङ्खला, वज्रतारा एवं वज्राकुशी के नामों और लाक्षणिक विशेषताओं को जैन धर्म में ग्रहण किया गया। जैन देवकुल के गरुड़, वरुण, कुमार यक्षी, और अम्बिका, पद्मावती, ब्रह्माणी यक्षियों के नाम हिन्दू देवकुल से ग्रहण किये गए, पर उनकी लाक्षणिक विशेषताएं स्वतन्त्र थीं। दूसरी ओर ब्रह्मा, ईश्वर, गणेश, भृकुटि, पण्डित, यक्षेन्द्र, पाताल, धरणेन्द्र, कुबेर यक्षी और चक्रेश्वरी, विजया, निर्वाणी, काली, महाकाली, तारा, वज्रशृङ्खला यक्षिया के नामों एवं लाक्षणिक विशेषताओं दोनों को हिन्दू देवकुल से ग्रहण किया गया था। यक्ष-यक्षियों के अतिरिक्त जैन देवकुल के राम, कृष्ण, बलराम, महाविद्या, सरस्वती, लक्ष्मी, गणेश, नैगमविन्, भेरव एवं क्षेत्रपाल आदि देवों का भी हिन्दू देवकुल से ही ग्रहण किया गया था।

प्रामाण्यशास्त्राय प्रथो मे चक्रेश्वरी

श्वेताम्बर परम्परा में चक्रेश्वरी को अष्टभुज और दिगम्बर परम्परा में चतुर्भुज एवं द्वादशभुज निरूपित किया गया है। दोनों ही परम्पराओं में गरुड़वाहन चक्रेश्वरी के करीब चक्र एवं वज्र के प्रदर्शन के सम्बन्ध में समानता प्राप्त होती है। श्वेताम्बर ग्रन्थ निर्वाणकालिका (१०वीं शती) के अनुसार यक्षी दक्षिण भुजाओं में वरदमुद्रा, बाण, चक्र, पाश और वाम में धनुष, वज्र, चक्र, अंकुश धारण करती है।

“...अप्रतिचक्राभिधानां यक्षिणी

हेमवर्णा गरुडवाहनामष्टभुजा।

वरदवाणचक्रपाशयुक्तदर्शकणकरां

धनुर्वज्रचक्राकुशवामहस्तां चेति ॥”

— निर्वाणकालिका : १८।१।

दिगम्बर ग्रन्थ प्रतिष्ठासारसंग्रह (१२वीं शती) में चक्रेश्वरी का चतुर्भुज एवं द्वादशभुज स्वरूपों में ध्यान

किया गया है। चतुर्भुजा यक्षी की दो भुजाओं में चक्र और अन्य दो में फल एवं वरदमुद्रा के प्रदर्शन का विधान है। द्वादशभुज यक्षी की आठ भुजाओं में चक्र, दो में वज्र एवं अन्य दो में फल एवं वरदमुद्रा प्रदर्शित होगी।

वामे चक्रेश्वरी देवी स्थाप्यद्वादशसद्भुजा।

धत्ते हस्तद्वये वज्रे चक्राणी च तथाष्टसु ॥

एकेन बीजपूरं तु वरदा कमलासना।

चतुर्भुजायवाचकं द्वयोगरुडवाहनं ॥

— प्रतिष्ठासारसंग्रह : ५, १५-१६।

तांत्रिक ग्रन्थों में चक्रेश्वरी के भयावह स्वरूप का उल्लेख है। ऐसे स्वरूप में तीन नेत्रों एवं भयकर दर्शनवाली यक्षी चक्र, पद्म, फल एवं वज्र से युक्त हैं। दक्षिण भारतीय श्वेताम्बर परम्परा में गरुड़वाहना चक्रेश्वरी को द्वादशभुज बताया गया है, जबकि दिगम्बर परम्परा में यक्षी षोडशभुज है। भुजाओं के आयुधों के सम्बन्ध में उत्तर भारतीय परम्परा का ही अनुकरण किया गया है।

मूर्त अंकनों में चक्रेश्वरी

मूर्त अंकनों में किरौटमुकुट से शोभित चक्रेश्वरी को सदैव मानव रूप में उत्कीर्ण गरुड़ पर भारूढ़ प्रदर्शित किया गया है। यक्षी का भुजाओं में चक्र के साथ ही गदा और शूल का नियमित चित्रण हुआ है। केवल उड़ीसा से प्राप्त चक्रेश्वरी मूर्तियों में गदा और शूल के स्थान पर खड्ग, सटक एवं वज्र का प्रदर्शन प्राप्त होता है। यक्षी की एक भुजा से सामान्यतः वरदमुद्रा (या अभयमुद्रा) प्रदर्शित है। दली अधिकांशतः एक पैर नीचे लटकाकर ललित मुद्रा में आसीन है। तीर्थंकर ऋषभनाथ की मूर्तियों के सिंहासन छारों पर चक्रेश्वरी का अंकन जहाँ आठवीं शती ई० में ही प्रारम्भ हो गया, वहीं यक्षी की स्वतन्त्र मूर्तियाँ नवीं शती ई० में बनीं। श्वेताम्बर स्थलों पर परम्परा के विपरीत चक्रेश्वरी का केवल चतुर्भुज स्वरूप में निरूपण ही लोकप्रिय रहा है। पर दिगम्बर स्थलों पर चक्रेश्वरी की द्विभुज से विंशतिभुज मूर्तियाँ बनीं। चक्रेश्वरी की मूर्तियों के विकास की दृष्टि से दिगम्बर स्थलों की मूर्तियाँ महत्वपूर्ण रही हैं। राजस्थान एवं गुजरात से श्वेताम्बर और अन्य क्षेत्रों से दिगम्बर परम्परा की मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। दक्षिण भारत की मूर्तियों में गरुड़वाहन का

चित्रण बहुत नियमित नहीं रहा है। साथ ही, भुजाओं में शख और गदा का प्रदर्शन भी दुर्लभ रहा है। इस क्षेत्र में यक्षी की भुजाओं में चक्र, वज्र एवं पद्म के प्रदर्शन में नियमितता प्राप्त होती है।

चक्रेश्वरी की प्राचीनतम स्वतन्त्र मूर्ति उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिले में स्थित देवगढ़ (दिगम्बर) के मंदिर १२ की भित्ति से प्राप्त होती है। ८६२ ई० में निर्मित मन्दिर स० १२ (शान्तिनाथ मन्दिर) की भित्ति पर जैन देवकुल की सभी २४ यक्षियों का अंकन प्राप्त होता है, जो २४ यक्षियों के सामूहिक चित्रण का प्रारम्भिकतम उदाहरण है। त्रिभग में खड़ी चतुर्भुज चक्रेश्वरी की सभी भुजाओं में चक्र है। गरुड़वाहन दाहिने पार्श्व में नमस्कार मुद्रा में खड़ा है। मूर्तिलेख में यक्षी का नाम 'चक्रेश्वरी' उत्कीर्ण है। यक्षी के निरूपण में जैन देवकुल की पाँचवी महाविद्या अग्रप्रतिचक्रा के स्वरूप का अनुकरण किया गया है, जिसकी सभी भुजाओं में चक्र के प्रदर्शन का विधान रहा है। महाविद्या की चारणा यक्षी चक्रेश्वरी की अपेक्षा प्राचीन रही है।

प्रारम्भिक दसवी शती की दो अष्टभुज मूर्तिया मध्यप्रदेश के विदिशा जिले में स्थित ग्यारसपुर के माला-देवी मन्दिर के शिखर पर उत्कीर्ण है। इनमें यक्षी के अवशिष्ट करो में छल्ला, वज्र, चक्र, चक्र, चक्र और शंख प्रदर्शित है। दसवी शती की एक दशभुजा चक्रेश्वरी मूर्ति पुरातात्विक संग्रहालय, मथुरा (क्रमांक-०० डी-६) में सुरक्षित है। पद्मासन पर समभग में खड़ी यक्षी की नौ सुरक्षित मुजाओं में चक्र स्थित है। दो सेविकाओं से सेवित देवी के शीर्षभाग में लघु जिन आकृति उत्कीर्ण है। दिगंबर स्थल खजुराहो (छतरपुर, मध्य प्रदेश) से यक्षी की दसवी से बारहवी शती के मध्य चार से दस भुजाओं वाली कई मूर्तिया मिली है। यहा की चतुर्भुज मूर्तियों में गदा, चक्र, शंख और अभयमुद्रा (या पद्म) प्रदर्शित है। षण्ठई मन्दिर (१०वी शती) के प्रवेश द्वार पर चक्रेश्वरी की अष्टभुज मूर्ति निरूपित है। यक्षी के हाथों में फल, घण्ट, चक्र, चक्र, चक्र, धनुष एवं कलश है। पार्श्वगाथ मन्दिर (८५४ ई०) के प्रवेश द्वार की मूर्ति में दशभुजा यक्षी वरद, खड्ग, गदा, चक्र, पद्म, चक्र, धनुष, फलक, गदा

और शख से युक्त है।

देवगढ़ में चक्रेश्वरी का चतुर्भुज स्वरूप सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है। पर यक्षी को षड्भुज, अष्टभुज, दशभुज एवं विंशतिभुज स्वरूपों में भी अभिव्यक्त किया गया। उल्लेखनीय है कि नवीं (८६२ ई०) से बारहवी शती के मध्य की चक्रेश्वरी की सर्वाधिक स्वतन्त्र मूर्तिया देवगढ़ से ही प्राप्त हुई हैं। अधिकांश उदाहरणों में किरीटमुकुट से घलंकृत गरुड़वाहन यक्षी के हाथों में चक्र, शख एवं गदा है। बहुभुजी मूर्तियों में चक्र, शख, गदा के अतिरिक्त खेटक, खड्ग, परशु एवं वज्र का प्रदर्शन लोकप्रिय रहा है। चतुर्भुज यक्षी की द्विभग में खड़ी एक मूर्ति मन्दिर १२ के अर्धमण्डप के स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। यक्षी के करो में वरदमुद्रा, गदा, शंख एवं चक्र प्रदर्शित है। षट्भुज चक्रेश्वरी की एक मूर्ति (११वी शती ई०) मंदिर १२ की दक्षिणी चहारदीवारी पर उत्कीर्ण है। यक्षी वरदमुद्रा, खड्ग, चक्र, चक्र, गदा एवं शंख से युक्त है। अष्टभुज चक्रेश्वरी की तीन मूर्तियां हैं। ग्यारहवी शती की एक मूर्ति मन्दिर स० १ के मानस्तम्भ पर उत्कीर्ण है, जिसमें यक्षी की भुजाओं में वरदमुद्रा, गदा, वाण, छल्ला, छल्ला, वज्र, चाप एवं शख है। मंदिर १४ की बारहवी शती ई० की एक मूर्ति में तीन हाथों में चक्र और शेष में दण्ड, खड्ग, अभयमुद्रा, परशु एवं शख प्रदर्शित है।

दशभुजा यक्षी की एक मूर्ति मन्दिर ११ के समक्ष के मानस्तम्भ (१०५६ ई०) पर उत्कीर्ण है। यक्षी वरद-मुद्रा, वाण, गदा, खड्ग चक्र, चक्र, खेटक, वज्र, धनुष एवं शख से युक्त है। विंशतिभुज चक्रेश्वरी की ग्यारहवी शती की तीन मूर्तिया प्राप्त होती है, जिनमें से दो स्थानीय साहू जैन संग्रहालय में सुरक्षित है। साहू जैन संग्रहालय की एक विशिष्ट मूर्ति में चक्रेश्वरी के साथ दो उपासको, चामरधारिणी सेविकाओं, पद्म धारण करने वाली पुरुष आकृतियों, उड्डीयमान मालाधरो एवं ऊपर की ओर जैन यक्षी पद्मावती और सरस्वती की भी आमूर्तित किया गया है। चक्रेश्वरी की केवल सात ही भुजाएं सुरक्षित है, जिनमें चार में चक्र और अन्य में वरदाक्ष, खेटक और शख प्रदर्शित है। संग्रहालय की दूसरी मूर्ति में चामरधारिणी सेविकाओं एवं उड्डीयमान मालाधरो से युक्त चक्रेश्वरी

की सभी भुजाएं सुरक्षित है। देवी की छह भुजाओं में चक्र एवं अन्य में शृङ्खला से युक्त घण्ट, खेटक, वज्र, खड्ग, तूणीर, मुद्गर, गदा, व्याख्यानमुद्रा—अक्षमाला, परशु दण्ड, शस्त्र, घनुप, सर्प एवं शूल प्रदर्शित है। देवी के शीर्षभाग में तीन जिन मूर्तियाँ निरूपित हैं। बहुभुजी चक्रेश्वरी की ग्यारहवीं शती की एक मनोज्ञमूर्ति मध्य प्रदेश के गोलकोट नामक स्थल से प्राप्त होती है।

उड़ीसा की खण्डगिरि पहाड़ी (पुरी जिला) की नवमुनि गुफा में ग्यारहवीं शती की दशभुजा चक्रेश्वरी की एक मूर्ति है। जटामुकुट से शोभित गरुडवाहना यक्षी योगामन मुद्रा में दोनों पैर मोड़कर बैठी है। चक्रेश्वरी के मात हाथों में चक्र, दो में खेटक, अक्षमाला एवं एक हाथ योगमुद्रा में गोद में स्थित है। उड़ीसा की खण्डगिरि पहाड़ी की बारभुजी गुफा में द्वादशभुज चक्रेश्वरी की एक मूर्ति है। गरुडवाहना देवी की छह दक्षिणभुजाओं में वरद-मुद्रा, वज्र, चक्र, चक्र, अक्षमाला एवं खड्ग है, और तीन वामभुजाओं में खेटक, एवं सनाल पद्म है और तीन भुजाएं खण्डित हैं।

पश्चिम भारत के किसी स्थल से प्राप्त लगभग दसवीं शती की एक अष्टभुज मूर्ति राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली (क्रमांक ६७-१५२) में सुरक्षित है। गरुडवाहना यक्षी की ऊपर की छह भुजाओं में चक्र और अन्य दो में वरद-मुद्रा एवं फल प्रदर्शित है। कुमारिया (बनासकाठा, गुजरात) के शान्तिनाथ एवं महावीर मन्दिरों (११वीं शती) की छतों पर उत्कीर्ण ऋषभनाथ के जीवन दृश्यों में भी चतुर्भुज चक्रेश्वरी निरूपित हैं। शान्तिनाथ मन्दिर के उदाहरण में यक्षी वरदमुद्रा, चक्र, चक्र एवं शस्त्र से युक्त है। महावीर मन्दिर के उदाहरण में “वैष्णवी देवी” के नाम से सम्बोधित यक्षी के करो में वरदमुद्रा, गदा, सनालपद्म एवं शस्त्र प्रदर्शित हैं। गुजरात एवं राजस्थान के श्वेताम्बर स्थलों की चक्रेश्वरी मूर्ति के सम्बन्ध में एक प्रमुख बात यह है कि इन स्थलों पर यक्षी चक्रेश्वरी और पाचवी महाविद्या अप्रतिचक्रा के निरूपण में अत्यधिक समानता प्राप्त होती है। इस कारण कभी-कभी यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि मूर्ति यक्षी की है या महाविद्या की। यद्यपि लाक्षणिक ग्रंथों में दोनों के लिए स्वतन्त्र विशेषताएं वर्णित हैं, पर मूर्त अभिव्यक्तियों में उनका निर्वाह नहीं किया गया।

दक्षिण भारत में यक्षी का चतुर्भुज, षट्भुज, अष्टभुज एवं द्वादशभुज स्वरूपों में निरूपण हुआ है। ग्यारहवीं

बारहवीं शती की एक चतुर्भुज मूर्ति कर्नाटक की कम्बड़ पहाड़ी स्थित शान्तिनाथ बस्ती के नवरंग से मिली है। गरुडवाहना यक्षी ने प्रभयमुद्रा, चक्र, चक्र एवं पद्म धारण किया है। होयसलकालीन एक षट्भुज मूर्ति कर्नाटक के जिननाथपुर स्थित जैन मन्दिर की दक्षिणी भित्ति पर है। यक्षी के करो में वरमुद्रा, वज्र, चक्र, चक्र, वज्र एवं पद्म प्रदर्शित हैं। बम्बई के सेंट जावियर कालेज के इण्डियन हिस्टारिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट संग्रहालय में सुरक्षित ऋषभमूर्ति में चक्रेश्वरी द्वादशभुज है। त्रिभंग में खड़ी यक्षी की आठ भुजाओं में चक्र, दो में वज्र एवं एक में पद्म प्रदर्शित हैं। एक भुजा खण्डित है। द्वादशभुज चक्रेश्वरी की एक अन्य मूर्ति एलोरा (महाराष्ट्र) की गुफा ३० में देखी जा सकती है। गरुडवाहना चक्रेश्वरी के पांच अवशिष्ट दक्षिण करो में पद्म, चक्र, शस्त्र, चक्र एवं गदा प्रदर्शित है। यक्षी की केवल एक ही वामभुजा सुरक्षित है, जिसमें खड्ग स्थित है।

□ □ □

डॉ-५१/१६४बी, सूरजकुण्ड, वाराणसी-२२१००१ (उ० प्र०)

सन्दर्भ सूची

१. शाह, यू० पी०—आइकानोप्राफी आफ चक्रेश्वरी, दि यक्षा आफ ऋषभनाथ, जर्नल आफ दि ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट आफ बड़ौदा, ख० २०, अ० ३, मार्च १९७१, पृ० २८०-३११।
२. 'तिवारी' माहतिनन्दन प्रसाद, 'दि आइकानोप्राफी आफ दि जैन यक्षी चक्रेश्वरी', अमण (वाराणसी), वॉ २७, अ० १०, अगस्त १९७५, पृ० २४-३३।
३. शर्मा, बुजेंद्रनाथ—'अन्पब्लिश्ड जैन ब्रोजेज इन दि नेशनल म्यूजियम', जर्नल आफ दि ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, ख० १९, अ० ३, मार्च १९७०, पृ० २७५-७६।
४. गुप्ता, एस० पी० तथा शर्मा, बी० एन०—'गधावल, ओर जैन मूर्तियाँ', अनेकांत, ख० १९, अ० १-२, अप्रैल-जून १९६६, पृ० १३०।
५. मित्रा, देवला—'शासन देवीज इन दि खण्डगिरि केव्स', जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसायटी, ख० १, अ० २, १९५६, पृ० १२७-३३।

भानपुरा संग्रहालय की जैन यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाएँ

□ श्री रवीन्द्र भारद्वाज, एम. ए., उज्जैन

मदसौर जिले की भानपुरा तहसील अपने अद्भुत प्राचीन शिल्प वैभव को समेटे हुए है।

परमारों से राज्य में जिन छोटे-छोटे और आंचलिक महत्त्व के कलाकेंद्रों का विकास हुआ, उनमें मोड़ी एवं हिमलाजगढ़ का विशिष्ट स्थान है। मोड़ी तो भानपुरा से १२ कि० मी० पश्चिम में स्थित था और हिमलाजगढ़ २२ कि० मी० की दूरी पर उत्तर पश्चिम में। यहाँ पश्चिमी मालवा शैली विकसित एवं परिष्कृत हुई।

परमार काल में शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों के प्रतिरिक्त यहाँ जैन धर्म का भी व्यापक प्रसार हुआ। इस क्षेत्र के परमार कालीन सधारा^१, केथुली^२, कँवला^३ और नीमथूर^४ के जैन मन्दिर इसके प्रमाण हैं।

परमारों के समय की प्राचीनतम अभिलिखित जैन यक्षिणी अच्युता की प्रतिमा सन् १०७५ (१०१८ ई०) यही हिमलाजगढ़ से प्राप्त हुई है।^५

भानपुरा पुरातत्त्व संग्रहालय में यहाँ की जैन-मूर्ति-शिल्प धरोहर सुरक्षित है। पुरातत्त्व संग्रहालय में हिमलाजगढ़ की यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाएँ परमारकाल की कला का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती हैं।

इनमें प्रमुख हैं परमारकालीन गोमय यक्ष एवं अम्बिका की मूर्ति, जो कि भद्रपीठ पर आसनस्थ हैं। इस प्रतिमा का आकार—ऊँचाई ८२ से० मा०, चौड़ाई ४६ से० मी० तथा मोटाई ८ से० मा० है। गोमय यक्ष तथा अम्बिका क्रमशः वाम तथा सव्यललितासन में हैं। प्रतिमा का प्रभामण्डल आभ्रवृक्ष का तथा नीचे इनका वाहन सिंह का अंकन है। प्रतिमा के ऊपर आसनक मुद्रा में पार्श्वनाथ (?) तथा दोनों ओर स्थानक तीर्थंकर हैं। प्रतिमा के पार्श्व में चँवरधारी पुरुष का अंकन है। प्रतिमा

के निचले भाग में सात अश्वारोही दशयि गये हैं।

एक अन्य अम्बिका की प्रतिमा हिमलाजगढ़ से प्राप्त हुई है। यह भानपुरा संग्रहालय की शिल्प कृतियों में से एक है।

इस क्षेत्र की आंचलिक शिल्प विशेषता यह रही है कि प्रतिमाएँ लघु स्तम्भों से निर्मित रथिका में बनाई गई हैं। अम्बिका की प्रतिमा भी रथिका में स्थित है जो कि लघु-स्तम्भों के द्वारा निर्मित है। ऊपर कलात्मक चैत्य अलंकरण है।

किरीट मुकुटधारिणी अम्बिका सव्यललितासन में आसनक है। दाहिना हस्त आभ्रलुम्बि युक्त तथा वाम शिशु को सहारा दिया है। अन्य ब्राह्मण प्रतिमाओं के सदृश ही अम्बिका की मुद्राकृति गोलाई लिए सौम्य मुद्रा में है। उभरी हुई ठुड़ी तथा पलकों के अंकन में नुकीलापन है। प्रतिमा के आठ, वक्षस्थल तथा कटिप्रदेश के अंकन में सुस्विपूर्ण मृदुता, लावण्य और मांसलता है। उन्नत और कठिन पथाघर पर कुचबन्धों का आलेखन किया गया है। प्रतिमा का अलंकरण दृष्टव्य है—किरीट मुकुट, कुण्डल, श्रेयक, स्तन पर मणिमाला, स्तनों के मध्य झूलता हिकामूत्र, स्कन्धमाला, केशूर, कटिसूत्र तथा मेखला और पैर नूपुरों से अलंकृत हैं। प्रतिमा के ऊपरी भाग में 'आसनक तीर्थंकर' प्रतिमा है। आभ्र वृक्ष का प्रभामण्डल और नीचे अम्बिका का वाहन सिंह का अंकन है। यह प्रतिमा लाल सिकताश्म की बनी है।

इस प्रकार, भानपुरा क्षेत्र परमारकालीन जैन शिल्प की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। □□□

पुरातत्त्व विभाग, विक्रम
विश्वविद्यालय, उज्जैन (म० प्र०)

१. श्री गंग, आर. एस.—मोड़ी-मण्डल का शिल्प वैभव—(प्रोग्रेसिव रिपोर्ट आफ आर्कैलाजिकल सर्वे, वेस्टर्न सिकिल—वर्ष १९२०)।

२. PRAS. WC., P. ८८-९१

३. वही, पृ० ६२

४. वही, पृ० ८३

५. भारद्वाज, रवीन्द्र, भानपुरा का अप्रकाशित जैन शिल्प, वीरवाणी, वर्ष ३१, अंक ६, पृ० १४६।

६. श्रीगंग—मोड़ी-मण्डल का शिल्पवैभव—टंकितप्रति—प्रकाशनाधीन।

रामगुप्त और जैन धर्म

□ डा० सोहनकृष्ण पुरोहित, जोधपुर

गुप्तवंशी नरेशों के अभिलेखों में ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त का उत्तराधिकारी उसका द्वितीय पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त बना। परन्तु विशाखदत्त द्वारा रचित 'देवी चन्द्रगुप्तम्' नाटक के उपलब्ध अंशों, बाण के 'हर्षचरित' राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' तथा एक मुस्लिम कृति मजमल-उत तवारीख' आदि साहित्यिक साधनों एवं राष्ट्र-कूटों के संज्ञन, केम्बे तथा सांगली वानपत्रों के सम्मिलित साक्ष्यों से संकेतित है कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त उत्तराधिकारी बना, जिसके अनुज द्वितीय चन्द्रगुप्त ने उसे मारकर मिहामन पर अधिकार कर लिया था। उपर्युक्त साक्ष्यानुसार रामगुप्त एक कायर एवं कुल के लिए कलक लुप्त था। शक नरेश द्वारा घेर लिए जाने पर उसने अपनी पत्नी ध्रुव देवी का शकाधिपति को देना स्वीकार कर लिया था। लेकिन द्वितीय चन्द्रगुप्त ने शकाधिपति को धोखे से मारकर सम्राज्ञी और साम्राज्य का सम्मान बढ़ाया। बाद में अवसर पाकर रामगुप्त की भी हत्या करके मिहामन पर अधिकार और ध्रुव देवी से विवाह कर लिया। ये घटनाएँ ऐतिहासिक हैं अथवा नहीं, इस विषय पर करीब पिछले पचास वर्षों से बड़ा विवाद चला आ रहा है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों में रामगुप्त की मुद्राएँ और अभिलेख प्रकाश में आ जाने से उनकी ऐतिहासिकता प्रमाणित हो गई है।

रामगुप्त की मुद्राएँ विदिशा, एरिकिणप्रदेश (पूर्व-मालवा) से प्राप्त हुई हैं। डा० के० डी० वाजपेयी ने इन मुद्राओं को चार प्रकारों में विभाजित किया है, जो इस प्रकार हैं—सिंह, गरुड, गरुडध्वज और बार्डर लिजेण्ड। इन मुद्राओं पर गरुडध्वज का अंकन उसे गुप्तवंशीय नरेश प्रमाणित करता है। उसके अभिलेख विदिशा के निवट दुर्जनपुर ग्राम से प्राप्त हुए हैं। ये जैन मूर्ति अभिलेख हैं जिनकी स्थापना रामगुप्त ने करवाई थी। प्रथम एवं तृतीय अभिलेख के अनुसार, रामगुप्त ने चेत्तुक्षमण नामक आचार्य के उपदेशानुसार चन्द्रप्रभ नामक अर्हत की प्रतिमा स्थापित करवाई थी। द्वितीय लेख के अनुसार, उसने पुष्पदन्त नामक अर्हत की मूर्ति का निर्माण कराया था।

हमारा मान्यता है कि गुप्तवंशीय नरेश होने के कारण उसने मुद्राओं पर गरुड का अंकन जारी रखा।^१ लेकिन वास्तव में रामगुप्त का भुक्ताव जैन धर्म की ओर था जिसका प्रमाण उसके जैन प्रतिमालेख है। विशाखदत्त उसे कायर कहकर पुकारता है। लेकिन हम विशाखदत्त के विचारों से सहमत नहीं हैं। हमारी धारणा है कि शकाधिपति ने जब रामगुप्त पर आक्रमण किया, उस समय उसने (रामगुप्त ने) कायरता के कारण ध्रुवदेवी को देना स्वीकार किया था। अपितु रामगुप्त एक कट्टर जैन धर्मावलम्बी कट्टर नरेश था। इसलिए उसने सोचा कि यदि शकाधिपति से युद्ध किया जायेगा तो युद्ध में सैकड़ों व्यक्ति मारे जायेंगे।

१. भीतरी स्तम्भ लेख।

२. गुप्त, परमेश्वरीवाल—गुप्त साम्राज्य, पृ० १२३-१३०

३. वही, पृ० १३८। ४. वही।

५. इलियट, डाउमन—हिस्टरी आफ इण्डिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, १, पृ० ११०।

६. ए० इ० ४, पृ० २५७, ए० इ० १७, पृ० २४८।

७. ज० न्यू० सो० इ० १२, पृ० १०३, १३, पृ० १२८

८. जर्नल आफ इण्डियन हिस्टरी, ४२, पृ० ३८६।

९. प्रथम पंक्ति—भगवतोऽर्हतः। चन्द्रप्रभस्य प्रतिमेय कारिता।

द्वितीय पंक्ति—महाराजाधिराज, श्री रामगुप्तेन, उपदेशात् पाणिना—

तृतीय पंक्ति—त्रिक चन्द्रक्षमाचार्य क्षमण-अमण-प्रशिष्याचार्य—

चतुर्थ पंक्ति—सर्पसेनलक्ष्मणशिष्यस्य गोत्रक्या-त्पास्यपुत्रस्य चेत्तुक्षमणस्येति।

१०. प्रथम पंक्ति—भगवतोऽर्हतः (चन्द्रप्रभ) स्य प्रतिमेय कारिता महा(राजा) धिराराज—

द्वितीय पंक्ति—श्री (रामगुप्ते)न उपदेशात् (पा) णि (पात्रि)...

तृतीय पंक्ति चतुर्थ पंक्ति...

११. (१) भगवतोऽर्हतः। पुष्पदन्तस्य प्रतिमेय कारिता।

(२) महाराजाधिराज श्री रामगुप्ते उपदेशात् पाणिपात्रिक।

(३) चन्द्रक्षम (णा) चार्य्य-(क्षमण)-अमण प्रशि (ष्यस्य)

(४) ...

१२. ज० न्यू० सो० इ० २३, पृ० ३३१-४३।

फुलान की अप्रकाशित जैन प्रतिमाएं

□ डा० सुरेन्द्र कुमार शर्मा, उज्जैन

उज्जैन से ३२ किलोमीटर पश्चिम दिशा में नागदा-इंदौर बस मार्ग पर फुलान ग्राम स्थित है। यह उज्जैन जिले की बड़नगर तहसील में आता है। यहाँ पर विश्व विश्वविद्यालय, उज्जैन व मध्य प्रदेश राज्य-पुरातत्व विभाग के संयुक्त तत्वावधान में पुरातात्विक सर्वेक्षण किया गया है। यह सर्वेक्षण दंगवाड़ा-उत्खनन वर्ष १९७६ के कार्य का ही एक अंग था। डा० वि० श्री वाषणकर के मार्गदर्शन में यह सर्वेक्षण किया गया था: नरसिंगा ग्राम से २ कि० मी० पूर्व की ओर फुलान ग्राम स्थित है। यहाँ पर मौर्यकाल, शकयुग व गुप्तकाल के अवशेष मिलते हैं और टीले पर बसा हुआ जो प्राचीन ग्राम का स्थान है, वह अब उजाड़ है। इस टीले पर सर्वेक्षण के दौरान तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व की ताम्र आहत मूर्ताएँ मिली हैं। साथ ही जीवदामन व रत्नदायन की व ताम्र मूर्ताएँ मिली हैं। यह एक सम्पन्न स्थल था जहाँ पर मौर्ययुग से शक काल तक पर्याप्त जनावास था। यहीं पर जैन प्रतिमाएँ मिली हैं जिनका विवरण निम्नलिखित है:

ग्राम की घेरता हुआ एक झील है, नाला उसके किनारे पर परमार काल की एक तीर्थंकर प्रतिमा मिली है जिसका शीर्ष भंग है। प्रतिमा पद्यासन में है और आकार ६ फुट ऊँचा

□ □ □

(पृष्ठ ७६ का शेषांश)

जबकि जैनधर्मानुसार अहिंसा को परमधर्म माना गया है इसलिए रामगुप्त ने हिंसा से बचने हेतु अथवा यूँ कहिए कि जैन धर्म के सिद्धान्तों की रक्षा हेतु अपनी पत्नी ध्रुव देवी को शकाधिपति को देना स्वीकार किया था। अतः हमें रामगुप्त को एक कायर नरेश नहीं अपितु कट्टर जैन धर्मावलम्बी नरेश के रूप में स्वीकार करना चाहिए। रामगुप्त के जैन होने की पुष्टि का सूक्ष्म संकेत राष्ट्रकूट नरेश अमावस्यवर्ष के सजन ताम्रपत्र में भी मिलता है।

□ □ □

व ४ फुट ५ इंच चौड़ा है। पादपीठ पर संवत् ११७८ का शिलालेख है। लेख की ४ पंक्तियाँ हैं पर इतना भंग है कि केवल संवत् ११७८ ही पढ़ा जा सकता है। पादपीठ पर शेर बना हुआ है। अतः शेर-वाहन वाली यह महावीर प्रतिमा हो सकती है।

एक अन्य खंडित प्रतिमा हनुमान मन्दिर के पास ओटले पर रखी हुई है जो पार्श्वनाथ की खड्गासन में है और निश्चय ही १०वीं शताब्दी के शिल्प में निर्मित है।

तीसरी प्रतिमा माताजी के ओटले (चबूतरे) पर जड़ी हुई है। इसमें जैन देवी पद्मावती गरुडवाहन पर आसीन है व ऊपर तीर्थंकर प्रतिमा पद्यासन में है। देवगण, रक्ष, विष्णु व ब्राह्मण देव से पुष्प वर्षा कर रहे हैं।

चौथी व पाचवीं तीर्थंकर प्रतिमाएँ भंग हैं व केवल पादपीठ ही शेष है। एक अन्य प्रतिमा पर चरणचिह्न ही शेष है और सब भंग हैं। फुलानग्राम में यह जैन प्रतिमाएँ स्पष्ट करती हैं कि यहाँ पर परमार काल में कोई विशाल देवालय रहा होगा।

२२, भक्त नगर, दशहरा मैदान,
उज्जैन-४५६००१

श्रमण संस्कृति की प्राचीनता : पुरातत्व और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

□ डा० प्रेमचन्द जैन, एम. ए., पी-एच. डी. जैन, दर्शनाचार्य, जयपुर

किसी धर्म की श्रेष्ठता उसकी प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता पर अनिवार्यतः निर्भर नहीं होती, किन्तु यदि कोई धार्मिक परम्परा प्राचीन होने के साथ-साथ सुदीर्घ काल पर्यन्त सजीव, सक्रिय, प्रेरक एवं प्रगतिवान् बनी रहती है और लोक की उत्पत्ति, नैतिक वृद्धि तथा सांस्कृतिक समृद्धि में प्रबल प्रेरक एवं सहायक सिद्ध हुई होती है तो उसकी वह प्राचीनता जितनी अधिक होती है वह उतनी ही अधिक उस धर्म के स्थायी महत्त्व एवं उसके निहित सर्वकालीन एवं सार्वभौमिक तत्वों की सूचक होती है। इसके अतिरिक्त किसी भी संस्कृति के उद्भव एवं विकास का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने तथा उसकी देनों का उचित मूल्यांकन करने के लिए भी उसकी आधारभूत धार्मिक परम्परा की प्राचीनता का अन्वेषण आवश्यक हो जाता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि जैन संस्कृति की प्राचीनता में शका करने की अथवा उस अत्यन्त प्राचीन सिद्ध करने की आवश्यकता ही क्यों हुई? स्वयं जैनो की परम्परा अनुश्रुति तो सुदूर अतीत में, जब से भी वह मिलनी प्रारम्भ होती है निर्विवाद एवं सहज रूप में उसे सर्वप्राचीन संस्कृति मानती ही चली आती है और बौद्ध अनुश्रुतियाँ ही नहीं ब्राह्मणीय अनुश्रुतियाँ भी अत्यन्त प्राचीन काल से जैन धर्म की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करती चली आती हैं। अतएव जैन संस्कृति की प्राचीनता सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु आधुनिक प्राच्यविदों एवं इतिहासकारों ने जब भारतीय इतिहास, समाज, धर्म, संस्कृति, साहित्य, कला आदि का अध्ययन प्रारम्भ किया तो उन्होंने उस आधुनिक ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया जिसमें वर्तमान को स्थिर

मानकर प्रत्येक वस्तु के इतिहास को पीछे की ओर उसके उद्गम स्थान या उदयकाल तक खोजते चला जाना है। जो तथ्य प्रमाणसिद्ध होते जाते हैं और अतीत में जितनी दूर तक निश्चित रूप से ले जाते प्रतीत होते हैं वही उनका अथवा उनकी ऐतिहासिकता का आदिकाल निश्चित कर दिया जाता है। अब जैन-संस्कृति की आपेक्षिक प्राचीनता के कनिष्ठ प्रमुख प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं।

‘मोहनजोदड़ो और हड़प्पा’ के अवशेषों से पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि आर्यों के कथित भारत आगमन के पूर्व यहाँ एक समृद्ध संस्कृति और सभ्यता थी। उस संस्कृति के मानने वाले मानव सुसभ्य, सुसंस्कृत और कलाविद् ही नहीं थे अपितु आत्मविद्या के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। पुरातत्त्वविदों के अनुसार जो अवशेष मिले हैं उनका सीधा सम्बन्ध जैन संस्कृति से है।

मैकगमूलर, मैकडानल तथा अन्य पाश्चात्य विद्वानों की गवेषणाओं ने यह तो सर्वसम्मत रूप से प्रमाणित कर दिया है कि किसी युग में उत्तरी क्षेत्रों से बहुत बड़ी संख्या में आर्य लोग भारतवर्ष में आये। उनकी अपनी एक व्यवस्थित सभ्यता थी।

वैदिक-साहित्य से भी यह तथ्य प्रगट होता है कि वैदिक आर्य-गण लघु एशिया और मध्य एशिया देशों से होते हुए त्रेता युग के आदि में इलावर्त और उत्तर पश्चिम के द्वार से पंजाब में आये। उस समय के पूर्व से ही द्रविड़ लोग गंधार से विदेह तक तथा पांचाल से दक्षिण मध्य-देश तक अनेक वर्गों में विभक्त होकर निवास कर रहे थे। इनकी सभ्यता पूर्ण विकसित थी। इनका लौकिक जीवन भी पूर्णतः सुव्यवस्थित था। कृषि, पशुपालन, वाणिज्य एवं शिल्प कला इनके जीवन के मुख्य साधन थे।

जहाजों द्वारा समुद्री भागों से लघु एशिया तथा उत्तर-पूर्वी अफ्रीका के देशों के साथ व्यापार करते थे।

डा० कीथ ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि "ऋग्वेद में जिस धर्म का उल्लेख है वह आर्यों का नहीं किन्तु भारत के आदिवासियों का अनुमानन द्राविड़ों का है।" ये स्पष्ट रूप से भारत के प्राचीन निवासी हैं। यहां के निवासियों में इनकी प्रधानता है।

डा० रेगोजिन (वैदिक इण्डिया), मार्टिनर व्हीलर (एन्सियेन्ट इण्डिया), मिलवर्ट (स्टेटस्मुर), डा० पी० एल० भागव (इण्डिया इन वैदिक एज), राहुल सांकृत्यायन (ऋग्वैदिक आर्य), डा० सतीशचन्द्र काला (सिन्धु सभ्यता), कामरेड एम० ए० डागे (आदि साम्यवाद से दासता तक) और डा० एस० के० चाटुर्ज्या (भारत में आर्य और अनार्य) आदि विद्वानों ने दास और दस्यु आदि को भारत का मूल निवासी माना है। ये लोग वैदिक आर्यों के आगमन के समय सिन्धु की उपत्यकाओं, सहायक नदियों की घाटियों में निवास करते थे।

आर्यों के आगमन से पूर्व यहां एक समुन्नत संस्कृति और सभ्यता विद्यमान थी। वह संस्कृति अहिंसा, सत्य, त्याग और अध्यात्म पर आधारित थी। शक्तिशाली होने के कारण वैदिक आर्यों को उनसे अत्यधिक क्षति उठानी पड़ी। वैदिक साहित्य में देव और दानवों का जो युद्ध वर्णन आया है, हमारी दृष्टि से यह युद्ध असुर और वैदिक आर्यों का है। यह मध्य ३०० वर्षों तक चलता रहा।

ऋग्वेद के मन्त्रों में भी आर्यों और अनार्यों (मूल निवासियों) का संघर्ष प्रगट होता है। मन्त्र १।१-४।७-८ में पृथ्वी को 'दास' लोगों की शमशान-भूमि कहा गया है।

मन्त्र २।६।७ में इन्द्र को 'पुरन्दर' और कृष्ण योनिदासों की सेनाओं को नष्ट करने वाला कहा गया है। मन्त्र १।४।८ में 'गृह' नामक अनार्य राजा के एक सौ पुत्रों को 'ऋजिशला' द्वारा भेदन करने का वर्णन तब आया है जब कि कृष्णवर्ण वाला 'दासों' पर उसने चढ़ाई की थी।

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर वर्णन किया गया है कि पर्वत निवासी 'दास' के द्वारा सेनापति शम्बर के पुरों और दुर्गों का ध्वंस किया गया, जिनकी संख्या ६० (१।१३०।७), ६६ (२।१६।६) और १०० (२।१४।६) कही गयी है।

ऋग्वेद में ही एक स्थान पर इन्द्र के लिए की गयी आर्यों की स्तुति में परिस्थितियों को संक्षेप में इस प्रकार कहा गया है कि "हमें सब ओर से 'दस्यु' घेरे हुए हैं, वे यज्ञ कर्म नहीं करने देते (अकर्मन्) हैं। न किसी को मानते हैं (अमन्तु)। उनके व्रत हमसे भिन्न हैं (अन्य-व्रत)। वे मनुष्य जैसा व्यवहार नहीं करते (अमानुषः)। हे शत्रुनाशन्! तू उनका वध कर और दासों का नाश कर।" महाभारत के अनुसार भारत में असुर राजाओं को एक लम्बी परम्परा रही है; और वे सभी राजागण व्रत पारायण, बहुश्रुत और लोकेश्वर थे।

विष्णु पुराण के अनुसार, असुर लोग आर्हत धर्म के मानने वाले थे। उनको मायामोह नामक किसी व्यक्ति विशेष ने आर्हत धर्म में दीक्षित किया था। वे ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में विश्वास नहीं रखते थे। वे यज्ञ और पशुबलि में भी विश्वास नहीं रखते थे। अहिंसा धर्म में उनका पूर्ण विश्वास था। वे आद्र और कर्म-काण्ड का विरोध करते थे। मायामोह ने अनेकान्तवाद का भी निरूपण किया था। ऋग्वेद में असुरों को वैदिक

१ The Religion and Philosophy of Veda and Upanishada, pp 9-10.

२ The religion of Ahinsa : by Prof. A. Chakaravarti, p. 17.

३. महाभारत, शान्तिपर्व, २२७।१३

४. अथ देवासुरं युद्धमभूत वर्षशतत्रयम्।

—मत्स्यपुराण २४।३७

५. ऋग्वेद, १०।१२।८

६. महाभारत, शान्तिपर्व २२७।४६।५४

७. महाभारत, शान्तिपर्व २२७।५६।६०

८. अर्हतेत महाधर्मं मायामोहेन ते यतः।

प्रोक्तास्तत्राश्रिता धर्ममाहृतास्तेन ते भवन् ॥

—विष्णुपुराण ३।१८।१२

९. विष्णुपुराण ३।१८।१४

१०. विष्णुपुराण ३।१८।२७

११. विष्णुपुराण ३।१८।२५

१२. विष्णुपुराण ३।१८।२८-२९

१३. विष्णुपुराण ३।१८।८-११

आर्यों का शत्रु कहा है।^{१४}

दैनिक जीवन में भी वे लोग प्रगति के पथ पर थे। उनके आवास, ग्राम और नगर व्यवस्थित थे और वे हाथी घोड़ों की सवारी भी करते थे। उनके पास आवागमन के साधन भी थे।^{१५} यहाँ तक कि उनमें भक्ति और पुनर्जन्म के विचारों में विश्वास था।^{१६}

जैन संस्कृति पुरातत्त्व परिप्रेक्ष्य में

सिन्धु-घाटी के उत्खनन में, जिस संस्कृति और सभ्यता का रूप हमारे सामने आया है वह निश्चित ही प्रागैदिक कालीन है। मूर्ति पूजा आदि कुछ ऐसे तथ्य हैं जिसे यह कहा जा सकता है कि सिन्धु-घाटी सभ्यता वैदिक विरोधी सभ्यता थी। वह उत्कृष्ट द्रविड़ अथवा विद्याधर जाति की सभ्यता से सम्बद्ध नहीं होगी। यह जाति ऋषभ (बैल) को पूज्य मानती थी, जिसे कालान्तर में ऋषभदेव तीर्थङ्कर के चिह्न के रूप में स्वीकार किया गया है।^{१७}

श्री रामप्रसाद चन्दा ने अपने एक लेख में लिखा है कि मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक लाल पाषाण की मूर्ति, जिसे पुजारी की मूर्ति समझ लिया गया है, मुझे एक योगी की मूर्ति प्रतीत होती है। वह मुझे इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए प्रेरित करती है कि सिन्धु घाटी में उस समय योगाभ्यास होता था और योगी की मुद्रा में मूर्तियाँ पूजी जाती थीं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से प्राप्त मोहरें, जिन पर मनुष्य रूप में देवों की आकृति अंकित है, मेरे इस निष्कर्ष को और भी पुष्ट करती हैं।

सिन्धुघाटी से प्राप्त मोहरों पर बँठी अवस्था में अंकित मूर्तियाँ ही योग की मुद्रा में नहीं हैं, किन्तु खड़ी अवस्था में अंकित मूर्तियाँ भी योग की कायोत्तम मुद्रा

को बतलाती हैं।

मथुरा म्यूजियम में दूसरी शती की कायोत्तम में स्थित ऋषभदेव जिन की एक मूर्ति है। इस मूर्ति की शैली सिन्धु से प्राप्त मोहरों पर अंकित खड़ी हुई देव मूर्तियों की शैली से बिल्कुल मिलती है।^{१८}

सर जान मार्शमैन के अनुसार, मोहनजोदड़ो से प्राप्त कुछ मूर्तियाँ योगियों की मूर्तियाँ प्रतीत होती हैं। इन मूर्तियों में से एक, योगामन स्थित त्रिमूर्ति योगी की प्रतिमा विशेषतः उल्लेखनीय है। इस मूर्ति के सम्मुख हाथी, व्याघ्र, महिष, मृग आदि पशु स्थित हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह पशुपति शिव की मूर्ति है।^{१९} अन्य विद्वानों के अनुसार यह मूर्ति किसी पहुँचे हुए योगी की मूर्ति है।^{२०} इस त्रिमूर्ति मूर्ति के अवलोकन से अर्हंत अनिशयों में अभिज्ञ कोई भी विद्वान् यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि यह मगवशरण स्थित चतुर्मुख तीर्थङ्कर का ही कोई शिन्धु चित्रण है जिसका एक मुख उगरी बनावट के कारण अदृश्य हो गया है।^{२१} अस्तु आर्यों के आगमन से पूर्व यहाँ एक समुन्नत संस्कृति एवं सभ्यता विद्यमान थी जो अहिंसा, सत्य एवं त्याग पर आधारित थी।

इस प्रकार, पुरातत्त्व की दृष्टि से भी अमण संस्कृति की प्राचीनता सिद्ध होती जा रही है। भारतीय पुरातत्त्व का इतिहास मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा से आरम्भ होता है। यद्यपि इन स्थानों में प्राप्त मुद्राओं की लिपि—सिन्धु लिपि का प्रामाणिक वाचन नहीं हो सका है और इसी कारण सिन्धु-सभ्यता के निर्माताओं की जाति अथवा नृवश के सम्बन्ध में निर्विवाद रूप से कहना सम्भव नहीं, तथापि सिन्धु घाटी के अवशेषों में उपलब्ध कतिपय प्रतीकों को अमण संस्कृति से सम्बद्ध माना जा सकता है।

१४ ऋग्वेद १।२३।१७।२-३

१५. Mohan Jo dro and the Indus Civilization (1931) Vol 1 pp 93-95.

१६. Ancient India (An Ancient History of India, Part-I).

१७. देखिए प्राचीन परम्परा और इतिवृत्त : लेखक भाग-चन्द्र जैन (भास्कर)--महावीर जयन्ती स्मारिका, १९७४, पृ० २-१४।

१८. प० कैलाशचन्द्र शारत्री का लेख "अमण परम्परा की प्राचीनता", अनेकान्त वष २८, कि० १, पृ ११३-११४

१९. Mohan Jo dro and the Indus Civilization (1931) Vol-1 pp. 42-3.

२०. Ahinsa in Indian Culture, Dr. Nathmal Tania.

२१. मुनि श्री नगराज जी : बीर (अमण अंक), बीर निर्वाण सं० २४६०, पृ० ४६।

वैदिक एवं पौराणिक साहित्य में जैन संस्कृति के तत्त्व :

वेद तथा अनेक पार्श्ववर्ती ग्रन्थों में अर्हन्, ब्राह्म, श्रमण, वातरशना, केशी, ऋषभ और वृषभ, पार्श्व, अरिष्टनेमि, महावीर आदि संज्ञायें जैन संस्कृति की प्रागैतिहासिकता को सिद्ध करती हैं। रामायण, महाभारत व पुराणों में भी उपरोक्त संज्ञाएं पायी हैं।

अर्हन्

जैन धर्म में पाँच अवस्थाओं में सम्पन्न आत्मा गर्वोत्कृष्ट एवं पूज्य मानी गई है। इनमें अरहन् सर्व प्रथम है। अरहन्त किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है, वह तो आध्यात्मिक गुणों के विकास से प्राप्त होने वाला महान् मंगलमय पद है।

जैनगम में अरहन्त का स्वरूप निम्न प्रकार बताया गया है—जिन्होंने चार घालिया कर्मों का नाश कर दिया है, जो अनन्त दर्शन सुख ज्ञान और धैर्य के धारक हैं, जो उत्तम देह में विराजमान हैं और जिनकी आत्मा शुद्ध है वे अर्हन्त हैं।

मृदुबुद्ध्याइकम्पो दसणसुहणाण वीरियमईओ ।

सुहवेहत्यो अम्मा सुद्धो अरि हो विचित्तिज्जो ॥

प्रथम अग्रह ५०

श्री गणेश प्रसाद ने लिखा है कि 'द्विविड' अपने दण्ड देव को अर्हन्, जिग, परमेष्ठी एवं ईश्वर के नाम में अभिहित करते थे। जीवन शुद्धि के लिए अहिंसा एवं संयम और तपो मार्ग के अनुयायी थे। इतना ही नहीं, ये सांसारिक अभ्युदय से विरक्त हो त्यागी, भिक्षाचारी एवं अरण्यवासी बन चुके थे। अर्हन्, जिनपरमेष्ठी एवं ईश्वर का निर्विकार आदर्श ही इनके जीवन का परम आदर्श था। साधु द्विगम्बर होते थे, केश बड़े-बड़े रखते थे, अधिकतर केवल वायु के आधार पर जीवन यापन करते हुए निरन्तर आत्म चिन्तनशील रहते थे। ये लोग तपस्या एवं श्रम के साथ साधना कर 'मृत्यु' पर विजय प्राप्त कर लेते थे।^{२२}

धवला टीका में अरहन्त का अर्थ करते हुए लिखा

२२. भारत के आदिवासी और उनकी संस्कृति (लेख --

श्री गणेशप्रसाद) महावीर जयन्ती स्मारिका, मन् १९७३, पृ. २-६६।

है कि—

अरिहनतादरिहन्ता,.....रजोहनतादा अरिहन्ता, अतिशय पूजाहन्तादा अरिहन्ता ।^{२३}

अर्थात् अरिहन्त वे हैं जिन्होंने कर्म शत्रुओं का अथवा कर्ममल का नाश कर दिया है तथा जो अतिशय पूजा के योग्य हैं :

जरवाहिजम्ममरणे च उगइगमणं च पुण्णपावं च ।

हत्तूण दोषकम्मे हुउणाणमयं च अरहन्तो ॥^{२४}

अर्थात् जिन्होंने जरा, व्याधि, जन्म, मरण, चतुर्गति-गमन, पुण्य, पाप—इन दोषों तथा कर्मों का नाश कर दिया है और जो ज्ञानमय हो गये हैं वे अरहन्त हैं।

अरहन्त की इसी विशेषताओं को पंचाध्यायी में इस प्रकार बताया गया है—

विश्वोदारिकदेहस्या द्यौतघातिचतुष्टयः ।

ज्ञानदृग्वीर्यसौख्यादयः सोऽहं न धर्मोपदेशकः ॥^{२५}

अरहन्त शब्द के विभिन्न भाषाओं में निम्न प्रकार के रूप रहे हैं—

संस्कृत	अर्हन्
प्राकृत	अरहन तथा अरिहंत
पालि	अरहन्त
जैन शौरसेनी	अरुह
मागधी	अलहंत तथा अलिहन
अपभ्रंश	अलहतु तथा अलिहतु
तमिल	अरुह
कन्नड़	अरुहत, अरुह

अरहन्त शब्द प्राकृत है। इसका संस्कृत रूप है 'अर्हन्'। 'अर्हं पूजायाम्' अर्थात् पूजार्थक 'अर्हं' धातु से 'अर्हः प्रशंसायाम्' पाणिनि-सूत्र से प्रशंसा अर्थ में शतृ प्रत्यय होकर 'अर्हन्' शब्द बनता है। प्रथमा के एक वचन में 'उगिदच्चा सर्वनामस्थानेः धातेः' पाणिनि सूत्र से 'तुम्' का आगम होकर 'अर्हन्' पद बनता है। सम्बोधन एक वचन में भी 'अर्हन्' पद बनता है। प्राकृत भाषा में 'शतृ' प्रत्यय के स्थान पर 'न्त' प्रत्यय होकर 'अर्हन्त' रूप बनता

२३. धवला टीका प्रथम पुस्तक, पृ० ४२-४४

२४. चोत्रपाहुड, ३०

२५. पंचाध्यायी २।६०७

है। साथ में प्राकृत व्याकरण के 'ई' श्री ह्री क्रीत वचान्त-
क्लेशमभास्वप्नस्पर्शहर्षहिंगु (प्राकृत प्रकाश ३.६२),
सूत्र के अनुसार र्ह के मध्य ईकार का आगम होकर
'अरिहत' तथा प्राकृत की परम्परा के अनुसार अकार का
आगम होकर 'अग्रहत' रूप प्राकृत भाषा में बनता है।
आचार्य कुन्दकुन्द ने प्राकृत भाषा में इसका एक रूप
'अरुह' भी प्रयोग किया है—'अरुहा सिद्धायरिया' (मोल
पाट्ट ६।१०४) सम्भवतः इस शब्द पर तमिल का प्रभाव
रहा हो।

वैदिक, पौराणिक एवं बौद्ध वाङ्मय में अर्हत् शब्द का प्रयोग

विनोबा भावे ने अपने एक लेख में ऋग्वेद के एक
मंत्र का उद्धरण देते हुए जैन संस्कृति की प्राचीनता सिद्ध
की है। वे कहते हैं कि ऋग्वेद में भगवान् की प्रार्थना में
कहा गया है कि 'अर्हत् इदं दयसे विश्वम्बम्'^{१६}, अर्थात् हे
अर्हत्, तुम इस तुच्छ दुनिया पर दया करने हो। इसमें
अर्हत् और दया दोनों जैनों के प्यारे शब्द हैं। मेरी तो
नान्यता है कि जितनी वैदिक संस्कृति प्राचीन है शायद
उतनी ही जैन संस्कृति प्राचीन है।^{१७} ऋग्वेद का उपरोक्त
मंत्र इस प्रकार है:—

अर्हत् विमर्षि सायकानि,

धन्वाहर्निष्कं यजत विश्वरूपम्।

अर्हन्निदं दयसे विश्वमम्बम्,

न वा ओ जीवो रुद्र त्वदन्यदस्ति ॥

प्रतिष्ठातिलक के लेखक नेमिचन्द्र ऋग्वेद के उपर्युक्त
मन्त्र से अत्यन्त प्रभावित प्रतीत होते हैं। उन्होंने इस मंत्र
को आधार बनाकर निम्न प्रकार से वर्णन किया है—

२६. अर्हत् विमर्षि सायिकानि

धन्वाहर्निष्कं यजत विश्वरूपम्।

अर्हन्निदं दयसे विश्वमम्बम्

न वा ओ जीवो रुद्र त्वदन्यदस्ति ॥

—ऋग्वेद २।४।१०।३३

२७. विनोबा भावे—श्रमण संस्कृति, पृ० ५७

२८. ऋग्वेद २।४।२।४।१

२९. ऋग्वेद ४।३।६।५।२।५ (५।४।५।२)

३०. ऋग्वेद ३।८।६।५ (५।६।८।६)

३१. ऋग्वेद १।१।५।६।४

अर्हत् विमर्षि मोहारिर्विश्वं सितवसायकान्।

अनेकान् शोतिनिर्वायप्रमाणोदार धनु च ॥

तत्तत्स्वमेव देवासि युक्तिज्ञास्त्राविरोषिबाक्।

दृष्टेष्वाश्रितेष्ठा स्युः सर्वेषां भववाणिनः ॥

अर्हन्निदं दयसे त्वानं बहिरन्तर्मलक्षयम्।

विश्वरूपं च विश्वार्थं वेदितं लभसे सदा ॥

अर्हन्निदं च दयसे विश्वमम्बं यतराभयम्।

नसुरासुः सघात मोक्षमार्गोपदेशनात् ॥

ब्रह्मासुरतयो वान्यो वेश रुद्रस्त्ववस्ति।

ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर अर्हत् शब्द का प्रयोग
मिलता है—

'अर्हत् देवान् यक्षि मानुषत् पूर्वो अथ'।^{१८}

'अर्हन्तो ये सुदानवा नरो असामि शवस'।^{१९}

'अर्हन्ता चित्पुरोदधे क्षेवं देवाववर्तते'।^{२०}

इमस्वोऽर्हन्ते जातवेदसे रथमिव संमहेमामनीषया।^{२१}

ईडितो अग्ने मनमाना अर्हन्देवान्यक्षि मानुषाः पुर्वो अथ।^{२२}

इन उल्लेखों में ऐसा प्रतीत होता है कि जैन धर्म के
मानने वाले अर्हत् को अपना उपास्य देव मानते थे।

वराहमिहिरसंहिता, योगवासिष्ठ, ब्रह्मसूत्र

शंकरभाष्य में भी अर्हत् मत का उल्लेख मिलता है—

विश्वासास्तरूपो रूपवांच च कार्योर्हतादेवः।^{२३}

वेदान्तर्हन्त सांख्य सौगत मुख्यं क्षादिसूक्तादृशो।^{२४}

शरीरपरिमाणो हि जीव इत्याहतामन्यते।^{२५}

इस आर्हन्त परम्परा की पुष्टि बायुपुराण^{२६}, श्रीमद्-
भागवत^{२७}, पद्मपुराण^{२८}, विष्णुपुराण^{२९}, स्कन्दपुराण^{३०},

३२. ऋग्वेद २।१।१।३

३३. वराहमिहिर संहिता ४५।५८

३४. बालमीकि योगवासिष्ठ ६।७३।३४

३५. ब्रह्म सूत्र शंकरभाष्य २।२।३३

३६. ब्रह्म शैव, वैष्णवं च सौर शाक्त तथा आर्हन्तम्।

—वायुपुराण १०।४।१६

३७. श्रीमद् भागवत ५।३।२०

३८. पद्मपुराण १।३।३५०

३९. विष्णुपुराण १७-१८ वा अध्याय।

४०. स्कन्द पुराण ३६-३७-३८

शिवपुराण^{४१}, मत्स्य पुराण^{४२}, देवी भागवत^{४३} आदि पुराणों से भी होती है। इनमें जैन धर्मों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं।

अर्हतेन महाधर्मं मायारोहेन ते यतः।

प्रोक्तास्तग्राश्रिता धर्ममार्हतास्तेन तेऽभवन् ॥^{४४}

विष्णुपुराण के इस उल्लेखानुसार, जो लोग आर्हंत धर्म को मानने वाले थे उनको मायामोह नामक किसी व्यक्ति विशेष ने आर्हंत धर्म में दीक्षित किया था। उसी मायामोह नामक व्यक्ति ने अनेकान्त वाद का निरूपण किया था।^{४५} वे ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद में श्रद्धा नहीं रखते थे।^{४६} वे यज्ञ और पशु बलि में भी विश्वास नहीं रखते थे।^{४७} ग्रहणा धर्म में उनका पूर्ण विश्वास था।^{४८} वे श्राद्ध और कर्मकाण्ड के विरोधी थे।^{४९}

गतद्विती विमोक्तस विष्णुमुत्तस सध्वधि।

सम्बन्धपहीनस्स परिलाहो न विज्जति ॥

— धम्मपद अरहन्तवग्गो ६०

अर्थात् अरहन्त वह है जिसने अपनी जीवन यात्रा समाप्त कर ली है, जो शोक रहित है, जो ससार से मुक्त है, जिसने सब प्रकार के परिग्रहों को छोड़ दिया है और जो कष्ट रहित है।

ऐसा अरहन्त जहाँ कहीं भी विहार करता है वह भूमि रमणीय है—

यत्पारहन्तो विहरन्ति भूमि रामणयेक।

बुद्ध ने कहा था “भिक्षुओ, प्राचीनकाल में जो भी अरहन्त तथा बुद्ध हुए थे उनके भी ऐसे ही दो मुख्य अनुयायी थे जैसे मेरे अनुयायी सारिपुत्त और मोग्गल्लान हैं।”^{५०}

ब्राह्म्यः

ब्राह्म्य शब्द का मूल व्रत है। व्रत का अर्थ धार्मिक सकल्प और जो संकल्पों को करता है, कुशल है वह ब्राह्म्य है।^{५१} डा० हेबर प्रस्तुत शब्द का विश्लेषण करते हैं— ब्राह्म्य का अर्थ व्रतों में दीक्षित है अर्थात् जिसने आत्मानुशासन की दृष्टि से स्वेच्छापूर्वक व्रत स्वीकार किये हों, वह ब्राह्म्य है।^{५२}

ब्राह्म्य शब्द अर्वाचीन काल में आचार और संस्कारों से हीन मानवों के लिए व्यवहृत होता रहा है। अभिधान चिन्तामणि कोश में आचार्य हेमचन्द्र ने भी यही अर्थ किया है।^{५३} मनुस्मृतिकार लिखते हैं—क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण योग्य अवस्था प्राप्त करने पर भी असंस्कृत हैं क्योंकि वे ब्राह्म्य हैं और वे आर्यों के द्वारा ग्रहणीय हैं।^{५४} उन्होंने आगे लिखा है—जो ब्राह्मण, मत्ति, उपनयन और व्रतों से रहित हो उस गुरु मंत्र से परिभ्रष्ट व्यक्ति को ब्राह्म्य नाम से निर्दिष्ट किया गया है।^{५५} ताण्डय ब्राह्मण में एक स्तोत्र है जिसका पाठ करने से अशुद्ध ब्राह्म्य भी शुद्ध और सुसंस्कृत होकर यज्ञ आदि करने का अधिकारी हो जाता है।^{५६} इस पर भास्य करते हुए सायण ने

accepted the moral code of Vows for his own spiritual discipline—by Dr. Hebar.

५३. ब्राह्म्यः संस्कारवर्जितः। व्रतेः साधु कालो ब्राह्म्यः। तच्च भवो ब्राह्म्यः प्रायश्चित्तार्हं संस्कारोऽत्र उपनयनं तेल वर्जितः। — अभिधान चिन्तामणि कोश ३।५१८
५४ अत उध्वं त्रयोऽप्येते, यथा कालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता ब्राह्म्या भवन्त्यर्थविर्गहिताः ॥

—मनुस्मृति १।५१८

५५ द्विजातयः सवर्णाषु जनयन्त्यव्रतांस्तु तान।

तान सावित्री-परिप्रष्टान् बाह्यानि विनिर्दिशेत्।

—मनुस्मृति १०।२०

५६. हीना व एनं। हीयन्ते ये ब्राह्म्या प्रवसन्ति। षोडशो वा एतत् स्तोमः समाप्नुमर्हति। —ताण्डय ब्राह्मण

४१. शिवपुराण ५।४-५

४२. मत्स्यपुराण २४।४३-४६

४३. देवी भागवत ४।१३।५४-५७

४४. विष्णु पुराण ३।१८।१२

४५. विष्णुपुराण ३।१८।८-११

४६. विष्णुपुराण ३।१८।१३-१४

४७. विष्णुपुराण ३।१८।२७

४८. विष्णुपुराण ३।१८।२५

४९. विष्णुपुराण ३।१८।२८-२९

५०. सयुक्त निकाय ५।१६४ गौतमधुद्ध पृ० १४७

५१. वियते यद् तदव्रतम्, व्रते साधु कुशले वा इति ब्राह्म्यः।

५२. Vratya as initiated in Vratas Hence Vratya means a person who has voluntarily

भी ब्राह्मण का अर्थ आचारहीन किया है।^{१०}

उपयुक्त सभी अर्वाचीन उल्लेखों में ब्राह्मण का अर्थ आचारहीन बताया गया है। अब कि इनसे पूर्ववर्ती ग्रन्थों में इसके विपरीत विद्वत्तम, महाधिकारी पुण्यशील, विश्व सम्मान्य आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं।^{११} ब्राह्मणकाण्ड की भूमिका में सायण ने लिखा है—इसमें ब्राह्मण की स्तुति की गई है। उपनयन आदि से हीन मानव ब्राह्मण कहलाता है। ऐसे मानव को वैदिक कृत्यों के लिए अनधिकारी और सामान्यतः पतित माना जाता है। परन्तु कोई ब्राह्मण ऐसा हो जो विद्वान् और तपस्वी हो, ब्राह्मण उससे भले ही द्वेष करे, परन्तु वह सर्वपूज्य होगा और देवाधिदेव परमात्मा के तुल्य होगा।^{१२} यह तो स्पष्ट है कि अथर्ववेद के ब्राह्मणकाण्ड का सम्बन्ध किसी ब्राह्मणेत्तर परम्परा से है। ब्राह्मण ने अपने पर्यटन में प्रजापति को भी प्रेरणा दी थी।^{१३} उस प्रजापति ने अपने में सुवर्ण आत्मा को देखा।^{१४}

प्रश्न हो सकता है कि ब्राह्मण कौन है, जिसने प्रजापति को प्रेरणा दी? डा० सम्पूर्णानन्द ब्राह्मण का अर्थ परमात्मा करते हैं।^{१५} और बलदेव उपाध्याय भी इसी अर्थ को स्वीकार करते हैं।^{१६} किन्तु ब्राह्मणकाण्ड का परिशीलन करने पर प्रस्तुत कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। ब्राह्मणकाण्ड में जो वर्णन है वह परमात्मा का नहीं अपितु किसी देहधारी का है। मृति देवेन्द्र शास्त्री की मान्यता है कि उस व्यक्ति का नाम भगवान् ऋषभदेव है, क्योंकि ऋषभदेव एक वर्ष तक तपस्या में स्थिर रहे थे। एक वर्ष

तक निराहार रहने पर भी उनके शरीर की पुष्टि और दीप्ति कम नहीं हुई थी।

‘ब्राह्मण आसीदीयमान एव स प्रजापति समैरयत्’ इस सूत्र में ‘आसीदीयमान’ शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ होता है—पर्यटन करता हुआ। यह शब्द श्रमण संस्कृति के सन्त की ओर निर्देश करता है। इसके अतिरिक्त भी ब्राह्मण को अनेक जगह घूमने वाला साधु भी कहा गया है। श्रमण संस्कृति का साधु भी आदिकाल से ही घुमवकड रहा है। घूमना उसके जीवन की प्रधान दिनचर्या रही है। वह पूर्व^{१७} पश्चिम^{१८} उत्तर^{१९} और दक्षिण आदि सभी दिशाओं में अतिबद्ध रूप से परिभ्रमण करता है। जैनगम साहित्य में अनेक स्थलों पर उसे अतिबन्ध-विहारी कहा है। वर्षावास के समय को छोड़कर शेष आठ मास तक वह एक ग्राम से दूसरे ग्राम, एक नगर से दूसरे नगर विचरता रहता है।^{२०} भ्रमण करना उसके लिए प्रशस्त माना गया है।

ब्राह्मण लोग वनों को मानते थे, अर्हन्तों की उपासना करते थे और प्राकृत भाषा बोलते थे। उनके साधु ब्राह्मण सूत्रों के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय थे।^{२१} ब्राह्मणकाण्ड में पूर्व ब्राह्मणों को ब्राह्मण कहा गया है।^{२२}

निष्कर्ष यह है कि प्राचीनकाल में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग श्रमण संस्कृति के अनुयायी श्रमणों के लिए होता रहा है। अथर्ववेद के ब्राह्मणकाण्ड में रूपक की भाषा में ऋषभदेव का ही जीवन वर्णन किया गया है। ऋषभदेव

५७. ब्राह्मणान् ब्राह्मणता आचारहीनता प्राप्य प्रवसन्तः प्रवास कुर्वन्तः । —ताण्डय ब्राह्मण सायण महाभाष्य

५८. काचिद् विद्वत्तमं महाधिकार, पुण्यशील विश्वसामान्यं । ब्राह्मण विशिष्ट ब्राह्मणमुलक्ष्य वचनमिति मतव्यम् ।। —अथर्ववेद १५।१।११ सायण भाष्य

५९. अथर्ववेद १५।१।१।१

६०. ब्राह्मण आसीदीयमान एव स प्रजापति समैरयत् । —अथर्ववेद

६१. सः प्रजापतिः सुवर्णमात्पन्नपश्यत् ।

—अथर्ववेद १५।१।१।३

६२. डा० सम्पूर्णानन्द—अथर्ववेदीय ब्राह्मणकाण्ड, पृ० १

६३. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ० २२९

६४. स उदतिष्ठत् स प्राचीदिशमनुव्यचजत् ।

—अथर्ववेद १५।१।२।१

६५. स उदतिष्ठत् सः प्रतीचीदिशमनुव्यचलत् ।

—अथर्ववेद १५।१।२।१५

६६. स उदतिष्ठत् स उदीचीदिशमनुव्यचलत् । अथर्ववेद

६७. दशवैकालिक चूलिका—२ गा० ११ ।

६८. विहार चरिया इति पसत्था ।

—दशवैकालिक चूलिका २ गा० ५

६९. वैदिक इण्डेक्स, दूसरी जिल्द १९५८, पृ० ३४३, मेकडानल और कोथ ।

७०. वैदिक कोष, वाराणसेय हिन्दू विश्वविद्यालय, १९६३, सूर्यकान्त ।

के प्रति वैदिक ऋषि प्रारम्भ से ही निष्ठावान् रहे हैं और उन्हें वे देवाधिदेव के रूप में मानते रहे हैं।^{११}

श्रमण

“श्रमण” शब्द की रचना “श्रम” धातु (श्रमु तपसि खेदे च) में ल्युट् प्रत्यय जोड़ कर हुई है। आचार्य हरिभद्र सूरि का कथन है—“श्राम्यतीति श्रमणः तपस्यतीत्यर्थः”^{१२} अर्थात् जो तप करता है वह श्रमण है। इस प्रकार श्रमण का अर्थ हुआ तपस्वी या परित्राजक।

श्रमण शब्द का अर्थ श्रमण व्यापक है। विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध श्रमण शब्द के विविध रूप (समण, शमण, सवण्, श्रवण, श्रमण, सम्मनाइ, श्रमणे, आदि) श्रमण शब्द की व्यापकता सिद्ध करते हैं।^{१३} मिश्र, मुमेर, अपुर, बाबुल, यूनान, रोम, चीन, मध्य एशिया, प्राचीन अमेरिका, अरब, इसराइल आदि प्राचीन देशों में भी श्रमण सस्कृति किसी न किसी रूप में विद्यमान थी, यह अनेक ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों से सिद्ध हो चुका है।

ऋग्वेद में श्रमण^{१४} शब्द तथा वातरशनाः मुनयः (वायु जिनकी मेखला है, ऐसे तपन मूनि) का उल्लेख हुआ है।^{१५} बृहदारण्यक उपनिषद् में श्रमण के साथ साथ ‘तापस’ शब्द का पृथक् प्रयोग हुआ है।^{१६} इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल से ही तापस ब्राह्मण एवं श्रमण भिन्न माने जाते थे। तैत्तिरीय आरण्यक में तो ऋग्वेद के ‘मुनयोः वातरशनाः’ को श्रमण ही बताया गया है।^{१७} उपर्युक्त उद्धरणों से प्राचीन वैदिक काल से ही श्रमणों का अस्तित्व एवं प्रभाव स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है।

वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त रामायण,^{१८} महाभारत^{१९} तथा भागवत पुराण^{२०} में श्रमणों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। श्रमण सस्कृति के आद्य प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव का भी उल्लेख वेदों^{२१} तथा पुराणों^{२२} में अद्भुतपूर्वक किया गया है।

वातरशनाः

ऋग्वेद में जिन ‘वातरशना’ मुनियों का बहुधा उल्लेख हुआ है वे भी आर्हत अथवा जैन हान चाहिए।^{२३} मायण ने भी इन्हीं वातरशना मुनियों को अतीन्द्रियाधेदश कहा

७१. भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नामः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मरुदेव्या धर्मान् दर्शयितुकामा वातरशनानां श्रमणानां ऋषीणाम् उर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तन्वावतारः। —भागवतपुराण ५।३।२०

७२. दशवैकालिक सूत्र १।३

७३. विशेष के लिए देखे लेखक का शोध प्रबन्ध “जैन हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक अध्ययन” पृ० ६३।

७४. तृदिना अतृदिनासो अद्वयोः श्रमणा अगृथिता अमृत्यवः। ऋग्वेद १०।६४।११ — अश्रमणाः श्रमणवर्जिता—सायण भाष्य।

७५. मुनयोः वातरशनाः पिशङ्गावसते मलाः। —ऋग्वेद १०।१३५।२

७६. श्रमणोऽश्रमणः स्तापमोऽतापसः भवति-बृहदारण्यक-उपनिषद् ४।३।२२

७७. वातरशना ह व ऋषयः श्रमणाः उर्ध्वमन्थिनो वभुवः। —तैत्तिरीयारण्यक २।७

७८. तापसाः भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते। —रामायण १।१४।१२

७९. महाभारत - १२।१५।१२१

८०. सन्तुष्टाः करुणा मत्वाः शान्ता दान्तास्तिविश्वः।

आत्मारामाः सहदुःशः प्रायशः श्रमणाः जनः।

—भागवत पुराण

८१. ऋग्वेद, १०।१०२।६ तथा ४।१८।३

८२. (१) वहिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नामः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावत-तारः॥ —भागवत पुराण ५।३।३०

(२) ऋग्वेद १०।११।३६।२-३

८३. (१) मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते मलाः।

वातस्यानु घञि यन्ति यद्देवासो अविक्षतः॥

उन्मदिता मौनयेन वातां आतस्थिम वयम्।

शरीरैरस्माकं मतां सो अभिपश्यथ॥

—ऋग्वेद १०।११।३६।२

(२) तैत्तिरीयारण्यक— १।२३।२; १।२४।४; २।७।१२

है।^{८५} "मुनयो वातरशनाः पिशगा वमते मला" का अर्थ डा० हीरालाल जैन ने सायण भाष्य की सहायता में इस प्रकार किया है—“अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं जिससे पिगल वर्ण दिखाई देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, अर्थात् रोक लेते हैं तब वे अपने तप की महिमा से दैदीप्यमान होकर देवता-स्वरूप को छोड़कर हम मनोवृत्ति से उन्नततत्त्व उत्कृष्ट आनन्द सहित वायु भाव को, अशरीरी ध्यानवृत्ति को, प्राप्त हो जाते हैं और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीर मात्र को देख पाते हो। हमारे सच्चे आभ्यन्तर स्वरूप को नहीं।” केशी मुनि भी वातरशन की श्रेणी के ही थे।^{८६} तैत्तिरीयारण्यक में भगवान् ऋषभदेव के शिष्यों को वातरशन ऋषि उर्ध्वमथी कहा है।^{८७}

श्रीमद् भागवत पुराण में लिखा है—स्वयं भगवान् विष्णु महाराजा नाभिराज का प्रिय करने के लिए उनके रनिवास में महारानी मरुदेवी के गर्भ में आये। उन्होंने वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्म को प्रकट करने की इच्छा से यह अवतार ग्रहण किया।

केशी

ऋग्वेद में भगवान् ऋषभदेव की स्तुति केशी के रूप में की गई है।^{८८} वातरशना मुनि प्रकरण में प्रस्तुत उल्लेख आया है, जिससे स्पष्ट है कि केशी ऋषभदेव ही थे। अन्यत्र ऋग्वेद में केशी और वृषभ का एक साथ उल्लेख भी प्राप्त होता है। मृद्गल ऋषि की गायें (इन्द्रियां)

चुराई जा रही थी। उस समय केशी के सारथी ऋषभ के वचन से वे अपने स्थान पर लौट आयी।^{८९}

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार भगवान् ऋषभदेव जब श्रमण बने तो उन्होंने चार मुष्टि केशों का लोंच किया था। सामान्य रूप से पांच-मुष्टि केशलोंच करने की परम्परा है। भगवान् ऋषभदेव केशों का लोंच कर रहे थे। दोनों भागों के केशों का लोंच करना अवशेष था। उस समय प्रथम देवलोक के इन्द्र शकेन्द्र ने ऋषभ देव से निवेदन किया कि इतनी सुन्दर केशराशि को रहने दें। ऋषभदेव ने इन्द्र की प्रार्थना से उसको उसी प्रकार रहने दिया।^{९०}

ऋषभ और वृषभ :

डा० राधाकृष्णन कहते हैं “जैन परम्परा के अनुसार जैन धर्म का प्रारम्भ ऋषभदेव से होता है जो सदियों से पहले ही चुके थे। ऐसे प्रमाण मिलते हैं जो बताते हैं कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक ऋषभदेव की उपासना करने वाले लोग थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैन धर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ के पहले भी था।”

जैन ग्रन्थों में ऋषभ को हिरण्यगर्भ भी कहा है क्योंकि उनके गर्भ में आने पर आकाश से स्वर्ण की वर्षा हुई थी।

यथा—गर्भद्विजस्त जस्त उ हिरण्यवृद्धी संकचणा पाशिया।

तेणं हिरण्यगर्भो जयस्मि उवयिज्जए उसमो ॥

अर्थात् जिनके गर्भ में आने पर सुवर्ण की वृष्टि हुई, इसी से ऋषभ जगत में हिरण्यगर्भ कहलाये।

८४. वातरशनाः वातरशनस्य पुत्राः मुनयः अतीन्द्रियार्थ-
दर्शिना जतिवात जतिप्रभयतः पिशगा पिशगानि
कपिलवर्णानि मला मलिनानि वक्त्रल रूपाणि वासासि
वसते आच्छादयन्ति । —सायण भाष्य १०।१३६।२

८५. ऋग्वेद : सायणभाष्य—१०।८६५।७

८६. वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा उर्ध्वमथिनो वभूवुः।
—तैत्तिरीयारण्यक २।७।१

८७. केश्यमिन् केशी विषं केशी विमर्त्ति रोदसी।

केशी विश्वं स्वदूशे केशीदं ज्वोतिरुच्यते ॥

८८. ककदंवे वृषभो युक्त आसीदवाववीत्सारथिरस्य केशी
दुर्षैर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो

मृद्गलानीम्।

—ऋग्वेद १०।१।१०२।६

८९. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वक्षस्कार २, सू० ३०

९०. Indian Philosophy Vol-I, P. 227 “Jain tradition ascribes the origin of the system to Rishabhadeva, who lived many centuries back. There is evidence to show that so far back as the first century B. C. there were people who were worshipping Rishabhadeva, the first Tirthankara. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhaman or Parshvanath.

ऋग्वेद मंत्र १० सूक्त १२१ की पहली ऋचा इस प्रकार है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताप्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

स दाधार पृथिवीं धामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेमः ॥

इसमें कहा गया है कि पहले हिरण्यगर्भ हुए । वह प्राणीमात्र के एक स्वामी थे । उन्होंने आकाश सहित पृथ्वी को धारण किया ।

महाभारत के शांतिपर्व में भी “हिरण्यगर्भः योगस्य वक्ता नान्या पुरातनः ।” अर्थात् हिरण्यगर्भ योगमार्ग के प्रवर्तक है, अन्य कोई उनसे प्राचीन नहीं है । तो क्या ऋषभ ही तो हिरण्यगर्भ नहीं है ?

ऋषभ इक्ष्वाकुवशी थे । इक्ष्वाकु मूलतः पुरु राजाओं की एक परम्परा थी, यद्यपि ऋग्वेद में पुरुओं को मन्स्वती के तट पर बतलाया गया है । किन्तु उत्तर इक्ष्वाकुओं का सम्बन्ध अयोध्या से था । जैनागम में अयोध्या को ही ऋषभदेव का जन्म स्थान माना है । उद्यर सांख्ययान श्रोत्र सूत्र में हिरण्यगर्भ को कौशल्य कहा गया है । अयोध्या का कौशल देश में कहा गया है । अतः कौशल देश में जन्म लेने से ऋषभदेव को कौमल्य कहा जा सकता है ।

ऋग्वेद में भगवान् ऋषभदेव का अनेक जगह उल्लेख हुआ है । “एक जगह ऋषभदेव की स्तुति ‘अहिंसक आत्म-साधकों में प्रथम, अश्वत्थानुचर्चा के प्रणेता तथा मर्त्यों में सर्वप्रथम अमरत्व तथा महादेवत्व पाने वाले महापुरुष के रूप में की गई है । एक अन्य स्थान पर उन्हें ज्ञान का आगार तथा दुर्गों में शत्रुओं का विध्वंसक बनाया है ।

अमृतपूर्वा वृषभो ज्यायनिभा अस्य शुरुषः सन्तिपूर्वोः ।

विवा न पाना विदयस्यधीभिः क्षत्रं राजाया प्रविबो दद्याथे ॥

— ऋग्वेद ५।३८

ऋषभदेव का प्रमुख सिद्धान्त था कि आत्मा में ही परमात्मा का अधिष्ठान है । अतः उसे प्राप्त करने का उपाय ब्रह्म । इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए वेदों में उनका नामोल्लेख करते हुए कहा गया है—

त्रिधा बद्धो वृषभो रोलोती, महादेवो मर्त्यानाविवेश ।

— ऋग्वेद १४।५८।३

मन, वचन, काय तीनों योगों से बद्ध वृषभ ने घोषणा की कि महादेव मर्त्यों में आवास करता है । उन्होंने अपनी

साधना और तपस्या से मनुष्य शरीर में रहते हुए उसे प्रमाणित भी कर दिखया था । ऐसा उल्लेख भी वेदों में है—

तन्मर्त्यस्य देवत्वमजानमगे । — ऋग्वेद १३।१।१७

ऋषभ स्वयं आदि पुरुष थे, जिन्होंने सबसे पहले मर्त्यदशा में देवत्व की प्राप्ति की थी ।

ऋषभदेव प्रेम के राजा के रूप में विख्यात थे । उन्होंने जिस शासन का स्थापना की थी, उसमें मनुष्य व पशु सभी समान थे । पशु भी मारे नहीं जाते थे—

नास्य पशून् समानान् हिनास्ति ॥ — अथर्ववेद

सब प्राणियों के प्रति इस मैत्री भावना के कारण ही वे देवत्व के रूप में पूजे जाते थे ।

ऋषभं मा समासानां सपत्यानां विषासहितम् ।

हन्तारं शत्रूणां कृषि विराजं गोपितं गवाम् ॥

— ऋग्वेद अ० ८ मं० सू० २४

इसलिए ही मुद्गल ऋषि पर ऋषभदेव की वाणी के विलक्षण प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

ककद्वे वृषभो युक्त प्रासीद् प्रवावचीद् सारथिरथस्य केशी ।

दुर्धर्युक्तस्य दधतः सहानस ऋच्छन्तिस्मा निष्पदो मुद्गलानीम् ॥

— ऋग्वेद १०।१०।२।६

इसीलिए उन्हें ब्राह्मण करने की प्रेरणा दी गई है—

ग्रहोमुचं वृषभं यजियानां विराजं तं प्रथममध्वराणाम् ।

अप्रां न पातमद्विनाहु वेधिय इन्द्रियेण इन्द्रियं दत्तभोजः ।

— अथर्ववेद, का० १६।४२।४

अर्थात् समस्त पापों से युक्त, अहिंसक वृत्तियों के प्रथम राजा, आदित्यस्वरूप श्री ऋषभदेव को मैं ब्राह्मण करता हूँ । वे मुझे बुद्धि और इन्द्रियों के साथ बल प्रदान करें ।

ऋग्वेद में उन्हें स्तुति योग्य बताते हुए कहा गया है—

अनर्वाणं ऋषभं मन्त्रजिह्वं, बृहस्पति वर्धया नव्यमके ।

— ऋग्वेद मं० १ सूत्र १६० मन्त्र १

मिष्टभाषी, ज्ञानी, स्तुति-योग्य ऋषभ को पूजा साधक मन्त्रों द्वारा वक्षित करो । वे स्तोता को नहीं छोड़ते—

प्राग्नेये वाचमीरय । — ऋग्वेद मं० १० सूत्र १८७

तेजस्वी ऋषभ के लिए स्तुति प्रेरित करो—

ज्ञातारमिन्त्रं ऋषभं ववन्ति,

अतिचारमिन्त्रं तमपरिष्टेनेमि भवे भवे ।

पुभवं सुपाश्वंमिन्त्रं हवेतु शकं ।

अजितं तद् वद्धमानं पुरुहूतमिन्त्रं स्वाहा ॥

प्रस्तुत मन्त्र में भगवान् ऋषभदेव द्वितीय तीर्थङ्कर अजितनाथ तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ और चौबीसवें भगवान् वधमान का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

अप्पा दवि मेयवामन रोदसी इमा च विश्वाभुवनानि।

मन्मना धूयेन निष्ठा वृषभो विराजास ॥

—सामवेद, ३ अ० १ खंड

सामवेद के इस मन्त्र में भी भगवान् ऋषभदेव को समस्त विश्वज्ञाता बनाया गया है।

मरुत्थं न वृषभं वाक्धानमकवारि दिव्य।

शासनमिद्र विश्वा साहम वसे नूतनायोप्रासदो वा मिहंता-
ह्वयेमः।

— ऋग्वेद ३६।७-३-११

समिद्रस्य परम हसो वन्दे तवधियं वृषभो गम्भवानसिम
मध्वोऽविध्यस।

— ऋग्वेद ४ अ० ४ व ६-४-१ ५२

उपर्युक्त मन्त्रों में तीर्थङ्कर वाचक शब्द श्री वृषभ-
देव की महिमा का गान करते हुए जैन संस्कृति की
वेदों से भी प्राचीन प्रमाणित कर रहे हैं।

पार्श्व, अरिष्टनेमि तथा महावीर :

सुपार्श्वनाथ^{११}, अरिष्टनेमि^{१२} तथा महावीरादि तीर्थ-
ङ्करों की स्तुति का वेदों में तथा वेदोत्तरकालीन साहित्य में
उल्लेख हुआ है

आतिथ्यरूपं भासरं महावीरस्य नमनः।

रूपमुपदामेतस्त्रो रात्रौ सुरासुता।^{१३}

यजुर्वेद के उपरोक्त मन्त्र में भगवान् महावीर का
नामोल्लेख स्पष्ट है।

उपर्युक्त मन्त्रों में तीर्थङ्करों (ऋषभदेव, सुपार्श्व,
अरिष्टनेमि, महावीर आदि) का उल्लेख किया गया है।

इसकी पुष्टि राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन,^{१४} डा० अलन्-
खेवर^{१५}, प्रो० विरूपाक्ष^{१६}, डा० बिमलाचरण लाहा^{१७}, जी०
मो० जैन^{१८} प्रभृति विद्वज्जन भी करते हैं।

प्रो० विरूपाक्ष वाडियर वेदों में जैन तीर्थङ्करों के
उल्लेखों का कारण उपस्थित करने हुए लिखते हैं 'प्रकृति-
वादी मरीचि ऋषभदेव का पारिवारिक था।' वेद उसके
तत्त्वानुसार होने के कारण ही ऋग्वेद आदि ग्रन्थों की
ख्याति उसी के ज्ञान द्वारा हुई है। फलतः मरीचि ऋषि
के स्तोत्र वेद-पुराण आदि ग्रन्थों में है और स्थान-स्थान
पर जैन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है। कोई ऐसा
कारण नहीं है कि हम वैदिक काल में जैन धर्म का
अस्तित्व न मानें।^{१९}

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर
पहुँचते हैं कि श्रमण संस्कृति भारत की एक महान् संस्कृति
और सम्पत्ति है जो प्रामाणिकता का ज्ञान से ही भारत के
विविध अंचलों में फैली और फूलती रही है। यह
संस्कृति वैदिक संस्कृति की धारा नहीं है अपितु एक
स्वतन्त्र संस्कृति है। इस संस्कृति की विचारधारा वैदिक
संस्कृति की विचारधारा से पृथक् है।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि जैन संस्कृति, जिसे श्रमण
संस्कृति कहा गया है, वैदिक और बौद्ध संस्कृति से पूर्व
की संस्कृति है, भारत की प्रादि संस्कृति है। □ □ □

जैन दर्शन विभाग,

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज०)

६२. (१) ऊं सुपार्श्वमिन्द्र हवे। —यजुर्वेद

(२) ज्ञातारमिन्द्रं ऋषभ वदन्ति

अतिचारमिन्द्र तमपरिष्टनेमि भवे भवे।

सुभवं सुपार्श्वमिन्द्रं हवेतु शक्रं।

अजितं तद् बद्धमानं पुरुहूतमिन्द्रं स्वाहा ॥

६३. (१) ऊं रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा। —यजुर्वेद

(२) त्वा रथ वयद्याहुवेमस्तो मेरुद्विना सविताय नव्य
अरिष्टनेमि परिद्यामियानं विद्यामेषं वृजनं-
जीरदानम् ॥ — ऋग्वेद अ० २ अ० ४ व २४

(३) वाजस्यनु प्रसव आवभूवेमा,
च विश्वा भुवनानि सर्वतः।

स नेमिराजा परियाति विद्वान्,

प्रजां पुष्टि वधेयमानो असौ स्वाहा ॥

—यजुर्वेद अ० ६ म० २५

(४) स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः,
स्वस्ति न पूषा विश्वदेवाः।

स्वस्ति न स्ताक्ष्यो अरिष्टनेमि,

स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

—सामवेद प्रपा० ६ अ० ३

६४. देवबहिवर्धमानं सुवीर, स्तोत्रं राये सुमर वेद्यस्याम।

धृतेनाक्तवसवः सोदतेद, विश्वे देवा आदित्यामित्रः सः ॥

— ऋग्वेद म० २ अ० १, सूक्त ३

६५. यजुर्वेद—अ० १६ म० १४।

६६. Radha Krishnan Indian Philosophy,
Vol I, pp 287.

६७. Indian Antiquary, Vol-3. pp. 90.

६८. जैन पथ प्रदर्शक (भाग ३) भा० ३, अ० ३, पृ. १०६

६९. Historical Gleanings, pp 78.

१००. अनेकान्त—वेदों में गूँजते जैन संस्कृति के स्वर ..

मार्च १९७१, वष ६ पृ० ३६ ३७।

१०१. अजैन विद्वानों की सम्मति, जैन पथ प्रदर्शक,
(भाग ३) भाग-३, पृ० ३१, १।

जिनेन्द्र प्रतिमा का स्वरूप तथा उसका महत्त्व

□ श्री राजीव प्रचंडिधा, अलीगढ़

‘सत्यं शिवं सुन्दरं’ का समन्वित रूप कला है। कला के अन्तर्गत ‘जैन मूर्ति कला’ सुन्दरता के साथ-साथ सत्य तथा कल्याण की भावना से अनुप्राणित है। सचमुच जैन मूर्ति कला अपनी विशेषता रखती है। कला-क्षेत्र में उसका अपना एक स्थान है।

सर्वप्रथम मस्तिष्क में प्रश्न उठता है कि मूर्ति क्या है? ‘मूर्ति’ के अनेक पर्याय हैं—प्रतिमा, प्रतिकृति, चित्र, तस्वीर, शकल-सूरत, फोटो आदि-आदि। किन्तु समझने की दृष्टि से मूर्ति को दो वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है :—

१. तदाकार मूर्ति । २. अतदाकार मूर्ति ।

पदार्थ के असली आकार की मूर्ति तदाकार मूर्ति के अन्तर्गत आती है, जैसे मनुष्य, हाथी, घोड़े आदि के खिलौने, तस्वीर, प्रतिमा आदि। पदार्थ के असली आकार में न होते हुए भी जिस मूर्ति में उस पदार्थ का बोध कराने का चिह्न समाहित हो वह अतदाकार मूर्ति कहलाती है; उदाहरणार्थ, शतरंज की गोठें। ये गोठें शतरंजी खेल में राजा, मन्त्री, हाथी, घोडा आदि के स्वरूप को स्थिर करती हैं।

यह अपने में सत्य है कि बिम्ब का प्रभाव मानव हृदय पर स्पष्ट रूप से पड़ा करता है, इस बात को विज्ञान भी स्वीकारता है। बाह्य वस्तुओं की प्रेरणा से जा विचार बिम्ब मस्तिष्क में बनते हैं, उनका प्रभाव मानव शरीर के कण-कण पर पड़ता है, ऐसा डा० लिटनटन कहते हैं। सचमुच गन्दे प्रतिबिम्ब गन्दगी फैलाते हैं और उजले वीतराग प्रतिबिम्ब स्वच्छता।

जैन धर्म प्रवृत्ति की प्रवेक्षा निवृत्ति मूलक है, अर्थात् अभिलाषाओं (बहिरंग विषय-कषायादि) के त्याग पर विशेष बल देता है। अस्तु, आरम्भ से लेकर अधुनातन

उसके मूर्ति-विधान में केवल वीतरागता यानी राग-द्वेष से परे के ही अभिवर्शन होते हैं। जिनेन्द्र मूर्तियाँ चाहे नन्द या मौर्य काल की हों, चाहे कुशान काल की रही हों, चाहे प्राचीनतम काल की हों, आज की जिनेन्द्र प्रतिमाओं से अभिन्नता रखती हैं।

जिनबिम्ब यद्यपि निर्जीव हैं, पर लगते हैं सजीव से। पाषाणादि के होते हुए भी वे पंच भौतिक तत्त्वों (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा) से विनिर्मित शरीर-मय हैं। मूक में भी श्रमक दिखते हैं। कारण? कारण यह है कि बिम्ब एक ऐसे शिल्पी के द्वारा तरासे जाते हैं जो इनमें वीतरागता, विरागता तथा समता जैसे सुन्दर सस्कारों को मन में काफी सक्षम होते हैं। वास्तव में ये बिम्ब बिन बोले ही मानव के सोय हुए आत्म सस्कारों को जगा देते हैं, और भर देते हैं उनमें एक नई चेतना। इनके दर्शन मात्र से व्यक्ति सुख-शान्ति से आप्लावित हो जाता है। सच है वीतराग की वीतराग मूर्तियों से राग-द्वेष की जीतने की प्रेरणा व्यक्ति में समा जाती है।

सचमुच जिनेन्द्र बिम्ब स्थायी कोश हैं और हैं अन्तरंग के प्रेरक। ये बिम्ब उन दिव्य आत्माओं का हमें क्षण प्रतिक्षण स्मरण कराते हैं जिन्होंने लोकहित के लिए तथा स्व-पर कल्याण के लिए अपना जीवन समर्पण किया है। धन्य हैं और अनन्य हैं ऐसे जिनेन्द्र बिम्ब जिनसे व्यक्ति अज्ञान के घरातल से उठकर ज्ञान के पामीर तक सहज में पहुँच लेता है।

जिन प्रतिमा व उनका स्थान (मन्दिर) वस्तुतः चैत्य व चैत्यालय कहलाते हैं। ये मनुष्यकृत भी होते हैं और अकृतम भी। मनुष्यकृत चैत्यालय तो मनुष्य लोक

१. ‘मत्याथं दपणं’—स्व० पं० अजित कुमार जैन, शास्त्री, सन् १९३७, भा० दि० जैन शास्त्रार्थ सघ, अम्बाला छावनी।

में ही मिलते हैं, परन्तु अकृत्रिम चैत्यालय चारों प्रकार के देवों के भवन प्रासादों या विमानों में तथा स्थल-स्थल पर इस मध्य लोक में विद्यमान है।^१ इस लोक में स्थित होने के फलस्वरूप प्रतिमा स्थावर कहलाती है और मोक्षगमन काल में एक समय के लिए वही जंगम जिन प्रतिमा कहलाती है।^१

जैनदर्शन के अनुसार, व्यक्ति अपने कर्मों का विनाश कर स्वयं परमात्मा बन जाता है और उस परमात्मा की दो अवस्थाएँ होती हैं—एक शरीर रहित, जीवन्मुक्त अवस्था और दूसरी शरीर रहित, देह मुक्त अवस्था। पहली अवस्था की अर्हन्त कहा जाता है तथा दूसरी अवस्था सिद्ध कहलाती है। अर्हन्त भी दो प्रकार के होते हैं—तीर्थङ्कर और सामान्य। विशेष पुण्य सहित अर्हन्त जिनके कि कल्याणक महोत्सव (जीवनकाल की पाँच प्रसिद्ध घटनास्थलों का उत्सव—गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण) मनाए जाते हैं, तीर्थङ्कर कहलाते हैं और शेष सब सामान्य अर्हन्त कहलाते हैं।^१

जिनेन्द्र भगवान के इस स्वरूप को समझकर अब यदि जिनेन्द्र प्रतिमा का अध्ययन किया जाय तो नहज में ही ज्ञात हो जाएगा कि जिनेन्द्र प्रतिमा अर्हन्त (तीर्थङ्कर) तथा सिद्ध अवस्था में ही पायी जाती है। आठ प्रातिहार्यों (अशोक वृक्ष, तीन छत्र, रत्न खचित सिंहासन, मुख से दिव्य बाणी प्रगट होना, दुन्दुभिनाद, पुष्पवृष्टि, प्रभामण्डल, चौंसठ चमर युक्तता) से युक्त तथा सम्पूर्ण शुभ अवयवों वाली वीतरागता के भाव से पूर्ण अर्हन्त की प्रतिमा होती है तथा सिद्ध की शुभ प्रतिमा प्रातिहार्यों से रहित होती है।^१

तीर्थङ्कर की मूर्तियां केवल दो आसनो—पद्मासन (इस अवस्था में तीर्थङ्कर के दायाँ चरण ऊपर तथा बायाँ चरण नीचे होते हैं और हाथ इस क्रम में होते हैं कि बायाँ

हाथ की हथेली दायाँ हाथ की हथेली से नीचे होती है) और खड्गासन (इसमें प्रतिमा सीधी, खड़ी तथा जानु-पर्यन्त लम्बायमान बाहु वाली होती है) में ही सर्वत्र दिखाई देती हैं। तीर्थङ्कर की मूर्तियों को उनके चिह्नों से पहि-चाना जाता है, चाहे वे खड्गासन हों या पद्मासन। जैन धर्म में चौबीस तीर्थङ्कर हुए हैं। इन चौबीसों तीर्थङ्करों के अपने-अपने चिह्न होते हैं, जिनसे वे समझे-पहिचाने जाते हैं कि यह भ्रमुक तीर्थङ्कर है। ये चिह्न तीर्थङ्कर के दायाँ चरण के अंगूठे में होते हैं, किन्तु जिनेन्द्र मूर्तियों के सामने ही ये चिह्न बना दिये जाते हैं ताकि सहज में ही मूर्ति के माध्यम से तीर्थङ्कर की पहिचान हो सके। तीर्थ-ङ्करों के नाम और चिह्न निम्न प्रकार से हैं—

तीर्थङ्कर	चिह्न
१. श्री ऋषभनाथ	बैल
२. श्री मज्जितनाथ	हाथी
३. श्री सम्भवनाथ	घोड़ा
४. श्री अभिनन्दन नाथ	बन्दर
५. श्री सुमतिनाथ	चक्रवा
६. श्री पद्मप्रभु	कमल
७. श्री सुपाश्वनाथ	सातिया (स्वस्तिक)
८. श्री चन्द्रप्रभु	चन्द्रमा
९. श्री पुष्पदन्त	मगर
१०. श्री शीतलनाथ	कल्प वृक्ष
११. श्री श्रेयांस नाथ	गेडा
१२. श्री वासुपूज्य	भैंसा
१३. श्री विमलनाथ	शूकर
१४. श्री अनन्तनाथ	सेही
१५. श्री धर्मनाथ	वज्ररण्ड
१६. श्री शान्तिनाथ	हरिण
१७. श्री कुन्धुनाथ	बकरा

१. जेनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, क्षु० जिनेन्द्रवर्णी, पृ० ३००, प्रथम संस्करण, सन् १९७१, भारतीय ज्ञान पीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५।

२. दर्शन पाठ्य, गाथा संख्या २७, पृ० ११, प्रथम संस्करण वि० स० १९७७, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई।

३. जेनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, क्षुत्लक जिनेन्द्र वज्र पृ. १४०, प्रथम संस्करण, १९७०, भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५।

४. तिलोय पण्णत्ति, गाथा संख्या ६१५-६२७, अधिकार संख्या ४, प्रथम संस्करण वि० स० १९१६, जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर।

तीर्थङ्कर	चिह्न
१८. श्री अरहनाथ	मत्स्य (मछली)
१९. श्री मल्लिनाथ	कलश
२०. श्री मुनि सुव्रतनाथ	कछुवा
२१. श्री नमिनाथ	नील कमल
२२. श्री नेमिनाथ	शंख
२३. श्री पार्श्वनाथ	सर्प
२४. श्री महावीर प्रभु	भिह

इनमें से ऋषभनाथ का दूसरा नाम आदिनाथ तथा पुष्पदन्त का दूसरा नाम सुविघ्निनाथ और महावीर के दूसरे नाम वद्धमान, सम्मति, वीर, अतिवीर है।^१

जिनेन्द्र प्रतिमा अनेक लक्षणों से युक्त होती है तथा जैनेतर मूर्ति से सर्वथा भिन्न दृष्टा करती है। निश्चय ही जैन प्रतिमाये दूर से ही पहिचानी जा सकती है। जिनेन्द्र प्रतिमा खड्गासन या पद्मासन रूप में सुन्दर-संस्थान वाली दिग्म्बर (नग्न) होती है। श्री वृक्ष लक्षण से भूषित वक्षस्थल और उनके कुक्षि आदि अंग रोम हीन होते हैं तथा मूछ व भुरियो आदि से रहित होते हैं।

लक्षणों से सयुक्त भी प्रतिमा यदि नेत्र रहित हो या मुन्दा हुई आख वाली हो तो शास्त्रानुकूल नहीं मानी जाती, इसलिए उनके नेत्र आधे खुले रखे जाते हैं, अर्थात् न तो अत्यन्त मुन्दे हुए और न अत्यन्त फटे हुए। वे तो नितान्त अर्द्धमिलित होते हैं। ऊपर नीचे अणवा दाये-बायें उनकी दृष्टि नहीं होती है, अपितु नासाग्र प्रसन्न व निर्विकार मय उनकी दृष्टि दिखाई देती है। उनके मध्य भाग व अधोभाग भी वीतराग प्रदर्शक होते हैं।

जिनेन्द्र प्रतिमाओं के जो लक्षण अभी-अभी निरूपित किए हैं, उनके पीछे उनका रहस्य अप्रकट रहता है, जब कि इन लक्षणों की अपनी विशेषता है, ये तीर्थङ्करों के प्रच्छन्न गुणों को व्यक्त कराते हैं, जानकारी देते हैं। इन लक्षणों की सार्थकता इस प्रकार से है^२ :—

१. दैनिक जैन धर्मचर्या, अजितकुमार शास्त्री, प्रभाकर, पृष्ठ ३७, द्वितीय संस्करण, १९५६, ४५३७, पहाड़ी घोरज, दिल्ली।
२. धवला, पुस्तक संख्या ९, खंड सख्या ४, भाग १, सूत्र ४४, पृष्ठ सख्या १०७, अमरावती।

१. जिनेन्द्र प्रतिमा की स्पन्दन रहित नेत्र दृष्टि तीन वेदों (स्त्री, पुरुष, नपुंसक) के अभाव की जापक है।

२. जिनेन्द्र प्रतिमा की नासा दृष्टि, बाह्य पदार्थों के प्रति ममत्व न होने का संकेत कराती है।

३. जिनेन्द्र मूर्तियां निराभरण होती हैं जो भगवान् में व्याप्त विरागता के अभिदर्शन कराती हैं।

४. जिनेन्द्र विम्ब के भृकुटि रहित होने से क्रोध का अभाव भगवान् में दिखाई देता है।

५. अक्षसूत्र (जनेऊ), जटामुकट और नर मुण्डमाला को न धारण करने से, मोह के न होने का संकेत मिलता है।

६. जैन मूर्तियों के वस्त्र रहित होने से अंतरंग में भी परिग्रह का अभाव दिखाई देता है।

७. जिनेन्द्र मूर्तियां कुटिल अवलोकन से रहित होती हैं जो भगवान् में ज्ञानावरण व दर्शनावरण के पूर्ण अभाव की जानकारी देती हैं।

८. जिनेन्द्र प्रतिमा निरायुध होती है जो क्रोध, मान, माया, लोभ नामक कषायों तथा जन्म, मरण और हिसा के अभाव का संकेत कराती है।

९. जिनेन्द्र प्रतिमा के वक्षस्थल पर श्री वृक्ष का चिह्न स्व तथा पर के कल्याण का द्योतक है।

जिनेन्द्र प्रतिमा के समीप में अष्ट मंगल द्रव्य तथा १०८ उपकरण—शृंगार, कलश, दर्पण, चंवर, ध्वजा, बीजना, छत्र, सुप्रतिष्ठ, पात्री, शख, धूपनी, दीप कूच, पाटलिका, भ्रातृ, मजोरा आदि भी यथायोग्य विद्यमान तथा सुशोभित होते हैं।^३

यदि जिनेन्द्र प्रतिमा दोषयुक्त है तो उससे हानियां भी हो सकती हैं^४, जैसे दायी-बायी दृष्टि से अर्थ का नाश, अधोदृष्टि से भय तथा ऊर्ध्वदृष्टि से पुत्र व भार्या का मरण होता है। स्तब्धदृष्टि से शोक, उद्वेग, सताप तथा घन का क्षय होता है।

३. तिलोयपण्णत्ति, अधिकार संख्या ४, गाथा संख्या १८७९-१८८०, प्रथम संस्करण, वि० स० १९१९, जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर।
४. वसुनन्दि प्रतिष्ठा पाठ, परि० ४१, श्लोक नं० ७५-८०।

सदोष प्रतिमा को पूजना अशुभ माना जाता है, क्यों कि उसमें पूजा करने वाले का अथवा प्रतिमा के स्वामी का नाश, अंगों का कुश हो जाना अथवा घन का क्षय आदि फल प्राप्त होते हैं। अंगहीन प्रतिमा क्षय व दुःख को देने वाली है। नेत्रहीन प्रतिमा नेत्रध्वंस करने वाली तथा मुखहीन प्रतिमा अशुभ करने वाली है। हृदय से कुश प्रतिमा महोदर रोग या हृदय रोग करती है। अस या अंगहीन प्रतिमा पुत्र को तथा शुष्क जंघा वाली प्रतिमा राजा को मारती है। पाद रहित प्रतिमा प्रजा का तथा कटिहीन प्रतिमा वाहन का नाश करती है।

उपर्युक्त सब बातों को ध्यान में रखकर जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाये सदैव दोषहीन बनायी जाती है, वे निर्दोष होती हैं।

प्रायः अब यह जाना और माना जाता है कि आत्मा ही पूज्य है तो फिर जिनेन्द्र मूर्ति की क्या आवश्यकता है ? उसका क्या महत्त्व ?

मूर्ति मात्र तीर्थङ्करों के गुणों का स्मरण एवं चिन्तन करा देने का माध्यम है। साधन। आप और हम सभी जानते हैं कि मन बड़ा चंचल है। वह बिना लगाम के एक घोड़े की भाँति है। फिर ऐसे अस्थिर मन को जो पल पल में भागता है, दौड़ता है, कैसे स्थिर किया जाय ? कैसे एकाग्र किया जाय ? लोलगता है कि केवल जिनेन्द्र प्रतिमाओं के द्वारा ही मन जैसे तेज दौड़क को शुभ प्रवृत्ति में लगाया जा सकता है, उसे स्थिर किया जा सकता है।

जिनेन्द्र प्रतिमा के समक्ष व्यक्ति विचार करता है कि हे प्रभो ! आपकी कितनी प्रशान्त मूर्ता है, आप में कितनी शान्ति है और आप कितने महान् हैं, पवित्र हैं। गुणों के तो आप आगार ही हैं आदि-आदि रूपों से वह स्तवन करता हुआ उनके गुणों को अपने में उतारने की प्रेरणा प्राप्त करता है। सचमुच जिनेन्द्र भगवान का रूप राग द्वेष से परे वीतरागमय है। इसलिए वस्त्र रहित, नग्न होने पर भी मन को हरने वाला है। आपका यह रूप न शरीरों के द्वारा हिंस्य है और न शरीरों का हिंसक

है इसलिए आयुधरहित होने पर भी अत्यन्त निर्भय स्वरूप है तथा नाना प्रकार की क्षुत्पिपासादि वेदनाओं का विनाश हो जाने से आहार न करते हुए भी तृप्तिमान है।

निःसन्देह ये जिन प्रतिमाये व्यक्ति को सुप्तावस्था से जागृत अवस्था की ओर ले जाती हैं। अचेतन से चेतन की दिशा में व्यक्ति को झुकाती हैं।

यह अपने में सत्य है कि तीर्थङ्कर के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, सम्यग्दर्शन, वीतरागतादिक गुण ग्रहप्रतिमा और सिद्ध प्रतिमा में नहीं हैं, वरन् उन गुणों का स्मरण होने में ये कारण अवश्य होते हैं, क्योंकि अर्हत और सिद्धों का उन प्रतिमाओं में मादृश्य है। यह गुण स्मरण, अनु-राग स्वरूप होने में ज्ञान और श्रद्धान को उत्पन्न करता है और इससे नवीन कर्मों की महानिर्जरा होती है, अर्थात् नवीन कर्मों का झड़ना होता है।

अतः पाक्षिक श्रावक को अपनी श्रद्धा और सामर्थ्य के अनुसार जिन विम्ब, जिन मन्दिर आदि धर्मायतन (धर्म के स्थान) बनवाने चाहिए क्योंकि उनका बनवाने से बड़ा भारी धर्मानुबन्ध होता है, साथ ही इनके बनवाने से धर्म की रक्षा और वृद्धि होती है। यद्यपि जिनविम्ब व जिन मन्दिर आदि बनवाने में हिसाब दोष लगते हैं परन्तु वे दोष - दोष नहीं हैं, पुण्यबन्ध के कारण हैं।' जैसा कि लिखा भी है 'तत्प्राप्तमपि न पाप यत्र महान्धर्मानुबन्धः' अर्थात् वह पाप भी पाप नहीं है कि जिसमें बड़ा भारी धर्मानुबन्ध हो।

इस पंचमकाल में ऐसे तीव्र मोहनीय कर्म का उदय होता है जो किसी से निवारण नहीं किया जा सकता। जिनके शास्त्ररूपी नेत्र हैं ऐसे विद्वान् लोगों की बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण की प्रवृत्ति भी प्रायः जिन प्रतिमा के दर्शन किये बिना भक्ति करने में (उन्हें को एकमात्र शरण मानकर पूजा-सेवा करने में) प्रवृत्त नहीं होती। 'प्रायः' शब्द से यहाँ यह अभिप्राय है कि कोई-कोई, ज्ञान और वैराग्य भावना में तत्पर भव्य जीव प्रतिमा दर्शन के बिना भी परमात्मा के आराधन करने में लीन हो जाते हैं और अन्य लोग प्रतिमा दर्शन से ही परमात्मा का आरा-

महावीर : आचरण के शक्ति पूँज

□ डा० महेन्द्र सागर प्रचंडिया, अलीगढ़

परिनिर्वाण काल में महावीर के विषय में बहुविध विचार विवेचना हुई है। जहाँ तक मुझे लगा—महावीर को उपासना का आदर्श मानकर उनके उपासको द्वारा जिस प्रास्था की स्थापना हुई, उसने उन्हें मात्र देवालय तक सीमित कर दिया, फलस्वरूप व्यक्ति और वस्तु-बोध में बाधा उत्पन्न हुई है। मेरी धारणा बनी है कि महावीर मात्र उपासना के नहीं, अपितु आचरण की प्रतिशय शक्ति थे। उन्होंने जो कहा उसे हम आज तक गाते-दुहराते हैं। उन्होंने जो किया, अथवा उनके द्वारा जो हुआ, उससे हम प्रायः अपरिचित और उपेक्षित रहे हैं। वस्तुतः उन्होंने जो किया, हमारे लिए वही आदर्श के रूप में अधिकतर उपयोगी रहेगा।

महावीर ने धर्म को संकीर्ण नहीं बनाया। उसकी आकीर्णता उन्हें संबंधा प्रियकर रही है। उन्होंने आवश्यक समझा कि धर्म की अभिव्यक्ति लोकभाषा में होनी चाहिए, ताकि उसके समझने के लिए समय-परिधि में न बंधना पड़े। धर्म तो हमारी जीवन-चर्या का स्वभाव होता है, अतः उसका जीवित होना अत्यन्त आवश्यक है।

धर्म का स्वभाव है कि उसे समझ कर व्यक्ति उठे, व्यक्ति-उठान समुदाय और समाज को उठाती है। महावीर काल में व्यक्ति विकास हुआ। विषमता के स्थान पर

समता ने संचार किया। व्यक्ति उदय से वर्गोदय और अन्ततोगत्वा सर्वोदय मुखरित हुआ। समुदाय और समाज को समझ कर महावीर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि—

कोहो पीई पणासेई माणो विणय नासणो।

माया मित्ताणि नासई लोहो सव्वविणासणो॥

अर्थात् क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करने वाला है, माया मंत्री का विनाश करती है और लोभ सब (प्रीति, विनय और मंत्री) का नाश करने वाला है। अस्तु, उन्होंने जीवन में पंचाणुवन—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अग्रिग्रह—को स्थान दिया। व्रत-व्यवहार से जीवन जागृत होता है। जीवन व्यापी संकीर्णता के समूल समापन के लिए उन्होंने स्याद्वाद की शैली और अनेकान्त जैसे सफल सिद्धांत की उपयोगिता का सम्यक् उद्घाटन कर दिया।

आज भ० महावीर का चरित्र हमारे जीवनोत्कर्ष के लिए परमोपयोगी है। उन बातों को मात्र गाने दुहराने की आवश्यकता नहीं है अर्थात् उन सभी बातों को हमारी जीवन-चर्या से चरितार्थ होना चाहिए, तभी हम स्वयं और दूसरों को जीवन जीने देने का निमित्त जुटा पायेंगे। □

मानद-सचालक, जैनशोध अकादमी
आगरा रोड, अलीगढ़ (उ. प्र.)

(पृष्ठ ६५ का शेषांश)

घन कर सकते हैं।'

यह निश्चित है कि जहाँ जिन बिम्ब व जिन मन्दिर होते हैं वहाँ के गृहस्थ पूजा, अभिषेक आदि धर्म कार्य करके सदा धर्मोत्सव करते रहते हैं जिससे उनका पुण्य बंध होता रहता है और अशुभ कर्म नष्ट होते रहते हैं। परन्तु जहाँ जिनबिम्ब व जिन मन्दिर नहीं हैं वहाँ के गृहस्थ इस धर्म कार्य से सदैव वंचित रहते हैं, इसलिए वहाँ न तो धर्म का उद्योत होता है और न वे पुण्य-बंध कर सकते हैं, न अशुभ कर्म नष्ट कर सकते हैं। अस्तु, धर्म की स्थिति में जिनबिम्ब व जिन मन्दिर भी मुख्य कारण है।' अतः धार्मिक पुरुषों को जिनबिम्ब, जिनमन्दिर अवश्य बनवाना चाहिए। इसकाल में ये ही कल्याण करने वाले हैं तथा ये ही धर्मवृद्धि के मुख्य कारण हैं।

जिनेन्द्र प्रतिमा में दिगम्बर प्रतिमा ही पूज्य है, अर्थात् स्वकीय शासन की प्रतिमा ही उपादेय है और परकीय

प्रतिमा हेय है, अवन्दनीय है। स्वकीय शासन में भी उत्कृष्ट प्रतिमा वन्दनीय है, अनुत्कृष्ट नहीं। उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट प्रतिमा क्या है? पंच जैनाभासों के द्वारा प्रतिष्ठित अजलिका रहित तथा नग्न भी मूर्ति वन्दनीय नहीं हैं। जैनाभासों से रहित साक्षात् आर्हत् संघों के द्वारा प्रतिष्ठित तथा चक्षु व स्तन आदि विकारों से रहित प्रतिमा ही वन्दनीय है। इन्द्रनन्दि भट्टारक कहते हैं कि नन्दिसंघ, सेनसंघ, देवसंघ और सिंहसंघ इन चार संघों के द्वारा प्रतिष्ठित जिनबिम्ब ही नमस्कार किए जाने योग्य हैं, दूसरे संघों के द्वारा प्रतिष्ठित नहीं, क्योंकि वे न्याय व नियम के विरुद्ध हैं।

अतः में, यही कहा जा सकता है कि जिनेन्द्र प्रतिमा श्रमण संस्कृति के लिए गौरव की वस्तु है। वह प्रत्येक जैन-अजैन साधक के लिए पूज्य है, महान है और है कल्याणकारी।

पीली कोठी, आगरा रोड,
अलीगढ़-२०२००१

१. सागर धर्माभूत, हलोक संख्या ३६, पृ० १११, प्रथमावृत्ति, वी० सं० २४४१, मूलचन्द किशनदास कापड़िया, सुरत।

२. सागर धर्माभूत, हलोक संख्या ३७, पृ० ११३, प्रथमावृत्ति, वी० सं० २४४१, मूलचन्द किशनदास कापड़िया, सुरत।

भारतवर्ष का एक प्राचीन जैन विश्वविद्यालय

□ डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

ईस्वी सन् की द्वावी शताब्दी में भारतवर्ष ने एक साथ तीन साम्राज्यों का उदय देखा—दक्षिणापथ में राष्ट्रकूट, बिहार-बंगाल में पाल और उत्तरापथ के मध्यप्रदेश (गंगा के दोआब) में गुर्जर प्रतिहार। लगभग दो शताब्दी पर्यन्त इन तीनों ही साम्राज्यों में सम्पूर्ण भारतवर्ष के एकच्छत्र शासन के लिए परस्पर प्रबल प्रतिद्वन्द्विता एवं होठ रही, किन्तु उक्त उद्देश्य में तीनों में से एक भी सफल न हो सका। तीनों की ही साथ-साथ स्वतन्त्र सत्ता बनी रही। इतना अवश्य है कि उन तीनों में विस्तार, शक्ति एवं समृद्धि की दृष्टि से राष्ट्रकूट साम्राज्य ही सभ्यतया सर्वोपरि रहा। राष्ट्रकूटों का सम्बन्ध दक्षिणापथ के अशोककालीन प्राचीन रट्टिकों के साथ जोड़ा जाता है, और यह अनुमान किया जाता है कि ६ठी-७वीं शती में इनका मूल निवास-स्थान बराड या बराट (आधुनिक बरार और प्राचीन विदर्भ) देश में स्थित लातूर नामक स्थान था, जहाँ उस काल में वे पहले जनवासी के कदम्बों के और तदनन्तर वातापी के प्राचीन पश्चिमीय चालुक्य नरेशों के अति सामान्य करद सामन्तों के रूप में निवास करते थे। ७वीं शती के उत्तरार्ध में उन्होंने शक्ति सवर्द्धन प्रारम्भ किया और द्वावीं शती के द्वितीय पाद के प्रारम्भ के लगभग राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग एक शक्तिशाली राज्य की नींव डालने में सफल हुआ और आगामी २५-३० वर्षों में वह प्रायः सम्पूर्ण दक्षिणापथ का स्वामी बन बैठा। अवश्य ही उसने अपने पूर्व प्रभुओं, वातापी के चालुक्य सम्राटों, की उत्तरोत्तर होने वाली अवनति का पूरा लाभ उठाया, अपितु उनके प्रभुत्व का अन्त करने में सक्रिय योग दिया और शनैः-शनैः उनके सम्पूर्ण साम्राज्य को हस्तगत कर लिया। तत्पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों, कृष्ण प्रथम अकालवर्ष (७५६-७७२ ई०), गोविन्द द्वितीय (७७२-७७६ ई०), ध्रुव धारावर्ष निरूपम श्री वल्लभ (७७६-७८३ ई०) और गोविन्द तृतीय जगत्तुङ्ग

प्रभूतवर्ष ७८३-८१४ ई०) ने अपनी सफल आक्रामक नीति के फलस्वरूप दन्तिदुर्ग के उक्त राष्ट्रकूट राज्य की एक भारी साम्राज्य के रूप में परिणत कर दिया, जिसका कि विस्तार सुदूर दक्षिण में केरल और कांची पर्यन्त था और उत्तर में मालवा पर्यन्त, उत्तर-पश्चिम दिशा में प्रायः सम्पूर्ण गुजरात और राजस्थान के कुछ भाग उसके अंग बन गये थे और पूर्व में बेंग के पूर्वी चालुक्य उसके करद सामन्त बन गये थे। तदुपरान्त अधिक डेढ़ सौ वर्ष पर्यन्त यह विशाल राष्ट्रकूट साम्राज्य अपनी शक्ति, वैभव एवं समृद्धि की चरमावस्था का उपयोग करता हुआ प्रायः अक्षुण्ण बना रहा। १०वीं शती के तृतीय पाद के अन्त के लगभग वह अकस्मात् धरासायी हो गया।

अर्द्धाई सौ वर्ष का यह काल दक्षिणापथ के इतिहास में राष्ट्रकूट-युग के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपने समय के इस सर्वाधिक विस्तृत, वैभवशाली एवं शक्ति सम्पन्न भारतीय साम्राज्य के अवीश्वर इन राष्ट्रकूट नरेशों की कीर्तिगाथा अरब मोरारो के द्वारा सुदूर मध्य एशियाई देशों तक पहुंची थी जहाँ वे 'बलहरा' (बलभराय) के नाम से प्रसिद्ध हुए। राष्ट्रकूटों की इस महती सफलता का श्रेय जहाँ अनुकूल परिस्थितियों, उनकी स्वयं की महत्वाकांक्षा, शौर्य और राजनीतिक पटुता को है वहाँ उसका एक प्रमुख कारण उनकी सामान्य नीति भी थी। वे सुमध्य और सुमस्कृत भी थे, साहित्य और कला के प्रश्रयदाता थे और सबसे बड़ी बात यह कि वे पूर्णतया सर्वधर्म सहिष्णु थे। एलोरा के प्रख्यात गुहामन्दिरों का उत्खनन कार्य कृष्ण प्रथम के समय में प्रारम्भ हुआ, जिसमें शैव, जैन और बौद्ध तीनों ही सम्प्रदायों ने योग दिया तथा उत्खनित गुहाम्हापत्य के अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत किये। महानगरी मान्यखेट की नींव गोविन्द तृतीय ने ही डाल दी थी और उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी सम्राट अमोघवर्ष प्रथम नृपतुंग सर्वधर्म (८१५-८७७ ई०)

ने उसका निर्माण करके और उसे अपनी राजधानी बनाकर उसे द्वितीय इन्द्रपुरी बना दिया था। साम्राज्य के विभिन्न भागों में जैनादि विभिन्न धर्मों के अनेक सुन्दर देवालय तथा धार्मिक, सांस्कृतिक एवं शिक्षा संस्थान स्थापित हुए। इन धर्मागतों एवं संस्थानों के निर्माण एवं संरक्षण में स्वयं इन सम्राटों ने, इनके सामन्त सरदारों और राजकीय अधिकारियों ने तथा समृद्ध प्रजाजनों ने उदार अनुदान दिये। उस युग में पञ्चीसियों उद्भूत विद्वानों ने प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और कन्नड की विविध विषयक महत्वपूर्ण कृतियों से भारती के भंडार की प्रभूत श्रीवृद्धि की। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय साम्राज्य में साथ-साथ फल-फूल रहे थे। उनके अनुयायी विद्वानों में परस्पर मौखिक वाद-विवाद भी होते थे, बहुधा स्वयं सम्राट् की राजसभा में ही, और साहित्य द्वारा भी खंडन-मंडन होते थे, किन्तु ये वाद विवाद और खंडन-मंडन बौद्धिक स्तर से नीचे नहीं उतरते थे, उनमें प्रायः कोई कटुता नहीं होती थी और न विद्वेष या वैमनस्य भड़कते थे। धार्मिक अत्याचार और बलात् धर्म परिवर्तन उस युग में अज्ञात थे। सभी सम्प्रदाय लोकहित, जन-जीवन के उत्थान और राष्ट्र के अग्र्युदय में यथाशक्ति सन्त्रिय सहयोग देते थे।

उपलब्ध प्रमाणाक्षरों से स्पष्ट है कि राष्ट्रकूट साम्राज्य में जैनधर्म की स्थिति पर्याप्त स्पृहणीय थी। उसे राज्य एवं जनता, दोनों का ही प्रभूत प्रश्रय एवं सम्मान प्राप्त था। राष्ट्रकूट इतिहास के विशेषज्ञ डा० अनन्त सदाशिव अल्टेकर के अनुसार, उस काल में दक्षिणापथ की सम्पूर्ण जनसंख्या का ही कम से कम तृतीयांश जैन धर्मावलम्बी था। इस धर्म के अनुयायियों में प्रायः सभी वर्णों, जातियों एवं वर्गों का प्रतिनिधित्व था—उनमें राज्यवश के स्त्री-पुरुष भी थे, अनेक सामन्त-सरदार, सेनापति और दण्डनायक भी थे, ब्राह्मण, पंडित और व्यापारी एवं व्यवसायी भी थे, सैनिक और कृषक भी थे, शिल्पी, कर्मकार और शूद्र भी थे। जैनाचार्यों ने भी इस सुयोग का लाभ उठाकर स्वधर्म को राज्य एवं समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने में और उसे सचेतन एवं प्रगतिशील बनाने में कोई कसर नहीं उठा रखी। फल-

स्वरूप जनजीवन के अग्र्युत्थान में वे प्रमुख भाग लेने में समर्थ हुए। डा० अल्टेकर के मतानुसार, सांवांजनिक शिक्षा के क्षेत्र में तो उनका सक्रिय योगदान सम्भवतया सर्वोपरि था, जिसका एक प्रमाण यह है कि आज भी दक्षिण भारत में बालकों के शिक्षारम्भ के समय जब उन्हें वर्णमाला सिखाई जाती है तो सर्वप्रथम उन्हें 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' नाम का मंगल सूत्र रटाया जाता है, न कि ब्राह्मण परम्परा का 'श्री गणेशाय नमः'। 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' विशिष्टतया जैन मन्त्र है, हिन्दू, बौद्ध आदि अन्य धर्मों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी आधार पर डा० चिन्तामणि विनायक वैद्य ने भी यह कथन किया है कि उस युग में सांवांजनिक शिक्षा के क्षेत्र पर जैन शिक्षकों ने ऐसा पूर्ण एवं व्यापक नियन्त्रण स्थापित कर लिया था कि जैन धर्म की अवनति के उपरान्त भी हिन्दुजन अपने बालकों का शिक्षारम्भ उसी जैन मन्त्र से करते रहे हैं। वस्तुतः उत्तर भारत के अनेक भागों की प्राचीन पद्धति की प्राथमिक पाठशालाओं (चटसालो आदि) में भी बालकों का शिक्षारम्भ उसी जैन मन्त्र के विकृत रूप 'ओना मासी धर्म' से होता आया है, जिसका अर्थ भी प्रायः न पढ़ने वाले ही समझते हैं और न पढ़ाने वाले ही। इसी प्रकार, जैन व्याकरण 'कातन्त्र' का मंगल सूत्र 'स्वयं सिद्धः वर्णसमाम्नायः' भी अपने विकृत रूप 'सरदा वरना मवा मनाया' में आज भी पाठशालाओं में प्रचलित पाया जाता है।

अतएव इस विषय में सन्देह नहीं है कि उस काल में उस प्रदेश में ऐसे अनगिनत जैन संस्थान थे जो शिक्षा केन्द्रों के रूप में चल रहे थे और उनके कोई-कोई तो ऐसे विशाल विद्यापीठ या ज्ञानकेन्द्र थे जिनसे ज्ञान की किरणें चतुर्दिक प्रसरित होती थी।

प्रायः प्रत्येक वसति (जिनमंदिर) से सम्बद्ध जो पाठशाला होती थी उसमें धार्मिक एवं सतीर्षी वृत्ति के जैन गृहस्थ शिक्षा देते थे जिनमें बहुधा गृह-सेवी या गृह-त्यागी ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणियां आदि भी होते थे। क्षुल्लक, ऐल्लक और निर्ग्रन्थ मुनि भी जब-जब अपने विहार काल में वहाँ निवास करते, विशेषकर वर्षावास या चातुर्मास काल में, तो वे भी इस शिक्षण में योग देते

थे। किन्तु जो विशाल ज्ञानपीठ होते थे उनका नियन्त्रण एवं संचालन दिग्गज निर्ग्रन्थाचार्य ही करते थे और वहाँ अपने गुरु-बन्धुओं, शिष्यों-प्रशिष्यों के बृहत् परिवार के साथ ज्ञानाराधना करते थे। अपनी चर्चा के नियमानुसार ये निष्परिग्रही तपस्वी दिग्गम्बर मुनिजन समय-समय पर यत्र-तत्र अल्पाधिक विहार भी करते रहते थे, किन्तु स्थायी निवास उनका प्रायः वही स्थान होता था। इन विद्यापीठों में साहित्य साधना के अतिरिक्त तात्त्विक, दार्शनिक एवं धार्मिक ही नहीं, लौकिक विषयो, यहाँ तक कि राजनीति का भी शिक्षण दिया जाता था। साधुओं के अतिरिक्त विशेष ज्ञान के अर्थी गृहस्थ छात्र, जिनमें बहुधा राजपुरुष भी होते थे, इस शिक्षण का लाभ उठाते थे। इन केन्द्रों में निःशुल्क आवास एवं भोजन और सावं-जनिक चिकित्सा की भी बहुधा व्यवस्था रहती थी।

राष्ट्रकूट काल और साम्राज्य के प्रमुख ज्ञानपीठों में संभवतया सर्वमहान् वाटग्राम का ज्ञानवेन्द्र था। वराह प्रदेश (बैरार) में तत्कालीन नासिक देश (प्रान्त) के वाटनगर नामक विषय (जिले) का मुख्य स्थान यह वाटग्राम, वाटग्रामपुर या वाटनगर था जिसकी पहचान वर्तमान महाराष्ट्र राज्य के नासिक जिले के डिंडोरी तालुके में स्थित 'वानी' नामक ग्राम से की गई है। नासिक नगर से पाँच मील उत्तर की ओर सतमाला अपरनाम चन्दोर नाम की पहाड़ीमाला है जिसकी एक पहाड़ी पर चाम्भार-लेण नाम से प्रसिद्ध एक प्राचीन उत्खनित जैन गुफा श्रेणी है। यह अनुमान किया जाता है कि प्राचीनकाल में ये गुफाएँ जैन मुनियों के निवास के उपयोग में आती थीं। इस पहाड़ी के उस पार ही वानी नाम का गाँव बसा हुआ है जहाँ कि उक्त काल में उपरोक्त वाटनगर बसा हुआ था। बहुसंख्यक गुफाओं के इस सिलसिले को देखकर यह सहज ही अनुमान होता है कि यहाँ किसी समय एक महान् जैन संस्थान रहा होगा। वस्तुतः राष्ट्रकूट युग में रहा ही था। उस समय इस संस्थान के केन्द्रीय भाग में अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभु का एक मनोरम चैत्यालय भी स्थित था जिसके सम्बन्ध में उस काल में भी यह किंवदन्ती प्रचलित थी कि वह आणतेन्द्र द्वारा निर्मापित है। यह पुनीत चैत्य ही संभव-

तया संस्थान के कुलपति का आवास स्थल था।

वाटनगर के इस ज्ञानपीठ की स्थापना का श्रेय संभवतया पञ्चस्तूप निकाय (जो कालान्तर में सेनसंघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ) के दिग्गम्बराचार्यों को ही है। ईस्वी सन् के प्रारम्भ के आसपास हस्तिनापुर, मथुरा अथवा किसी अन्य स्थान के प्राचीन पाँच जैन स्तूपों से संबंधित होने के कारण मुनियों की यह शाखा पञ्चस्तूपान्वय कहलाई। ५वीं शती ई० में इसी स्तूपान्वय के एक प्रसिद्ध आचार्य गुह्यनन्दि ने वाराणसी से बंगाल देशस्थ पहाड़पुर की ओर विहार किया था जहाँ उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने बटगोहाली का प्रसिद्ध संस्थान स्थापित किया था। ६ठी शती में इसी अन्वय के एक आचार्य वृषभनन्दि ने दक्षिणापथ में विहार किया। इन्हीं वृषभनन्दि की शिष्य परम्परा में ७वीं शती के उत्तरार्ध में संभवतया श्रीसेन नाम के एक आचार्य हुए और संभवतया इन श्रीसेन के शिष्य चन्द्रसेनाचार्य थे जिन्होंने ८वीं शती ई० के प्रथम पाद के लगभग राष्ट्रकूटों के सम्भावित उत्कर्ष को लक्ष्य करके वाटनगर की बस्ती के बाहर स्थित चन्दोर पर्वतमाला की इन चाम्भार लेणों में उपरोक्त ज्ञानपीठ की स्थापना की थी। सम्पूर्ण नासिकय क्षेत्र तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभु से संबंधित तीर्थक्षेत्र माना जाता था और इस स्थान में तो स्वयं धवलवर्ण चन्द्रप्रभु का तथाकथित आणतेन्द्र निर्मित धवल भवन विद्यमान था। गजपन्था और मागी-तुंगी के प्रसिद्ध प्राचीन जैन तीर्थ भी निकट थे, एलाउर या ऐलपुर (एलोरा) का शैव संस्थान और कन्हरी का बौद्ध संस्थान भी दूर नहीं। राष्ट्रकूटों की प्रधान सैनिक छावनी भी कुछ दूर कर उसी प्रदेश के मयूरखडी नामक दुर्ग में थी और तत्कालीन राजधानी सूनुभजन (गोरभंज) भी नातिदूर थी। इस प्रकार, यह स्थान निर्जन और प्राकृतिक भी था, प्राचीन पवित्र परम्पराओं से युक्त था, राजधानी आदि के भ्रमेले से दूर भी, किन्तु शांति और सुरक्षा की दृष्टि से उसके प्रभावक्षेत्र में ही था। अच्छी बस्ती के नैकट्य से प्राप्त सुविधाओं का भी लाभ था और उसके शोरगुल से असम्पृक्त भी रह सकता था। एक महत्वपूर्ण ज्ञानकेन्द्र के लिए यह आदर्श स्थिति थी। चन्द्रसेनाचार्य के पश्चात् उनके प्रधान शिष्य आर्यनन्दि ने संस्थान को विकसित

किया। संभवतया इन दोनों ही गुरु-शिष्यों की यह आकांक्षा थी कि यह संस्थान एक विशाल ज्ञानकेन्द्र बने और इसमें खट्खंडागम आदि आगमग्रन्थों पर विशेष रूप से कार्य किया जाय। संयोग से आर्यनन्दि को वीरसेन के रूप में ऐसे प्रतिभासम्पन्न सुयोग्य शिष्य की प्राप्ति हुई जिसके द्वारा उन्हें अपनी चिराभिलाषा फलवती होती दीख पड़ी। वीरसेन, जो सम्भवतया स्वयं राजकुलोत्पन्न थे और यह संभावना है कि राजस्थान के सुप्रसिद्ध चित्तौड़गढ़ के मोरी (मौर्य) राजा धवलपदेव के कनिष्ठ पुत्र थे, गुरु की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए मन्तव्य हो गये। गुरु की प्रेरणा से वह आगमों के विशिष्ट ज्ञानी एलाचार्य की सेवा में पहुँचे, जो उस समय चित्रकूटपुर (उपरोक्त चित्तौड़) में ही निवास करते थे, और उनके समीप उन्होंने कम्मपयडिपाहुड आदि आगमों का गभीर अध्ययन किया। तदनन्तर वह अपने वाटनगर के संस्थान में वापस आये और ऽर्षीं शती ई० के मध्य के लगभग गुरु के निधनोपरान्त उक्त संस्थान के अध्यक्ष या कुलपति बने और आगमों की अपनी विशाल टीकाओं के निर्माण कार्य में एकनिष्ठ होकर जुट गये।

स्वामी वीरसेन को प्राकृत और संस्कृत उभय भाषाओं पर पूर्ण अधिकार था, सिद्धान्त, छन्द, व्याकरण, ज्योतिष और प्रमाण शास्त्रों में वह परम निष्णात थे। उनके शिष्य जिनसेन ने उनके लिए कवि चक्रवर्ती विशेषण भी प्रयुक्त किया है। वीरसेन अपने समय के सर्वोपरि 'पुस्तक-शिष्य' समझे जाते थे, जिसका अर्थ है कि उन्होंने उस समय उपलब्ध प्रायः समस्त साहित्य पढ़ डाला था। यह तथा उनकी कृतियों में उपलब्ध अनगिनत संदर्भ संकेतों एवं उद्धरणों से भी स्पष्ट है। इन आचार्यपुंगव ने जो विशाल साहित्य सृजन किया उसमें षट्खण्डागम के प्रथम पाच खण्डों पर निर्मित 'धवल' नाम की ७२००० श्लोक परिमाण महती टीका, छोटे खण्ड 'महाधन्व' का ३०००० श्लोक परिमाण सटिप्पण सम्पादन 'महाधवल' के रूप में, कसाय प्राभृत की 'जयधवल' नाम्नी टीका का लगभग तृतीयांश जो लगभग २२५०० श्लोक परिमाण है, मिद्ध-भूपद्धति नाम का गणित शास्त्र तथा २री शती ई० के यतिवृषभाचार्यकृत तिलोपपणत्ति का किसी जीर्ण शोध

प्राचीन प्रति पर से उद्धार करके उसका अन्तिम संस्करण, तो है ही। अन्य कोई रचना हो उसका अभी पता नहीं चला। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने अपने संस्थान में एक अत्यन्त समृद्ध ग्रन्थ-भंडार संग्रह किया होगा। लेखन के लिए टनो ताड़पत्र तथा अन्य लेखन सामग्री की आवश्यकता पूर्ति के लिए भी वहाँ इन वस्तुओं का एक अच्छा बड़ा कारखाना होगा। अपने कार्य में तथा संस्थान की अन्य गतिविधियों में योग देने वाले उनके दर्जनों सहायक और सहयोगी भी होंगे। उनके सधर्मा के रूप में जयसेन का और प्रमुख शिष्यों के रूप में दशरथ गुरु, श्रीपाल, विनयसेन, पद्मसेन, देवसेन और जिनसेन के नाम तो प्राप्त होते ही हैं। अन्य समकालीन विद्वानों में उनके दीक्षागुरु आर्यनन्दि और विद्यागुरु एलाचार्य के अनिरुक्त दक्षिणापथ में गंगनरेश श्रीपुरुष मत्तरग शत्रुभयकर (७२६-७७६ ई०) द्वारा समादृत तथा निर्गुंडराज के राजनीति विद्यागुरु विमलचन्द्र, राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम की सभा में वाद-विजय करने वाले परदादिमल्ल, अकलङ्कदेव के प्रथम टीकाकार अनन्तवीर्य प्रथम, तत्त्वार्थश्लोकवातिक, अष्टसहस्री आदि के कर्ता विद्यानन्द, हरिवंशपुराणकार जिनमेनसूरि, रामायण आदि के रचयिता अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभु आदि उल्लेखनीय हैं। चित्तौड़ निवासी महान् श्वेताम्बराचार्य याकिनीसूनु हरिभद्रसूरि भी इनके समकालीन थे। भट्टकलंकदेव को अपनी बाल्यावरथा में स्वामी वीरसेन ने देखा भुना हो सकता है—उनका स्मरण वीरसेन 'पूज्यपाद' नाम से करते थे। स्वामी वीरसेन ने अपनी धवला टीका की समाप्ति सन् ७८१ ई० (विक्रम स० ८३८) में की थी और ७९३ ई० के लगभग उनका स्वर्गवास हो गया प्रतीत होता है। इसमें सन्देह नहीं है कि वाटनगर में ज्ञानकेन्द्र को स्वामी वीरसेन ने उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचा दिया था।

उनके पश्चात् संस्थान का कार्यभार उनके प्रिय शिष्य जिनसेन स्वामी ने संभाला। यह अविद्वकण बाल-तपस्वी भी अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न थे। पार्श्वाम्युदय काव्य उनके काव्य कौशल का उत्तम परिचायक है। सन् ८३७ ई० (शक स० ७५९) में उन्होंने गुरु द्वारा अधूरे छोड़े कार्य—जयधवल के शेषार्पण को लगभग ४००००

श्लोक परिमाण पूर्ण किया। इस महाग्रन्थ का सम्पादन उनके ज्येष्ठ सधर्मा श्रीपाल ने किया था। ऐसा लगता है कि तदनन्तर जिनसेन ने महापुराण की रचना प्रारंभ की किन्तु वह उसके आद्य १०३८० श्लोक ही रच पाये और उनमें प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ का चरित्र भी पूरा न कर पाये कि ८५० ई० के कुछ पूर्व ही उनका निधन हो गया। राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम नृपतुग (८१५-८७७ ई०) उन्हें अपना गुरु मानता था और यदा-कदा राज्यकार्य में विराम लेकर उनके तपोवन में आकर उनके सान्निध्य में समय व्यतीत करता था। वह स्वयं भी अर्द्धा विद्वान् और कवि था। स्वामी जिनसेन के समकालीन विद्वानों में उनके गुरु एष सधर्माओं के अतिरिक्त हरिवंशपुराणकार जिनसेनसूरि, उपरोक्त स्वामि विद्यानन्द, अनन्तवीर्य द्वितीय, अर्ककीर्ति, विजयकीर्ति, स्वयम्भुपुत्र कवि त्रिभुवनस्वयम्भु, शिवकोटखाचार्य, वैद्यक-शास्त्र कल्याणकारक के रचयिता उग्रादित्य, गणितसारसप्तह के कर्त्ता महावीराचार्य और वैयाकरण शकटायन पात्य-कीर्ति उल्लेखनीय हैं। इनमें से कम से कम अन्तिम तीन को भी सम्राट् अमोघवर्ष का प्रथम प्राप्त हुआ था।

स्वामी जिनसेन के प्रधान शिष्य आचार्य गुणभद्र थे, जिन्होंने गुरु के अधूरे छोड़े आदिपुराण को संक्षेप में पूरा किया तथा उत्तरपुराण के रूप में अन्य २३ तीर्थङ्करो का चरित्र निबद्ध किया। उन्होंने आत्मानुशासन और जिनदत्तचरित्र की भी रचना की। कहा जाता है कि सम्राट् अमोघवर्ष ने अपने युवराज कृष्ण द्वितीय का गुरु उन्हें नियुक्त किया था। गुणभद्राचार्य का निधन कृष्ण द्वितीय के राज्यकाल (८७८-९१४ ई०) के प्रारम्भ ही, लगभग ८८० ई० में हो गया लगता है। उनके समय तक इस परम्परा के गुरुओं का ही वाटग्राम के केन्द्र से सीधा एवं प्रधान सम्बन्ध रहा और वह पूर्ववत् फलता-फूलता रहा, किन्तु गुणभद्र के उपरान्त उसकी स्थिति गौण होती गई। गुणभद्र के प्रधान शिष्य लोकभद्र ने अमोघवर्ष के जैन सेनापति बकेयारस के पुत्र लोकादित्य के प्रश्रय में उसकी राजधानी बंकापुर को अपना केन्द्र बना लिया प्रतीत होता है, जहाँ उसने ८९८ ई० में गुरु द्वारा रचित उत्तरपुराण का ग्रन्थविमोचन समारोह किया था।

हाल में ही नासिक जिले के वजीरखेडा ग्राम से प्राप्त दो ताम्रशासनों से पता चलता है कि उपरोक्त कृष्ण द्वितीय के पौत्र एवं उत्तराधिकारी राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र तृतीय (९१४-९२२ ई०) ने अपने सिंहासनारोहण के उपलक्ष्य में, एक के द्वारा चन्दनापुर-पत्तन (चन्दनपुर या चन्द्रपुर) की जैन बसति को और दूसरे के द्वारा बड-नेरपत्तन (बडनगरपत्तन या वाटनगर) की जैन बसति को भूमि आदि का दान दिया था। ये दान द्रविडवंश के वीरगण की चीर्न्नायान्वय शाखा या विर्णयान्वय शाखा के वर्धमान गुरु के शिष्य लोकभद्र को समर्पित किये गये थे। ऐसा लगता है कि इस काल में इस प्रदेश में सेन गण के गुरुओं का अभाव और द्रविडसंघ का प्राबल्य हो जाने से गुणभद्र या लोकभद्र के वर्धमानगुरु नामक किसी शिष्य ने द्रविडसंघ में अपना सम्बन्ध जोड़ लिया हो और उसमें अपने परम्परा-गुरु वीरसेन के नाम पर वीरगण की स्थापना करके इस संस्थान का अधिकार अपने हाथ में ले लिया हो। वजीरखेडा का प्राचीन नाम भी वीरखेडा या वीरग्राम रहा बताया जाता है, बडनगरपत्तन तो वाटनगर में अभिन्न ही प्रतीत होता है, चन्दपुर या चन्द्रपुर नाम की कोई नवीन बस्ती पूर्वोक्त चन्द्रप्रभु चैत्यालय के ईर्द-गिर्द विकसित हो गई हो सकती है।

यों इस महान् धर्मकेन्द्र की प्रसिद्धि, संभवतया उसके देवायतनों आदि तथा कतिपय संस्थाओं की विद्यमानता भी, कम से कम अगले सौ-डेढ़ सौ वर्ष पर्यन्त बनी रही। सन् १०४३ ई० (वि० स० ११००) में धारानगरी के प्रसिद्ध महाराज भोज (१००६-१०५० ई०) के समय में अपना अपभ्रंश सुदर्शनचरित पूर्ण करने वाले आचार्य नय-नन्दि ने अपने सकल विधि-विधान काव्य में एक स्थल पर लिखा है कि “उत्तम एवं प्रसिद्ध वराड देश के अन्तर्गत — कीर्ति लक्ष्मी सरस्वती (के सयोग) से मनोहर वाट-ग्राम के महान् महल शिवर (उत्तुग भवन) में जहाँ जिनेन्द्र चन्द्रप्रभु विराजते थे, वीरसेन-जिनसेन देवो ने धवल, जयधवल और महाबन्ध नाम के तीन शिवपथा (मोक्षमार्गी) सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना भव्यजनो को सुखदायी की थी। वही सिद्धिरमणी के हार पुडरीक और (शेष पृ० ११० पर)।

समयसार में तत्त्व-विवेचन की दृष्टि

□ डा० दामोदर शास्त्री, नई दिल्ली

जैन साहित्य के इतिहास में 'समयसार' जैसी कृति अनुपम है। इस कृति में आध्यात्मिकता व दार्शनिकता का अनूठा समन्वित रूप देखने को मिलता है, साथ ही जैन दार्शनिक साहित्य में एक नई परम्परा का सूत्रपात भी। जैन साहित्य के समग्र इतिहास पर दृष्टि डालें तो हमें इस कृति से पहले एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें समयसार की तरह मुक्ति को या परमात्मावस्था को अद्वैतावस्था की स्थिति के रूप में चित्रित किया गया हो। आत्म-निरूपण में जो तत्त्व-दृष्टि भी अपनाई गई है, वह अपूर्व है। जिज्ञासा स्वाभाविक है कि आचार्य कुन्दकुन्द को समयसार जैसा ग्रन्थ लिखने की क्या आवश्यकता हुई, या वे कौन-सी परिस्थितियाँ थी जिन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द को 'समयसार' लिखने के लिए प्रेरित किया। इस प्रश्न के समाधान के लिये हमें जैन दर्शन के बन्ध व मोक्ष की पूर्ण स्वीकृत प्रक्रियाओं का अध्ययन करना होगा।

समयसार से पूर्व मोक्ष-प्राप्ति की जो मान्यता प्रमुख रूप से प्रचलित रही, वह यह थी कि आत्म-अनात्म का अविवेक हमारे बन्धन का कारण है। आत्मस्वरूप का सही ज्ञान न होने से अनात्म पदार्थ को भी हम आत्मा समझ बैठे हैं। इसी अज्ञान से हमारी आत्मा में रागद्वेषादि परि-

णति होकर विभाव-अवस्था या विकृति होती है और इस प्रकार बन्धन और भी दृढ़तर होता चला जाता है।^१ संक्षेप में, मोह व राग-द्वेष बन्ध के कारण है।^२ इसलिए मुमुक्षु को आत्म-ज्ञान तथा रागद्वेषहीन समतावस्था की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।^३ बन्ध के हेतु यद्यपि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि कई हैं,^४ तथापि मिथ्यात्व व कषाय का नाश हुए बिना, विशेषतः अज्ञान या मोह को नष्ट किये बिना साधना की कोटि पर चढ़ना असंभव है।^५

इस प्रकार तत्त्व-ज्ञान, विशेषकर आत्मज्ञान जैन-मुक्तिमार्ग का अनिवार्य अंग है।^६ जैन आचार्यों के मत में आत्मा का ज्ञान आत्मा व अनात्म दोनों को जाने बिना सम्भव नहीं।^७ संक्षेप में, भेदविज्ञान से ही मुक्ति का द्वार खुल सकता है।^८ अतः आत्मा के साथ-साथ अनात्म—अजीव पदार्थ का ज्ञान भी जरूरी हो गया,^९ और यही कारण था कि जैन आगम व आगमेतर साहित्य जीव-अजीव, पंचास्तिकाय या पट्द्रव्य के निरूपणों से भरा पड़ा है।^{१०}

इस प्रकार, एक तरफ उपनिषदों के 'आत्मा वा अरे

१. प्रवचनसार, १८३-८४।
२. रागद्वेषविमोहाना ज्ञानिनो यदसंभवः।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥
—समयसारकलश, ११६
३. उत्तराध्ययन, ३२.२ तथा ३२.६; प्रवचनसार—
१.८०-८१, त. सू. १०.१।
४. तत्त्वार्थसूत्र—१।
५. दुःखं ह्य जस्य न होइ मोहो (उत्तरा. ३२.८)।
६. भगवती आराधना—७७१, उत्तरा. ६.२; दशवै.
१०.४।

७. अतोऽणमेव अभिनिगिच्छन् एव दुःखा पमोक्त्वसि।
(आचारारंग)
८. भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥
(समयसारकलश—१३१)
- येनात्माबुद्ध्यतात्मैव, परत्वेनैव चापरम् ॥
(समाधिष. १)
९. आत परं च जाणेज्जा (इसिभासिय—३५.१२)।
१०. गियजद्वज्जाणणट्ठ इयर कहियं जिणेहि छट्ठवं।
तम्हा परछट्ठवे जाणगभावो ण होइ सण्णाणं ॥
(बृहद् नयचक्र—)

द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" के स्वर से, तो दूसरी तरफ प्रकृतिपुरुषान्यताख्याति से मुक्ति मानने वाले सांख्य दर्शन से जैन दर्शन का ऐकमत्य दिखाई पड़ता है ।"

हम देखते हैं कि क्रमशः जैन साहित्य में आत्मज्ञान द्रव्य-ज्ञान का पर्यायवाची-सा बन गया," क्योंकि यह माना जाने लगा कि किसी भी एक द्रव्य को जानना तब तक सम्भव नहीं, जब तक त्रैकालिक त्रिलोकस्थ पदार्थों का ज्ञान न हो ।" आचार्य कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती आ० उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र में मोक्षमार्ग का जो रूप प्रस्तुत किया गया है, वह उक्त सब कथनों का प्रतिफलित रूप है ।" इसी क्रम में लोकस्वरूप के सम्बन्ध में भी भारी भरकम साहित्य की रचना बढ़ती गई, और यह सब इसलिए भी आवश्यक था, क्योंकि केवली व तीर्थ-ङ्करो की सर्वज्ञता का निरूपण करते हुए उन्हें जगत् के त्रैकालिक पदार्थों का ज्ञाता माना गया । इस प्रकार, हम देखते हैं कि तत्त्वज्ञान के केन्द्र-बिन्दु आत्मा तक पहुँचना कुछ जटिल हो गया था । अल्पजीवन वाले साधक जीवा-जीव व लोकस्वरूप के ज्ञान में ही अगर उलझ जायें तो आत्म-साधना या आत्मविज्ञान के मार्ग में प्रगति का मन्द होना स्वाभाविक है । इसलिए यह उस समय की माँग थी कि ऐसा साहित्य रचा जाय जो साधक के समक्ष तत्त्व-ज्ञान के केन्द्र-बिन्दु आत्मा को उजागर करे अन्य तत्त्वों के ज्ञान की अपेक्षा आत्म-ज्ञान को प्रमुखता दे और साथ ही ऐसा रास्ता भी सुझाये जिससे अन्य द्रव्यों का सामान्य ज्ञान प्राप्त करते हुए, शीघ्र व सरलता से आत्म-तत्त्व की शुद्ध अवस्था तक पहुँचा जा सके ।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में साधक की दृष्टि को पूर्ण आत्मलक्ष्मी बनाने का प्रयास सफल रहा है । इनमें

दार्शनिक दृष्टिकोण सम्बन्धी क्रान्तिकारी परिवर्तन भी प्रस्तुत किया गया है । उदाहरण-स्वरूप सर्वज्ञता के स्वरूप को लें । आ० कुन्दकुन्द के पूर्व यह मान्यता थी कि केवल-ज्ञान का प्रतिफल ससार के समस्त पदार्थों के त्रैकालिक स्वरूप को जानना है । आचार्य कुन्दकुन्द ऐसे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने घोषणा की कि केवली का लोक-ज्ञान एक व्यावहारिक दृष्टि से कथन है, वास्तव में तो वह आत्म-तत्त्व का दर्शन है ।

नियमसार में उन्होंने कहा—

अल्पसखं पेच्छदि, लोयालोयं ण केवली भगवं (नियमसार—१६६)—अर्थात् केवलज्ञान शुद्ध आत्म-स्वरूप का द्रष्टा होता है लोकलोक का नहीं । उनके मत में व्यवहार नय में 'केवलज्ञानी' सर्वद्रव्यपर्यायों को जानता-देखता है, पर निश्चय नय से तो शुद्ध आत्मा को ही देखता-जानता है ।"

आचार्य कुन्दकुन्द के इन सब कथनों का उद्देश्य यह रहा कि साधक लोकस्वरूप के परिचायक जटिल साहित्य में, साथ ही बाह्य क्रियाकाण्डों में उत्तर्क कर रह न जाय" और आत्ममुखी प्रवृत्ति को दृढ़ करे ।

इसी सन्दर्भ में समयसार के पूर्वर्ग (प्रस्तावना रूप) में उन्होंने साधक को आत्मलक्ष्मी होने के लिए उड़े हो प्रभावपूर्ण व सहज सुबोधगम्य तरीके से प्रेरणा देते हुए कहा है—

लोक में हम देखते हैं कि अर्थ-सिद्धि का स्रोत राजा होता है । यदि 'अर्थ' की प्राप्ति करनी हो तो राजा के प्रति श्रद्धा तथा उसके स्वभाव आदि की जानकारी तथा उसी का अनुसरण करना आवश्यक है, उसी प्रकार । पदार्थ-विज्ञान या मुक्ति-मार्ग का केन्द्रबिन्दु तो आत्मा है, उसी

११. बृहदा. उप. २.४.६ ।

१२. सांख्यकारिका—६४, उत्तरा. ३६.१-२ ।

१३. जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ ।

जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ ॥

(उद्धृत— स्याद्वादमजरी, का. १४)

जो एगं जाणइ से सब्वं जाणइ ।

जो सब्वं जाणइ से एग जाणइ ॥ (आचारांग— १.३.४.१२२)

१४. प्रवचनसार—४८ ।

१५. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । जीवाजीवासवबन्ध-
संवरनिर्जरा मोक्षास्तत्त्वम् (तत्त्वार्थसू. १२ तथा १.४)

१६. जाणादि पस्सदि सब्वं बवहारणएण केवली भगव ।

केवलणाणी जाणादि पस्सदि नियमेण अप्पाणं ॥

(नियम. १.५६)

१७. द्र० समाधिगतक—८४ ।

का श्रद्धान व ज्ञान तथा अनुसरण करना चाहिए।^{१८} आत्मा का ही ध्यान आवश्यक है, अन्य द्रव्यों में समत्व-बुद्धि उचित नहीं।^{१९}

यह तो हुआ समयसार का सामान्य उद्देश्य। एक विशेष उद्देश्य भी है जिसका निरूपण करना आवश्यक है। समयसार में प्रचलित परम्परा से पृथक् दार्शनिक दृष्टि-कोण का प्रतिपादन दिखाई पड़ता है। समयसार की रचना से पूर्व यह मान्यता थी कि एकत्वबुद्धि और भेद या अनेकत्व-बुद्धि मोक्ष का हेतु है, किन्तु समयसार में आ० कुन्दकुन्द एकत्वबुद्धि को ही ग्रहण बताने देखे जाते हैं।^{२०} ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द अद्वैतवाद का प्रतिपादन करने जा रहे हैं। परब्रह्म की समक्षता में 'सत्' पदार्थ की कल्पना, जिसमें संपूर्ण विश्व समाहित है, प्रवचनसार में प्राप्त होती है जो इस सदर्भ में उल्लेखनीय है।^{२१} वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि शुद्ध आत्मा के ज्ञाता व ज्ञेय का पार्थक्य नहीं है।^{२२}

आखिर इस दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के पीछे क्या पृष्ठभूमि रही है, यह विचारणीय है।

पं० दलसुख मालवणिया के मत में आचार्य कुन्दकुन्द के समय में अद्वैतवाद की बाढ़ या गई थी, औपनिषदिक ब्रह्माद्वैत के अतिरिक्त शून्यवाद व विज्ञानाद्वैतवाद जैसे वाद भी दार्शनिकों में प्रतिष्ठित हो चुके थे। तार्किक व श्रद्धानु - दोनों के ऊपर अद्वैतवाद का प्रभाव सहज ही जम जाता था।^{२३} यह सामयिक प्रभाव आचार्य कुन्दकुन्द पर भी पड़ा।

मेरी समझ में यही कारण पर्याप्त नहीं है। दार्शनिक

पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में इसका कारण ढूंढा जा सकता है।

जीव के बन्धन का प्रमुख कारण यह है कि वह अनात्म को आत्मा समझ बैठता है, जब उसे यह ज्ञान हो जाता है कि शरीरादि अजीव पदार्थ आत्मा से पृथक् हैं, तो मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। किन्तु मोक्ष-मार्ग के द्रष्टा महापुरुषों की अनुभूति के अनुसार, मुक्ति की प्रक्रिया में उक्त स्थिति के बाद यह भी आवश्यक है कि आत्म-स्वरूप का भी ज्ञान हो। साधक यह तो जाने ही कि मैं अजीव नहीं हूँ, बल्कि यह भी जाने कि 'मैं' क्या हूँ, या आत्मा का क्या वैशिष्ट्य है, क्या स्वरूप है। समयसार में पूर्व तक आत्मा का जो वैशिष्ट्य या स्वरूप वर्णित होता रहा, वह मन्त्र के अन्तिम योगान्त तक पहुँचाने की दृष्टि से पर्याप्त नहीं था। जैसे आत्मा अपने सुख-दुःखों का स्वयं कर्ता है, भोक्ता है,^{२४} पुद्गल द्रव्य के संसर्ग में आकर वह स्वभावच्युत हो जाता है और बन्धन में पड़ जाता है, आदि-आदि निरूपण शास्त्रों में मिलता है।^{२५}

यदि साधक यही सोचता रहे कि मैं सुख-दुःखों का कर्ता व भोक्ता हूँ, मुझसे अजीव पृथक् है— तो इससे शुद्ध चित्त स्वरूप की प्राप्ति तो नहीं हो सकती। द्रष्टा व दृश्य, भोक्ता व भोग्य आदि के भेद समाप्त हुए बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। मैं और मेरा का भेद जब तक रहेगा तब तक मक्ति के द्वार तक ही पहुँच कर रुक जाना पड़ेगा, क्योंकि मैं और मेरा की स्थिति आत्मा के स्वरूप को खंडित करती है। [यही कारण है कि योग दर्शन में सम्प्रज्ञात समाधि के बाद असम्प्रज्ञात समाधि का निरूपण किया गया है।]

१८. समयसार - १८।

१९. मोक्षपहे अपाण ठवेहि त चेव भाहि त चेव।

(समय० ४१२)

२०. एयत्तणिच्छयगदां समग्रो सव्वत्थ सुदरो लोए।

बंधकहा एयत्ते तेण त्रिसवादिणी होदि ॥

(समय० ३)

सुदपरिचिदाब्भुभा सव्वत्स वि कम्मभोगबंधकहा।

एयत्तस्युवल्लंभो णवरि ण सुल्लो विहत्तस्स ॥

त एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।

अदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण धेत्तव्वं।

(समय० ४-५)

२१. प्रवचनसार— २५-६, सत्ता सव्वपयत्था— एकका।

(पंचास्तिकाय— ८)

२२. एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव।

(समय० ६)

२३. द्र. आगम युग का जैन दर्शन। (पं. मालवणिया— पृ. २३२)।

२४. अप्पा कत्ता विकत्ता य दुक्खाण य सुहाण य।

(उत्तरा० २०.३७)

२५. त. सु. ८२, उत्तरा. ३६।

भूति में अखंड, एकरस, अविकल, चित्स्वरूप की अनुभूति आवश्यक है—इस तथ्य का निरूपण करने का प्रयास समयसार में किया गया है।^{१६} मोक्ष की साधना में चौदह 'गुणस्थानों' की कल्पना है जिसमें साधक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग—इन बंधहेतुओं को क्रमशः जीतता हुआ आगे बढ़ता जाता है। इसी तरह साधना के पथ में आत्मा के तीन रूपों की भी कल्पना की गई है। वे हैं—(१) बहिरात्मा, (२) अंतरात्मा और (३) परमात्मा।^{१७} किन्तु प्रश्न यह था कि आखिर इस स्थिति को प्राप्त कैसे किया जाय। बहिरात्मा देह को आत्मा समझता है, अनात्म को आत्मा समझता है,^{१८} रागद्वेषगुबन रहता है,^{१९} अन्तरात्मा संसार से, विषयों से विरक्त रहता है, रागद्वेषरहित रहता है,^{२०} परमात्मत्व प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है, वह इस भावना को दृढ़ करता है कि परमात्मा मैं ही हूं, मैं ही मेरा उपास्य हूं^{२१} आदि। परमात्मत्व की प्राप्ति आत्मा के अन्दर से ही होती है, बाह्य से नहीं, उसी प्रकार जैसे कि (वृक्ष) काष्ठ को रगड़ने से उसमें से आग निकल पड़ती है।^{२२} किन्तु यहाँ यह समस्या थी कि अन्तरात्मा से परमात्मा की स्थिति कैसे प्राप्त हो। व्यावहारिक धरातल पर जीने वाले साधक को उस अखंड परमात्म-तत्त्व की झलक कैसे दिखाई जाय जो सहज बोधगम्य व तार्किक भी हो। किसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रमुख उपाय यह है कि उस वस्तु को जाना जाय। परमात्मा का या शुद्ध आत्मा का स्वरूप जानने पर ही उसकी प्राप्ति सम्भव होगी—यह आचार्य कुन्दकुन्द का मत था।^{२३} समयसार से पूर्व तक किसी वस्तु को जानने का उपाय 'प्रमाण' व नय था।^{२४}

इन दोनों में भी दूसरों को समझाने के लिए 'नय' ही। प्रधान साधन था। नयों के भी दो प्रकार किये गये थे—(१) द्रव्यास्तिक और (२) पर्यायास्तिक। किन्तु इन दोनों नयों से आत्मा की नित्यता व अनित्यता, एकता व अनेकता तो हृदयगम की सकती थी, पर शुद्ध आत्मविकास की विभिन्न श्रेणियों का तथा विशेषकर चरम सोपान को समझने में पर्याप्त सहायता नहीं मिलती थी।

आचार्य कुन्दकुन्द के समय दार्शनिक क्षेत्र में वस्तु का निरूपण दो दृष्टियों से होने लगा था—एक पारमार्थिक दृष्टि और दूसरी व्यावहारिक दृष्टि। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने आत्मतत्त्व के निरूपण के लिए दो दृष्टियाँ चुनी—(१) निश्चय दृष्टि व (२) व्यावहारिक दृष्टि। आचार्य कुन्दकुन्द के परवर्ती काल में तो तात्त्विक विवेचनों में द्रव्यास्तिक व पर्यायास्तिक नयों का आश्रय भले ही लिया जाता रहा, पर आध्यात्मिक विकास परक ग्रंथों में निश्चय व व्यवहार इन दो नयों का ही आश्रय लिया जाता रहा है।^{२५}

इन दो दृष्टियों को व्यावहारिक व सहजगम्य तरीके से प्रस्तुत करते हुए शुद्ध आत्म-स्वरूप की झलक दिखाने में आचार्य कुन्दकुन्द ने सफलता प्राप्त की। निश्चय व व्यवहार दृष्टियों का मोटे तौर पर आधार यह है कि ज्यों ज्यों हम अपनी प्रवृत्ति को अधिकाधिक अन्तर्मुखी करते रहेंगे या परस्व से हटते-हटते स्वत्व की ओर सीमित होते रहेंगे, हम परम तत्त्व या परमात्मत्व के निकट पहुँचते जाएँगे।

दार्शनिक परिभाषा में, व्यवहार नय 'पर' में भी 'स्व' का आरोपण कर लेता है,^{२६} अशुद्ध निश्चय नय 'पर' में

२६. जोपस्सदि अप्पाण भवद्धपुट्ठं अणण्णय णियदं।

अविसेसमसंजुत तं सुद्धणयं विद्याणीहि। (समय. १४)

२७. समाधिगतक—६०, ५-६।

२८. समाधिगतक—१०।

२९. समाधि० १४।

३०. समाधि० १६-२०।

३१. समाधि० ३१।

३२. समाधि० ६८।

३३. सुद्धं तु विद्याणतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।

(समय० १८६)

३४. त० सू० १६।

३५. द्रष्टव्य—'अधुना अध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते' के बाद निश्चयनयादि का निरूपण—आलापपद्धति। तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—४।

३६. समयसार टीका, आत्मवृत्ति, गाथा २७२।

परत्व बुद्धि तो रखता है, किन्तु 'स्व' में अन्य निमित्त से होने वाले परिणामों में स्वत्व बुद्धि रखता है, परत्व बुद्धि नहीं रखता। शुद्ध निश्चय नय 'स्व' में होने वाले उन्ही परिणामों को अपना समझता है जो 'पर' के निमित्त से न हुए हों।^{१७} इसी प्रकार, शरीर को आत्मा कहना व्यवहार नय है, आत्मा में कर्म पुद्गल निमित्त से होने वाले रागादि भावों को आत्मा का कहना अशुद्ध निश्चय नय है, और आत्मा को अखंड, शुद्ध, चैतन्य रूप समझना परम शुद्ध निश्चय नय है।

इसी प्रकार, आत्मा पुण्य-पापादि कर्मों का कर्ता व्यवहार नय से कहा जाएगा,^{१८} निश्चय नय से तो अकर्ता ही है। आत्मा स्वरागादि भावों का कर्ता अशुद्ध निश्चय नय से है, शुद्ध निश्चयनय से नहीं।^{१९} चैतन्य भाव का कर्ता शुद्ध निश्चयनय से कहा जायगा।^{२०} निश्चयनय से देखें तो आत्मा के बन्ध व मोक्ष, पुण्य व पाप आदि असंगत ठहर जाते हैं।^{२१} व्यवहारनय स्थित आत्मा 'पर समय' है। निश्चयनयस्थित आत्मा 'स्वसमय' है। व्यवहारनय निचली कोटि में स्थित व्यक्ति के लिए है, साधना की उच्च स्थिति में तो साधक को निश्चय नय का अवलम्बन कर ही मुक्ति प्राप्त होती है।^{२२} निश्चय नय स्थित आत्मा के लिए बाह्य क्रियाकाण्ड सभी व्यर्थ हो जाते हैं।^{२३}

उक्त नय या दृष्टिकोणों से आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के क्रमिक उत्थान को स्थिति को स्पष्ट किया है। इन नयों के द्वारा आत्मा का अकर्तृत्व व अभोक्तृत्व, शुद्ध चित् स्वरूप तथा अखण्ड भाव की भावना साधक के मन में दृढ़ हो जाती है। व्यवहारनय में स्थित आत्मा बहि-

रात्मा है, अशुद्ध निश्चयनय स्थित आत्मा अंतरात्मा है। अंतरात्मा को परमात्मा बनने हेतु दर्शन, ज्ञान व चारित्र्य इन भेदों को भी भुलाना पड़ता है और अंत में द्रष्टा-दृश्य का भेद भी। इस प्रकार, स्वत्व का केन्द्र-बिन्दु सिमटता हुआ शुद्ध चित् रूप रह जाता है।

इसी तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने यह दृष्टि भी दी कि कोई पर-वस्तु किसी में परिणमन नहीं करा सकती, प्रत्येक वस्तु स्वपरिणमन में स्वतन्त्र है।^{२४} अतः आत्मा स्फटिकवत् निर्लेप व शुद्ध है।^{२५} इसलिए आत्मा के बन्ध व मोक्ष भी औपचारिक है, वास्तविक नहीं। इस भावना के दृढ़ होने से आत्मा में परमात्म स्वरूप आविर्भूत होता है और वह पुनः स्वरूपच्युत नहीं होता।

समयसार की जिन गाथाओं को समझना या उसका सही अर्थ निश्चित करना तब तक और कठिन हो जाता है जब तक हम यह न समझ लें कि कौन-सी गाथा किस नय को दृष्टि में रख कर कही गई है; अन्यथा निश्चय नय में बाह्य क्रियाकाण्डों का तथा धार्मिक आचरणों की निरर्थकता सिद्ध करने वाले निश्चय नय परक वाक्यों का दुरुपयोग होने लगेगा और फलस्वरूप तीर्थ-विच्छेद ही हो जाएगा। इस तरह के और भी अनेक प्रसंग हैं जो ग्रन्थ-कर्ता की दृष्टि न समझने के कारण अान्ति उत्पन्न कर सकते हैं।

अध्यक्ष जैन दर्शन विभाग,
लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
(शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार)

१/६, शान्ति निकेतन, मोती बाग,
नई दिल्ली-११००२१

३७. यद्यप्यशुद्धनिश्चयनयेन चेतनानि, तथापि शुद्धनिश्चय-
नयेन नित्य सर्वकालमचेतनानि। अशुद्धनिश्चयस्तु
वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मपेक्षया आभ्यन्तररागादयश्चे-
तना इति मत्वा निश्चयसज्ञां लभते, तथापि शुद्ध-
निश्चयनयापेक्षया व्यवहार एव (द्रव्यसंग्रह टीका—
जयसेनकृत, गाथा-३)।

३८. समय० १०१।

३९. समय० ७५, ६३।

४०. समय० १६६।

४१. समय० १२, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—६।

४२. समय० १२।

४३. सकाशशतक—८४।

४४. द्र० समय० ३७२।

४५. समय० २७८-२७९।

अपरिग्रह या श्रम-निष्ठा

□ श्री जमनालाल जैन

तीर्थंकर महावीर ने 'अपरिग्रह' को धर्म कहा है और वे स्वयं भी असंग्रह थे—इतने कि स्थूल दृष्टि से भी उनका तन शून्य बन गया था। तन को ढोने की विवशता थी, अन्यथा भावक्षेत्र में तो तन भी भार ही था, पराया था। अपरिग्रही की समाज में एक प्रतिष्ठा भी है। 'परिग्रह' 'अपरिग्रह' के कारणों में कारण पाने को तरस उठता है। अपरिग्रह की ऐसी प्रतिष्ठा को निहारकर कभी-कभी ईर्ष्या भी होने लगती है। अनेक बार यह प्रतिष्ठा ही सीमा लाघकर परिग्रह बन जाती है।

भगवान् महावीर अपरिग्रह को अन्तिम छोर तक खींच ले गये। निर्वस्त्र होकर उन्होंने लज्जा की गांठ भी तोड़ दी—निर्ग्रन्थ बन गये। तन पर तो गांठ रखी ही नहीं, मन और वाणी में भी कोई गांठ नहीं थी। भीतर और बाहर, दोनों ओर से वे कोरे या खालिस हो रहे। ऐसी साधना नितान्त कठिन है और जिसके जीवन में यह सहज बन जाती है उसे नमन ही किया जा सकता है। वे कहीं भी टिक जाते और प्राणी मात्र का कल्याण चाहते थे। कड़वे-मीठे बोल भी उनके अन्तस् को वेध नहीं पाते थे। जो परिस्थिति उनके सामने आती, उसकी गहराई में पैठते और कुछ ऐसा समाधान खोज निकालते कि समस्या में उलझा व्यक्ति त्राण की राह पा जाता। उसमें उनका आग्रह रूच मात्र न होता।

आगम-ग्रन्थों या पुराण-ग्रन्थों से पता नहीं चलता कि भगवान् महावीर ने शरीर-श्रम के नाम पर कोई काम किया था। शरीर-श्रम की जो परिभाषा आज प्रचलित है, उस अर्थ में तो नहीं ही किया था। वे राजपुत्र थे और उनके सामने मूलभूत समस्या शरीर-श्रम की नहीं थी। वे आध्यात्मिक दृष्टि से समाज में समता स्थापित करना चाहते थे। अध्यात्म-दृष्टि के परिपुष्ट हुए बिना सामाजिक विषमता का उन्मूलन करना उन्हे असम्भव

लगा होगा। उनका पराक्रम अद्भुत था। उनके जैसा निर्ग्रन्थ पुरुष सुस्त, काहिल या निराशा से ग्रस्त नहीं हो सकता। जिस बात का बीड़ा उन्होंने उठाया, उसके लिए ऐसे ही पराक्रम की आवश्यकता थी कि व्यक्ति का खाना-पीना, सोना-जागना, पहनना-ओढ़ना वही बन जाय।

अपरिग्रह की बात करते समय ध्यान बरबस पैसे पर अटकता है। पैसे में ऐसी क्या बात है कि उसको छोड़कर आज कोई विचार ही नहीं टिकता। पैसा केन्द्र में हो तो बाकी सब ठीक है, अन्यथा सब बेकार। जन्म से लेकर मृत्यु के बाद की क्रिया तक पैसा प्रधान हो बैठा है। अर्थ की व्यर्थ सिद्ध करने की शक्ति किसमें है, नहीं कहा जा सकता। महावीर स्वयं असंग्रह थे, निर्ग्रन्थ थे, निर्वस्त्र थे और समाज में आध्यात्मिक समता का मूल्य प्रतिष्ठित करने के लिए कटिबद्ध थे, फिर भी क्या वे समाज में से परिग्रह को मिटा सके? उनकी देशना के रूप में उपलब्ध ग्रन्थों में सैकड़ों कहानियाँ एवं आख्यान ऐसे मिल सकते हैं, जिनमें धन की प्रचुरता का दर्शन होता है। धन के त्याग का वर्णन तो है, पर उसी से यह भी ध्वनित होता है कि धन का महत्त्व भी कम नहीं है। धन-सम्पत्ति के त्याग का अहसास अगर बना रहता है या पाठक के मन पर कथा यह छाप पड़ती है कि अमुक ने वैभव का त्याग किया है, तो यह चीज वैभव की प्रचुरता का आकर्षण ही निर्माण करती है।

हमारे ऋषि मुनि कह सकते हैं कि पैसा शैतान है, वह आदमी को गिराता है और उससे विवेक नष्ट हो जाता है। यह बात पैसे का महत्त्व मानकर ही कही जा सकती है। क्या सबकुछ पैसे में इतनी ताकत है कि मनुष्य पर उसका काबू रहे? पैसे की कीमत है और वह भी राज्य अथवा हमारे द्वारा आंकी गई है। अब यह व्यक्ति पर निर्भर है कि वह पैसे को सिर पर चढ़ाना है या पैर

के तले दबाता है या कि जेब में रखता है। नदी और कुएँ में आदमी डूब कर मर जाता है। क्या यह पानी की शैतानियत है? पानी न शैतान है, न भगवान्। पानी किसी को मार नहीं डालता, मार नहीं सकता। आदमी अपनी ही कमजोरी, असमर्थता या अज्ञान से डूबता-मरता है। समझ बूझकर पानी से काम लिया जाय तो सब ठीक है। वह 'जीवन' ही है। पानी न हो तो प्राण नक जा सकते हैं। यही बात पैसे की है। पैसा सिर्फ पैसा है। उसे हम सिर्फ पैसा ही समझे और समझ-बूझकर उसका उपयोग करें, तो वह बड़े काम का भी है।

हमारी मुश्किल यह है कि पैसे को या तो हम शैतान समझते हैं या फिर भगवान् समझते हैं। दोनों स्थितियों में पैसे का सहृदय आत्यन्तिक बढ़ जाता है। आदमी अनशन से भी मर सकता है और अधिक खाने से भी मरता है। बाह्य पदार्थ में आत्मा से अधिक शक्ति कदापि नहीं हो सकती, किन्तु शारीरिकता के स्तर से या कि मानसिक स्तर से अधिक मनुष्य की गति नहीं है, इसीलिए मनुष्य अपने बचाव में बाह्य या स्थूल पदार्थों पर सारा दोष मढ़ देता है।

समाज लक्ष्मी की पूजा करता है। 'लक्ष्मी' शब्द के अर्थ की खीच-तान करना व्यर्थ है। असल में वह धन की पूजा है। लक्ष्मी को 'मुक्ति' कहना वैसा ही है जैसे साहित्य की सरसता के लिए मुक्ति को 'रमा' कहना। एक ओर तो हम मोक्ष को रमा-विहीन ही मानते हैं और दूसरी ओर स्वयं मुक्ति भी हमारे निकट 'रमा' की उपमा में प्रस्तुत हो जाती है। लक्ष्मी का सीधा-सादा और व्यावहारिक अर्थ 'अर्थ' ही है और समाज ऐसा करके गलती कहाँ करता है? अर्थ-प्राप्ति के लिए जो परिश्रम, प्रयास, पराक्रम करना पड़ता है, उसका कोई हिसाब है? समाज को परिग्रह के लिए दोष देना अपने को धोखे में डालना है। पूरा का पूरा समाज कभी भी अपरिग्रही नहीं बन सकेगा, बल्कि जो लोग परिग्रह की सीमा-मर्यादा बांध लेते हैं, वह भी दोषपूर्ण हो तो आश्चर्य नहीं।

क्या यह बात छिपी है कि हजारों साधु-सन्यासियों और मुनियों के अध्यात्म का सिचन भी भौतिक पैसे से ही होता रहता है? धन को पाप का घर कहने और समझने

वाले लोगो का पुण्य और परलोक उसी पाप पर सुरक्षित होता है। यह कैसी विडम्बना है कि तन को तोड़कर, रात-दिन मेहनत करके जो लोग साधु-सन्यासियों का भरण-पोषण करते हैं, अपना परलोक सुधारते हैं, वे तो हुए पापी और बैठे बैठे बिना श्रम के पेट भरने वाले हुए धर्मात्मा! क्या भगवान् महावीर ऐसा धोखे में डालने वाला, आत्म-बंचक, दोन बनाने वाला 'अपरिग्रह' प्रतिष्ठित करना चाहते थे? यह ठीक है कि महावीर ने प्रत्यक्ष रूप से श्रम की प्रतिष्ठा का उद्घोष नहीं किया, न उत्पादक श्रम पर जोर दिया। सिद्धान्तवादी लोग यह भी कह सकते हैं कि कर्म करना मात्र पापपूर्ण है, सावद्य आचार है, आरम्भ में या कि क्रियामात्र में हिंसा है और निर्ग्रन्थ महावीर सावद्य क्रिया का समर्थन नहीं कर सकते थे। फिर भी महावीर जैसा महापुरुष श्रम की महत्ता से आख नहीं मूढ़ सकता था। श्रमण शब्द में ही श्रम और संयम की प्रतिष्ठा है।

अभाव में से अपरिग्रह नहीं निपजता। जिसमें सग्रह की शक्ति न हो, वह त्याग नहीं कर सकता। जितना पराक्रम सग्रह के लिए आवश्यक है, उससे कम जोर त्याग में नहीं लगता। जिसके पास है ही नहीं या जो प्राप्त नहीं कर सकता, वह तो अपनी आकाक्षाओं में ही अटक जाता है। इसलिए निर्धनता अपरिग्रह नहीं है। जो है और काबू में है, उसी को व्यर्थ बना छोड़ना अपरिग्रह हो सकता है। जो अपरिग्रह की ओर बढ़ता है, वह श्रम से बचाव नहीं चाहेगा, बल्कि दुगुना तिगुना भी श्रम करेगा। अपरिग्रह अगीकार करने वाले की सामाजिक चेतना तीव्र हो उठती है और उसमें एक ऐसी व्यापक व्यथा होती है कि वह सबके प्रति सहज उपलब्ध रहता है।

महावीर ने अपने को समाज में व्याप्त कर दिया था। उनका व्यक्तित्व समाज को अप्रति हो गया था। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के समर्थक कह सकते हैं कि महावीर ने समाज की परवाह न करके, परम्पराओं की परवाह न करते हुए व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास का मार्ग खोला था— यहाँ तक कि विभुसत्ता से भी इनकार किया था। व्यक्ति का काम ही सब कुछ है। हमें यहाँ दार्शनिक या सैद्धांतिक झमेले में नहीं पड़ना है। इतना अवश्य कहा जा सकता

कि महावीर जैसा तपस्वी और मनस्वी व्यक्ति परा-कोटि का विनम्र और श्रमी हो हो सकता है। ऐसा व्यक्ति समाज पर हावी नहीं हो सकता। साधना उनकी नितान्त वैयक्तिक रही, किन्तु थी वह समाज-कल्याण के लिए। सामूहिक और सामूहिक साधना की भूमिका तैयार किये बिना अकेले व्यक्ति की स्वतन्त्रता या साधना का क्या मूल्य? पाँचो व्रतों का परिणाम समाज में, समाज के लिए और समाज की ओर से ही व्यक्ति के जीवन में प्रतिबिम्बित हो सकता है। तभी इन व्रतों में गुणात्मक तेजस्विता आ सकती है।

संग्रह और त्याग दो चीजें नहीं हैं। यदि व्यक्ति अपने को समाज का अंग मानता है, तो उसका संग्रह समाज का है और उसका त्याग भी ऐसा बीज-वपन है जिससे हजार-हजार गुना फसल निकल सकती है। प्रेम और करुणा की भूमिका में से ही सामाजिकता विकसित होती है। अब तक हमारे यहाँ संग्रह भी व्यक्तिगत रहा और त्याग भी व्यक्तिगत रहा—अव्यात्म भी व्यक्तिगत और भौतिक उपलब्धि भी व्यक्तिगत। एक आदमी घर-बार, जमीन-जायदाद त्यागकर साधु बन जाता है और उस सारी सम्पत्ति का उपभोग पोछे के उत्तराधिकारी करते हैं। साधु अपने वैराग्य में या त्याग के आनन्द में किसी को भागीदार नहीं बनाता और संग्रह का उपयोग करने वाले भी अपनी चीजों को अपने तक सीमित मान कर चलते हैं। यह एक ही भूमिका है और कहना चाहिए कि सामंती ढंग से ही दोनों स्थितियों का विकास हुआ है, किन्तु आज विश्व की परिस्थितियाँ भिन्न हैं।

परिग्रह को पाप या अधर्म कह देने से अब काम नहीं चलने वाला है। इस तिजोरी का पैसा उस तिजोरी में रख देने से अपरिग्रह नहीं उचित होता है। यह आरम्भ-विहीनता या अहिंसा नहीं है कि अन्य लोग दुगुने सक्रिय रहकर महाश्वती नामी किसी विशिष्ट व्यक्ति की निष्क्रियता का संवर्धन करते रहें। मन पर से और तन पर से सामन्ती अव्यात्म की चादर उतारे बिना अनासक्ति-पूर्वक त्यक्त परिग्रह को अपरिग्रह में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता। आज स्थिति यह है कि संग्रही संग्रह

से प्रतिष्ठा पाता है और त्यागीजन उस संग्रह पर सुख की नींद सोकर मोक्ष के सपने देखते हैं।

परिग्रह की प्रतिष्ठा तोड़ने के लिए समाज में और व्यक्ति में श्रम के प्रति निष्ठा उद्भूत होनी चाहिए। संग्रह के प्रति लगाव उसी में होता है, जो श्रम से भागता है। सच्चा श्रमिक वह है जो अपने हाथ-पैरों पर सबसे अधिक भरोसा करता है और कल के लिए संग्रह करने की वृत्ति से दूर रहता है। 'कल' क्या होगा, इस चिन्ता में परिग्रह के बीज है और श्रम के प्रति तिरस्कार है। बारीकी से देखा जाय तो हर व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि अब तक हमारे धर्म-सिद्धान्तों का रुख भी संग्रह को प्रतिष्ठा देने का रहा है। श्रमिक अर्थात् आर्थिक दृष्टि से विपन्न व्यक्ति को निर्धन माना गया, और इस स्थिति के लिए उसके पूर्व कर्मों को जिम्मेवार माना गया। किसी भी धर्माचार्य या महापुरुष ने यह नहीं कहा कि गरीबी संग्रह और शोषण का परिणाम है। इस धरा पर बालू मार्क्स ही पहला व्यक्ति हुआ जिसने वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादित किया कि मनुष्य की अभाव-ग्रस्तता या गरीबी उसके भाग्य का फल नहीं है।

यदि कर्मशीलता हिंसा है, आरम्भ मात्र हिंसा है, यानी श्रम करना ही हिंसा है तो फिर अहिंसा की निष्क्रिय होना ही था। अहिंसा की कर्म-शून्यतापरक व्याख्यान ने अहिंसा को निस्तेज बना दिया है। वह मात्र अभिनय की चीज रह गई है। मजाक का विषय रह गई है।

यह अणग बात है कि आज के श्रमिक में भी श्रम के प्रति निष्ठा नहीं है और वह केवल रोजी-रोटी के लिए श्रम करता है। पत्थर तोड़ने वाला श्रमिक या तो पत्थर ही तोड़ता है या बाल-वक्चो के लिए रोटी कमाता है। इससे आगे बढ़कर वह पत्थर तोड़ने को भगवान् का मन्दिर बनाना नहीं मानता। जिस दिन श्रमिकों में, शिल्पकार में यह, दृष्टि आ जायेगी कि उसका श्रम ही सोन्दर्य का सागर है, उसका श्रम ही समाजरूपी भगवान् का मन्दिर है, तो उसका रोजी-रोटी का लगाव टूट जायेगा, पत्थर पत्थर न रहकर भगवान् का बिंब बन जायेगा। लेकिन ऐसी स्थिति पैदा न करने का दायित्व

उन पर ही है, जिन्होंने अब तक अम को खरीदने में प्रतिष्ठा और धर्म माना है।

महावीर के नाम पर प्रतिष्ठित धर्मग्रंथों में अथवा जिन-शासन में अपरिग्रह का जो वर्णन मिलता है, वह तत्कालीन समाज-व्यवस्था की परिणति है। उसी को लेकर यदि हम चादर बुनते रहेगें, तो आने वाला युग इस लीक पर चलने वाले अपरिग्रही विरागियों को क्षमा नहीं करेगा।

परिग्रह यानी पदार्थ की विपुलता। यह सृष्टि में रहने ही वाला है। सवाल यह है कि हम अपनी कुशलता और

प्रवीणता का कितना लाभ समाज को दे पाते हैं? प्रत्येक प्राणी का विकास दूसरी हजारों परिस्थितियों के कारण होता है। उन हजारों परिस्थितियों के अनन्त उपकार एक-एक व्यक्ति पर होते हैं। व्यक्ति कहीं भी रहे—चाहे लोकांत में ही स्थित हो जाये—तब भी सृष्टि के प्रति उसका उत्तरदायित्व कम नहीं होता। वहाँ तक पहुँचाने में भी समाज ही सहायक होता है।

अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि हमारे परिग्रह या अपरिग्रह की मान्यताओं पर नये सिरे से वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में पुनर्विचार हो। □□□

(पृष्ठ १०१ का शेषांश)

कवि धनञ्जय हुए थे और स्वयम्भु (कवि) ने भूवन को रजायमान किया था।" इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि नयनदि ने स्वयं इस साहित्यिक तीर्थ की यात्रा की थी और उसकी स्तुति में उपरोक्त वाक्य लिखे थे। हमारी इस धारणा की पुष्टि भी इस कथन से हो जाती है कि महाकवि स्वयम्भु, जो वीरसेन के समकालीन तो थे ही और उन्हीं की भाँति राष्ट्रकूट सम्राट् ध्रुव चारावर्ष से सम्मान प्राप्त थे, स्वयं वीरसेन के गृहस्थ शिष्य एवं साहित्यिक कार्य के सहयोगी रहे थे। यह धनञ्जय भी, संभव है जिनका अपरनाम पंडरीक हो, भोजकालीन धनञ्जय (श्रुतकीर्ति) के पूर्ववर्ती है और वीरसेन के ज्येष्ठ समकालीन रहे हो सकते हैं, क्योंकि उनकी नाममाला के उद्धरण वीरसेन ने दिये हैं। अन्य भी अनेक न जाने

कितने विद्वानों का, जिनका नाम ऊपर लिया जा चुका है अथवा नहीं भी लिया गया, वाटनगर के इस संस्थान से प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंध रहा, कहा नहीं जा सकता। वह अपनी उपलब्धियों एवं सक्षमताओं के कारण विद्वानों का आकर्षण केन्द्र भी रहा होगा और प्रेरणा स्रोत भी। राष्ट्रकूट युग के इस सर्वमहान् ज्ञानकेन्द्र एवं विद्यापीठ की स्मृति भी आज लुप्त हो गई है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि अपने समय में यह अपने समकालीन नालन्दा और विक्रमशील के सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्यापाठों की समर्थ चुनौती देता होगा। भारत के प्राचीन विश्वविद्यालयों में तक्षशिला, विक्रमशील और नालन्दा की ही भाँति यह वाटग्राम विश्वविद्यालय भी परिगणनीय है। □□□

ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ

जैन मत नास्तिक नहीं है। नास्तिक वह होता है जो पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक तथा कर्मफल को नहीं मानता। ईश्वर सृष्टिकर्ता है ऐसा जैन नहीं मानते। उनके विचार से यह सृष्टि अनन्त है, अनादि है। यह किसी की बनाई हुई नहीं है। अतः इसे कोई बिगाड़ नहीं सकता है। जैन परम्परागत को अनादिकाल से अनवरत और गतिशील मानती है। जगत का अपकर्ष-उत्कर्षमय कालचक्र सतत क्रम से चलता आ रहा है। इसका न आदि है, न अन्त है।

पंचोपचारी पूजा

□ पं० मिलापचन्द्र रतनलाल कटारिया, केकड़ी

विक्रम सं० ११० में होने वाले श्री मल्लिकार्जुन सूरि ने “मंदिरपद्मावती कल्प” के तीसरे परिच्छेद में ऐसा कथन किया है—

आह्वानं स्थापनं देव्याः, सन्निधीकरणं तथा ।

पूजां विसर्जनं प्राहुर्बुधाः, पंचोपचारकम् ॥२५॥

ओम् ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! एहि एहि
सर्वोषट् ।

कुर्यादमुना मन्त्रेणाह्वानमनुष्मरन् देवीम् ॥२६॥

तिष्ठद्वितीयं ठातद्वयं च संयोजयेत् स्थितीकरणे ।

सन्निहिता भव शब्द मम वषडिति सन्निधीकरणे ॥२७॥

गन्धादीन् ग्रन्थं ग्रन्थेति नमः पूजाविधानके ।

स्वस्थानं गच्छ गच्छेति जस्त्रिं स्यात् तद्विसर्जने ॥२७॥

“ओम् ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! एहि
एहि सर्वोषट्” इति आह्वानम् ।

“ओम् ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! तिष्ठ
तिष्ठ ठाठः” इति स्थापनम् ।

“ओम् ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! मम
सन्निहिता भव भव वषट्” इति सन्निधीकरणम् ।

“ओम् ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! गन्धादीन्
गृह्ण गृह्ण नमः” इति पूजाविधानम् ।

“ओम् ह्रीं नमोऽस्तु भगवति ! पद्मावति ! स्वस्थानं
गच्छ गच्छ जःजः” इति विसर्जनम् ।

एवं पंचोपचारक्रमः ।

देवी का आह्वान, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जन जो किये जाते हैं उन्हें पंचोपचार कहते हैं। इसी का दूसरा नाम पंचोपचारी पूजा है। इनका मंत्र पूर्वक जो विधिक्रम है वह ऊपर लिख दिया है।

ऐसा प्रतिभासित होता है कि पहले पंचोपचारी पूजा मंत्र सिद्ध करने के लिए देवताराधन में की जाती थी। ग्रहंतादि की पूजा में पंचोपचार का उपयोग नहीं किया

जाता था। हम देखते हैं कि सोमदेव ने यज्ञस्तिक में और पद्मनन्दि ने पद्मनन्दिपंचविंशति में ग्रहंतादि की पूजा में सिर्फ अष्टद्रव्यों से पूजा तो लिखी है किन्तु आह्वान स्थापना, सन्निधिकरण, विसर्जन नहीं लिखा है। यह चीज हमको प्रथम आशाधर के प्रतिष्ठापाठ और अभिषेक पाठ में मिलती है। आशाधर ने इतना विचार जरूर रक्खा है कि ग्रहंतादि की पूजा में आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण तो लिखा है किन्तु विसर्जन नहीं लिखा है। हाँ शासन देवों की पूजा में उन्होंने विसर्जन लिख दिया है। जैसा कि नित्यम हाद्योत के इस पद्य से प्रकट है—

प्रागाहूता देवता यज्ञभागः प्रीता भर्तुः पादयोरर्घदानैः ।

क्रीतां शेषा मस्तकैरुद्धहस्त्यः प्रत्यागतु यास्त्वशेषा यथा-
स्वम् ॥१६५॥

इसमें विसर्जित देवों के लिए “ग्रहंत की शेषाको पर धारण करते हुए” जाने का उल्लेख किया है, जिससे यह शासनदेवों का ही विसर्जन ज्ञात होता है, न कि पंचपर-मेष्ठी का। एक बात आशाधर के पूजा-ग्रन्थों में यह भी देखने में आती है कि वे शासन देवों की पूजा में तो अर्चना द्रव्यों के अर्पण में “जलाद्यर्चनं गृहाण गृहाण” या “इदमर्घ्यं पाद्यं जलाद्यं यज्ञभागं च यजामहे प्रतिगृह्यता प्रतिगृह्यताम्” इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग करते हैं। ऐसे प्रयोग उन्होंने ग्रहंतादि की पूजाओं में नहीं किये हैं। वहाँ तो वे यों लिखते हैं—

“ओम् ह्रीं ग्रहं श्री परमब्रह्मणे इदं जलगन्धादि निर्वपा-
मीति स्वाहा ।”

फिर भी इतना तो कहना ही पड़ता है कि ग्रहंतादि की पूजा विधि में आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण की परिपाटी चलाने में शायद वे ही मुखिया हों। अपने बनाये प्रतिष्ठा ग्रन्थ की प्रशस्ति में खुद पं० आशाधर लिखते हैं

कि “मैंने इसे युगानुरूप रचा है।” युगानुरूप का अर्थ पूजा-विधि में इस तरह की नयी रीतियां चलाना ही जान पड़ता है।

आशाधर के बाद इन्द्रनंदि हुए, जिन्होंने इस विषय में और भी आगे बढ़कर अर्हतादिकों की पूजा विधि में वे ही पंचोपचार ग्रहण कर लिए जो मल्लिषेण ने मंत्राराधन में लिखे हैं। इन्होंने शासनदेवों की ही तरह अर्हतादिकों का विसर्जन भी लिख दिया है। यही नहीं अर्हतादि का पूजा में द्रव्य अर्पण करते हुए “इदं पुष्पांजलि प्रार्चनं गृह्णोष्वं गृहीष्व” तक लिख दिया है। (देखो अभिषेक पाठ संग्रह, पृष्ठ ३४४)। इन्हीं को आधार मानकर एकसन्धि ने भी अर्हतादिकों की पूजा पंचोपचार से करना बताते हुए लिखा है कि— “मैंने यह वर्णन इन्द्रनंदि के अनुसार किया है” यथा—

एवं पंचोपचारोपपन्न देवार्चनाक्रमम् ।

यः सदा विदधात्येव सः स्यान्मुक्तिश्रियः पतिः ॥

इतीन्द्रनंदिमुनीन्द्रजिनदेवार्चनाक्रमः ॥

— परिच्छेद ६वा “एकसंधिजिनसंहिता”

ये ही श्लोक कुछ पाठ भेद के साथ ‘पूजामार’ ग्रन्थ में पाये जाते हैं। यथा —

“यः सदा विदधात्येना सः स्यान्मुक्तिश्रियः पतिः ।

इतीन्द्रनंदियोगीन्द्रे प्रणीतं देवपूजनम् ॥”

एकसन्धि का पंचोपचारी पूजा के लिए इन्द्रनंदि का प्रमाण पेश करना माफ बतलाता है कि उनके समय में इस विधि का प्रतिपादक सिवाय इन्द्रनंदि के और कोई पूजा ग्रन्थ मौजूद नहीं था। यहाँ तक कि इन्द्रनंदि के साथ उन्होंने आदि शब्द भी नहीं लगाया है, यह खास तौर से ध्यान देने योग्य है।

यशोनदिभूत संस्कृत पंचपरमेष्ठी पूजा में भी आशाधर की तरह ही चार उपचार मिलते हैं, विसर्जन उसमें नहीं है। किन्तु यशोनंदि का समय अज्ञात है कि वे आशाधर के पूर्ववर्ती हैं या उत्तरवर्ती ?

नित्यनियम पूजा में पाँचों ही उपचार पाये जाते हैं किन्तु नित्यनियम पूजा किसी एक की कृति नहीं है। वह संग्रह ग्रन्थ है और उसमें कितने ही पाठ अर्वाचीन हैं। उदाहरण तौर पर “जयरिसह रिसीवर णमियपाय” यह देवकी जयमाला का पाठ कवि पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश यशोधरचरित्र का है। उसमें शुरू में ही यह मंगलाचरण के तौर पर लिखा हुआ है—

“वृषभोजित नामा च संभवाश्चाभिनन्दनः ।”

पाठ अय्यपाय कृत अभिषेक पाठ का है जो अभिषेक पाठ संग्रह के पृष्ठ ३१६ पर छपा है। ये अय्यपाय विक्रम सं० १३७६ में हुए हैं।

ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि शास्त्रोक्तं न कृतं मया ॥

विसर्जन का यह पहिला पद्य आशाधर प्रतिष्ठापाठ से लिया है जो उसके पत्र १२३ पर पाया जाता है।

‘आह्वान नैव जानामि’ और ‘मन्त्रहीनं क्रियाहीनं’ आदि विसर्जन के दो पद्य सूरत से प्रकाशित भैरव पद्यावती कल्प के साथ मुद्रित हुए पद्यावती स्तोत्र में कुछ पाठभेद के साथ पाये जाते हैं, वही से इसमें लिए गये हैं। वे पद्य इस प्रकार हैं—

आह्वानं न जानामि न जानामि विसर्जनम् ।

पूजामर्चा न जानामि क्षमस्व परमेश्वरि ॥

आज्ञाहीन क्रियाहीन मन्त्रहीन च यत्कृतम् ।

तत्सर्वं क्षम्यता देवि प्रसीद परमेश्वरि ॥

अलावा इसके पंचोपचार में प्रयुक्त हुए “संवौषट्” “वषट्” आदि शब्दों पर अब हम विचार करते हैं तो स्पष्टतया यह प्रकरण मन्त्र विषयक है। यही श्लोक वैष्णवधर्म के विसर्जन पाठ में शब्दशः है। वीतराग भगवान् की पूजा जिस ध्येय को लेकर की जाती है उसमें इनका क्या काम ?

वर्तमान में, पूजाविधि का जो रूप प्रचलित है वह कितना प्राचीन है ? आशा है खोजी विद्वान् इसका अन्वेषण करेंगे, इसी अभिप्राय से यह लेख लिखा गया है।

भारतीय मूर्ति शिल्प की अद्भुत कृति

कुण्डलपुर के बड़े बाबा : भगवान आदिनाथ

डा० भागचन्द 'भागेंदु', दमोह

कुण्डलपुर मध्यप्रदेश के दमोह जिले में अवस्थित है। यह मध्य रेलवे के बीना-कटनी मार्ग के दमोह स्टेशन से ईशान कोण में ३५ किलोमीटर दमोह-पटेरा-कुण्डलपुर मार्ग पर स्थित है। कुण्डलपुर समुद्रो सतह से तीन हजार फीट ऊँची पर्वत श्रेणियों में घिरा हुआ है। यहाँ की पर्वत-श्रेणियाँ कुण्डलाकार हैं, कदाचित् इसलिए यह स्थान "कुण्डलपुर" कहलाया।

प्रकृति सृष्टि-सम्पन्न, उत्तर भारत की महनीय तीर्थस्थली कुण्डलपुर का महत्व धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से तो है ही, कला और पुरातत्व की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। भारतीय संस्कृति और विशेष रूप से जैन संस्कृति, कला तथा पुरातत्व के विकास में कुण्डलपुर का योगदान अत्यन्त भव्य और प्रशंस्य है। यहाँ ईसा की छठी शताब्दी में लेकर परवर्ती सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक का मूर्तिशिल्प पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। यहाँ कुल ६० जैन मन्दिर हैं—४० पर्वत के ऊपर और २० अधित्यका में। अधित्यका के मन्दिरों और पर्वतमाला के बीचों-बीच निर्मल जल से भरा "वर्धमान सागर" नामक विशाल सरोवर है।

यद्यपि कुण्डलपुर में मूर्ति और वस्तुशिल्प के अनेक बेजोड़ नमूने उपलब्ध हैं, तथापि इन पत्तियों में हम कुण्डलपुर की उस भव्य और सौम्य मूर्ति से आपका परिचय करा रहे हैं, जो छठीवीं शताब्दी की निमित्तिता है ही, सौन्दर्य की सृष्टि तथा विशालता की दृष्टि में भारतीय पद्मासन मूर्तिकला के इतिहास में अनुपम भी है। यह मूर्ति "बड़े बाबा" के नाम से सम्बोधित होती है। कुछ व्यक्तियों की भ्रामक धारणा है कि यह मूर्ति श्री महावीर स्वामी की है। इसीलिए वस्तु-स्थिति पर नये सिरे से पूर्ण विचार कर इस निबन्ध में तथ्य प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

बड़े बाबा :

कुण्डलपुर के मन्दिर संख्या ११ में अवस्थित १२ फुट ६ इंच ऊँची तथा ११ फुट ३ इंच चौड़ी विशाल पद्मासन मूर्ति इस क्षेत्र की सर्वाधिक प्रसिद्ध और दर्शकों के मन को गहज ही मोह लेने वाली निमित्तिता है। इस मूर्ति का निर्माण देशी भूरे रंग के पाषाण से हुआ है। इस मूर्ति के मुख पर सौम्यता, भव्यता और दिव्य स्मृति है। यदि हम इस मूर्ति को ध्यानपूर्वक कुछ समय तक देखते रहे तो इसके मुख पर अद्भुत लावण्य, अलौकिक तेजस्विता और दिव्य आकर्षण के दर्शन प्राप्त करेंगे। मूर्ति के वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न सुशोभित है। कन्धों पर जटाओं की दो-दो लटें दोनों ओर लटक रही हैं। मूर्ति के सिंहासन के नीचे दो सिंह उत्कीर्ण हैं। ये सिंह आसन से सम्बन्धित हैं, तीर्थंकर लाछन नहीं हैं। मूर्ति के पादपीठ के नीचे गोमुख यक्ष और चक्रेश्वरी यज्ञी अंकित हैं।

इस मूर्ति को आग जनता में 'भगवान महावीर' की मूर्ति के रूप में मान्यता प्राप्त है। यह धारणा शताब्दियों से चली आ रही है, किन्तु गव्योन्मोज के आधार पर वास्तव में यह मूर्ति जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की प्रमाणित होती है।

मैंने अपने विगत कुण्डलपुर प्रवास में शोध मोज की दृष्टि से 'बड़े बाबा' की इस सातिशय मनोज्ञ मूर्ति के सूक्ष्म रीति में पुनः पुनः दर्शन किये और उन सभी आचार्यों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जिनके कारण बड़े बाबा की यह मूर्ति महावीर स्वामी के रूप में विख्यात हुई, तथा वस्तुस्थिति, प्रतिमाविज्ञान, पुरातात्विक साक्ष्य आदि के आधार पर मुझे उन्हें 'ऋषभनाथ' का मूर्ति स्वीकार करने में जो ओचित्य प्रतीत हुआ है, उस सम्पूर्ण चिन्तन के निष्कर्ष अग्रलिखित पत्तियों में प्रस्तुत हैं :—

बड़े बाबा के गर्भगृह के प्रवेश द्वार के बायी ओर (अब द्वार चौड़ा किये जाने पर इसे दायी ओर की दीवार में जड़ दिया गया है) एक अभिलेख जड़ा हुआ है ! यह अभिलेख ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। एक फुट ग्यारह इंच चौड़ा और एक फुट सात इंच ऊंचा है। इसी अभिलेख में प्रतापी शासक, बुंदेलखण्ड के गौरव, महाराज छत्रसाल द्वारा कुण्डलपुर को दिये गये बहुमूल्य सहयोग और दान का वर्णन प्राप्त होता है।

विक्रम संम्वत् १७५७ के इस अभिलेख में बड़े बाबा के मन्दिर के जीर्णोद्धार के प्रसंग में पद्य संख्या दो में “श्री वर्धमानस्य” तथा पद संख्या दस में “श्री सन्मतेः” शब्द आये हैं। इन अभिलेख की तिथि और वर्षविषय सुस्पष्ट है। इससे केवल यह तथ्य प्रकाशित होता है कि सत्रहवीं-षठारहवीं शती में यह मन्दिर ‘श्री महावीर मन्दिर’ के नाम से जाना जाता था। संभवतः बड़े ‘बाबा’ की यह मूर्ति भी इसी दिनों श्री महावीर की मूर्ति कहलाती होगी। कदाचित् तत्कालीन भक्तों को सिंहासन में अंकित दो सिंह देखकर बड़े बाबा को “महावीर” मानने में सहायता मिली होगी।

मन्दिर संख्या ११ की विशाल-मूर्तियों का ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि बड़े बाबा की विशाल मूर्ति का सिंहासन दो पाषाण खंडों को जोड़कर बनाया गया है। बड़े बाबा की मूर्ति के दोनों ओर उन्हीं के बराबर ऊंची भगवान् पार्श्वनाथ की दो कायोत्सर्ग मूर्तियाँ भी हैं। इनके सिंहासन निजी नहीं, बल्कि अन्य विशाल कायोत्सर्ग मूर्तियों के अग्रशेष प्रतीत होते हैं। इन मूर्तियों के सिंहासन कदाचित् कभी बदले गये हों। यदि ऐसी कोई सम्भावना हो भी, तो वह बात आततायियों के आक्रमण के बाद की हो सकती है।

इस सबके साथ यह बात सहज ही स्वीकरणीय है कि जीर्णोद्धार के पश्चात् (गत दो-तीन शताब्दियों में) बड़े बाबा के गर्भगृह में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं; जैन गर्भगृह के भीतर चारों ओर दीवारों पर मूर्तियाँ जिस ढंग से जड़ी हुई हैं, उनमें कोई निश्चित योजना अथवा

व्यवस्था नहीं मालूम होती है। हमारा ऐसा विश्वास है कि ये मूर्तियाँ अन्यत्र से लाकर लगा दी हैं।

निश्चित ही यह प्रसंग आश्चर्यजनक है कि साक्ष्यों की उपेक्षा करके उक्त अभिलेख (संम्वत् १७५७) में इसे ‘श्री वर्धमान या श्री सन्मति मन्दिर’ कहा गया है। जब कि मूर्ति के पादपीठ पर तीर्थङ्कर महावीर का लाञ्छन ‘सिंह या अन्य कोई प्रतीक’ यक्ष-यक्षी, (मातंग और सिद्धायिका) अथवा कोई अभिलेख आदि उत्कीर्ण नहीं है। पादपीठ पर दोनों पार्श्वों में जो सिंह निर्दिष्ट है, वे श्री महावीर के लाञ्छन या प्रतीक नहीं हैं, अपितु वे सिंहासनस्थ के शक्ति-परिचायक सिंह हैं, जैसे कि प्रायः अन्य सभी मूर्तियों के पादपीठ पर ये देखे जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मूर्ति श्री महावीर के नाम से इसलिए सम्बोधित होने लगी होगी, क्योंकि जन-सामान्य को महावीर स्वामी के संबंध में उन दिनों कुछ अधिक जानकारी रही होगी। अब से कुछ शताब्दियों पहले भी ऐसी ही स्थिति रही है, क्योंकि साधारण मनुष्य श्रद्धालु होता है। वह इतिहास, धर्मशास्त्र, साहित्य और प्रतिमाविज्ञान की गहराइयों में नहीं पठना चाहता। अतः उसने इस मूर्ति को सहज भाव से ‘बड़े बाबा’ कहते हुए भी महावीर के नाम से जाना।

अस्तु, जनसामान्य की धारणा के विपरीत अनेक ऐसे ठोस प्रमाण हैं जिनके आधार पर बड़े बाबा को श्री महावीर स्वामी की मूर्ति मानने में शास्त्रीय और प्रतिमाविज्ञान संबंधी अनेक बाधाएँ हैं। यह मूर्ति वास्तव में, प्रथम तीर्थ-ङ्कर, युगादिशेख, भगवान् ऋषभदेव की है। इस संबंध में मेरे निष्कर्ष निम्न प्रकार है :—

बड़े बाबा की इस मूर्ति के कंधों पर जटाओं की दो-दो लट्टें लटक रही हैं। साधारणतः तीर्थङ्कर मूर्तियों की केशराशि घुंघराली और छोटी होती है। उनके जटा और जटाजूट नहीं होते। किन्तु भगवान् ऋषभनाथ की कुछ मूर्तियों में प्रायः इस प्रकार के जटाजूट अथवा जटायें दिखाई देती हैं। भगवान् ऋषभदेव के दीर्घकालीन, दुद्धर तपश्चरण के कारण उनकी मूर्ति में जटायें बनाने की परम्परा

मध्यकाल तक प्रचलित रही है। तीर्थङ्कर ऋषभनाथ की मूर्तियों का जटायुक्त रूप शास्त्रसम्मत भी है, जैसा कि आचार्य जिनसेद ने भी कहा है :—

(क) चिरतपस्यो यस्य जटा मूर्ध्नि वपुस्तराम् ।

ध्यानाग्निदग्धकर्मन्धना निर्मदवूमशिखाइव ॥

—आदिपुराण, पर्व १, पद्य ६

(ख) प्रलम्बजटा-भार-आग्निष्णु निष्पुत्रावभी ।

रुद्रप्रारोहशाखाग्रो यथा न्योग्रोधपादपः ॥

—हरिवंश पुराण, ६-२०४

कुण्डलपुर के बड़े बाबा के कंधों पर जटायो भी लहरा रही है। अतः निर्विवाद रूप से यह मूर्ति भगवान ऋषभनाथ की ही है, महावीर स्वामी की नहीं।

(२) श्री महावीर-मूर्ति के साथ में उनके यक्ष मातंग और यक्षी सिद्धायिका का अंकन होता है, जब कि इस मूर्ति में ऐसा कोई अंकन नहीं है।

(३) बड़े बाबा की मूर्ति के पादपीठ के नीचे सिंहासन में आदिनाथ के यक्ष गोमुख और यक्षी चक्रेश्वरी का सायूथ सुन्दर अंकन है। यक्ष अपने दो हाथों में से एक में परशु और दूसरे में बिजौरा फल धारण किये हैं। उसका मुख जैसा है जबकि चक्रेश्वरी यक्षी चतुर्भुजी है उसके ऊपर के दो हाथों में चक्र है, नीचे का दाया हाथ वरद मुद्रा में है तथा बायें हाथ में शंख है।

उक्त यक्ष और यक्षी के शास्त्रीय मूल्यांकन से निर्विवाद रूप से यह तथ्य प्रमाणित है कि बड़े बाबा की मूर्ति तीर्थङ्कर ऋषभनाथ की है।

(४) लोक परम्पराओं में भी संस्कृति के मूल रूप के दर्शन सहज ही होते हैं। इस बात का प्रबल प्रमाण है इस मूर्ति का “बड़े बाबा” नाम से सम्बोधित होना। तीर्थङ्करों की परम्परा में जो ‘बड़ा है, वृद्ध है, उसे ही तो’ “बड़े बाबा” का सम्बोधन प्रदान किया जा सकता है, अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर स्वामी के लिए “बड़े बाबा” सम्बोधन कैसा ?

उक्त प्रमाणों के प्रकाश में यह तथ्य सहज ही स्वीकार किया जाना चाहिए कि कुण्डलपुर के “बड़े बाबा” की मूर्ति महावीर स्वामी की नहीं है, प्रत्युत तीर्थङ्कर ऋषभनाथ की है।

यद्यपि भारत में यत्र-तत्र अनेक विशाल पद्मासन मूर्तियां प्राप्त होती हैं, परन्तु कला की शाश्वत और सार्वकालिक स्मरणीय प्रभाव तथा वीतरागता की जो अनुपम अनुभूति “बड़े बाबा” की इस मूर्ति से प्राप्त होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसी दिव्य मूर्ति को शतशः नमन।

अध्यक्ष—संस्कृत विभाग

शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दमोह, म० प्र०



श्रीकृष्ण और तीर्थंकर नेमिनाथ

श्री कृष्ण महाभारत काल में हुए थे और बादसर्वे तीर्थंकर श्री नेमिनाथ भी उसी समय और उसी वृष्णि या हरिवंश में हुए थे। बर्बिक और श्रमण दोनों धाराएँ एक साथ, एक प्रदेश और एक ही वंश से प्रवाहित हुई थीं। एक गीता के गायक थे, तो दूसरे सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य रूपी तीर्थ के उन्मादक थे। एक भक्ति और ज्ञानयुक्त निष्काम कर्मयोग के प्रणेता थे और दूसरे त्याग एवं वैराग्यमय आप्तधर्म के प्रचेता थे। दोनों ने जनमानस को प्रभावित किया था और दोनों ने लोक को नई चेतना दी थी। हिसामय यज्ञ-यागादि के अतिरिक्त भी कोई धर्म है, जो जीव का कल्याण कर सकता है, इसका पाठ पढ़ाया और एक नई धारा चलाई। दोनों धाराएँ उद्गम में बहुत पास थीं और आगे चलकर भी दोनों न परस्पर विचार ग्रहण किए थे। जैन परम्परा में व्रत उपवासादि का विशेष विधान है। इन्द्रियों को संयत रखने में इनसे सहायता मिलती है, अतः उनका दाना प्रकार का विधान किया गया है जिसमें साधक अडिग रहकर अपनी साधना कर सके।

तत्त्वार्थसूत्र में न्याय-शास्त्र के बीज

□ डा० दरबारीलाल कोठिया, वाराणसी

[तत्त्वार्थसूत्र के कुछ स्थानों में पाठ भेद प्रवक्ष्य है, किन्तु यह पाठ-भेद विगम्बर और इवेताम्बर दोनों आम्नायों के मतभेद का परिणाम है। इस पाठ-भेद या मतभेद का निर्णय इस बात के निर्णय पर निर्भर है कि तत्त्वार्थसूत्र का जो भाष्य प्रचलित है वह स्वोपज्ञ है या नहीं। एक ओर यह निर्णय है और दूसरी ओर वे कुछ प्रश्न हैं जो अब नये नये उठाये जा रहे हैं। ऐसे प्रश्नों में एक यह भी है कि तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी (या उमास्वाति) पहले हुए या कि आचार्य कुन्दकुन्द। अब तक यही माना जाता रहा है और ऐसा ही है भी कि आचार्य कुन्दकुन्द पहले हुए और आचार्य उमास्वामी उनके बाद। इस तथ्य की पुष्टि में प्रवर मनीषी डा० दरबारीलाल कोठिया ने प्रस्तुत लेख में उदाहरण और मूल-सन्दर्भों के साथ, ठोस तर्क दिये हैं। —सम्पादक]

तत्त्वार्थसूत्र जैन परम्परा का एक महत्वपूर्ण और प्रतिष्ठित ग्रन्थ है। इसमें जैन तत्त्वज्ञान का अत्यन्त संक्षेप और प्राञ्जल संस्कृत गद्यगूथों में बड़ी विशदता के साथ प्रतिपादन किया गया है। इसके रत्नत्रय आचार्य गृद्ध-पिच्छ है जिन्हें उमास्वामी और उमास्वाति के नामों से भी जाना जाता है।

इसमें दस अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में रत्नत्रय के रूप में मोक्षमार्ग का उल्लेख करते हुए सम्यग्दर्शन, उसके विषयभूत जीवादि सात तत्वों, उन्हें जानने के उपायों और सम्यग्ज्ञान का निरूपण किया गया है। दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायों में जीव तत्व का लक्षण, उसके विभिन्न भेदों, उससे सम्बन्धित शरीरों, जन्मों, योनियों, आवासों (रत्नप्रभा आदि नरकभूमियों, जम्बूद्वीप, लवण समुद्र आदि मध्यलोक के स्थानों और देव निकायों) तथा उनसे सम्बद्ध आवश्यक जानकारीयों का प्रतिपादन निबद्ध है। पाँचवें अध्याय में अजीव तत्व और उसके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन पाँच भेदों का, छठे और सातवें अध्यायों में आस्रव तत्त्व (पापास्रव और पुण्यास्रव का), आठवें में बन्धतत्त्व का, नववें में सवर्ग और निजंरा तत्वों का तथा दशवें में मोक्षतत्त्व का विवेचन है। इस तरह जैन धर्म के प्रसिद्ध सात तत्वों का इसमें साङ्गोपाङ्ग कथन किया गया है और इस प्रकार हमें इसमें धर्म और दर्शन

का पर्याप्त, या यों कहिए कि प्रायः पूरा, निरूपण उपलब्ध होता है।

अब प्रश्न है कि इस नर्म और दर्शन के ग्रन्थ में क्या उनके विवेचन या सिद्धि के लिए न्याय का भी अवलम्बन लिया गया है? इस प्रश्न का उत्तर जब हम तत्त्वार्थसूत्र का गहराई और सूक्ष्मता से अध्ययन करते हैं तो उसी से मिल जाता है।

न्याय का स्वरूप : प्रमाण और नय

न्यायदीपिकाकार अभिनव धर्मभूषण ने न्याय का स्वरूप देते हुए लिखा है कि 'प्रमाण और नय' दोनों न्याय हैं, क्योंकि उनके द्वारा पदार्थों का ज्ञान किया जाता है। उनके अतिरिक्त, उनके ज्ञान का अन्य कोई उपाय नहीं है, जैसा कि उनके निम्न प्रतिपादन से स्पष्ट है—

प्रमाणतयाभ्यां हि विवेचिता जीवादयः सम्यगधि-
गम्यन्ते । तद्व्यतिरेकेण जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरा
सम्भवात् । न्या० दी०, पृ० ४ ।

'न्याय' शब्द की व्युत्पत्ति भी इस प्रकार दी गई है कि 'नि' पूर्वक 'इण गतो' घातु से करण अर्थ में घञ्प्रत्यय करने पर न्याय शब्द सिद्ध होता है। 'नितरांमियते जायतेऽर्थोऽनेतेति न्यायः, अर्थ परिच्छेदकोपायो न्यायः इत्यर्थः । स च प्रमाणनयात्मक एव' ।^१ अर्थात् निश्चय से जिनके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं वह न्याय हैं और वह

१. प्रमाणनयात्मकन्यायस्वरूपप्रतिबोधकशास्त्राधिकार सम्पत्तये प्रकरणमिदमारभ्यते ।'

-- न्याय दी०, पृ. ५ वीर सेवा मन्दिर-संस्करण, सन् १९४५.

२. न्याय दी० टिप्प. पृ. ५, संस्करण पूर्वोक्त ।

प्रमाण एवं नयरूप ही है, क्योंकि उनके द्वारा पदार्थों का ज्ञान किया जाता है। अतएव जैन दर्शन में प्रमाण और नय न्याय है।

तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाण, प्रमाणाभास और नय :

न्याय के उक्त स्वरूप के अनुसार तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाण और नय दोनों का प्रतिपादन उपलब्ध है। तत्त्वार्थ-सूत्रकार ने स्पष्ट कहा है कि प्रमाण और नयों के द्वारा पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है, यथा --

प्रमाणनयैरधिगमः ।-- त. सू. १-६ ।

इससे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र में जहाँ धर्म और दर्शन का प्रतिपादन किया गया है वहाँ प्रमाण और नयरूप न्याय का भी प्रतिपादन है।

षट्खण्डगम आदि आगम ग्रन्थों में ज्ञानमार्गणात्र अन्तर्गत ज्ञानमीमांसा के रूप में आठ ज्ञानों का वर्णन किया गया है। परन्तु वहाँ उन ज्ञानों का प्रमाण और प्रमाणाभास के रूप में कोई विभाजन दृष्टिगोचर नहीं होता। पर तत्त्वार्थसूत्र में आगमवर्णित पाँच सम्प्रज्ञानों को प्रमाण^१ और तीन मिथ्याज्ञानों को प्रमाणाभास^२ (अप्रमाण-विपर्यय) बताकर दार्शनिक एवं न्यायिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। मति आदि पाँच ज्ञानों को प्रमाण तथा विपरीत मति, विपरीत श्रुत और विपरीत अवधि (विभगज्ञान) इन तीनों ज्ञानों को विपर्यय-अप्रमाण प्रमाणाभास के रूप में निरूपण संस्कृत भाषा के ग्रन्थों में

तत्त्वार्थसूत्र में ही सर्वप्रथम उपलब्ध होता है।

तत्त्वार्थसूत्र में न्याय के दूसरे अङ्ग नय का भी प्रतिपादन है और उसके सात भेदों का निर्देश किया गया है।^३ वे हैं नैगम, सग्रह व्यवहार ऋजु-सूत्र शब्द समाभिरूढ और एवभूत। टीकाकारों ने इनका विस्तृत विवेचन किया है।

प्रमाण के प्रत्यक्ष-परोक्ष भेद :

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण के दो भेदों को बतला कर उसका तत्त्वार्थसूत्र में विशदता के साथ प्रतिपादन किया गया है। मति और श्रुत इन दो ज्ञानों को परोक्ष तथा अवधि मनःपर्यय और केवल इन तीन ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहा गया है।^४ तत्त्वार्थसूत्रकारों ने परोक्षता और प्रत्यक्षता का भी कारण बतलाते हुए लिखा है कि चूँकि आदि के दोनों (मति और श्रुति) ज्ञान इन्द्रियों और मन की सहायता से उत्पन्न होते हैं, अतः परापेक्ष होने से वे परोक्ष कहे गये हैं और अन्य तीन ज्ञान (अवधि, मन पर्यय और केवल) इन्द्रियों और मन की सहायता से न होने तथा मात्र आत्मा की सहायता से होने के कारण प्रत्यक्ष बतलाए गये हैं।^५ यह प्रमाणद्वय का भेद आगमिक^६ न होकर तात्त्विक है जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती अकलक^७, विद्यानन्द^८ आदि सभी जैन तात्त्विकों ने किया है। भारतीय न्यायशास्त्र में ६ किये गये प्रमाण के दो (वैशेषिक और बौद्ध स्वीकृत), तीन (सांख्यमान्य), चार (नैयायिक सम्मत), पाँच (प्रभाकर अङ्गीकृत) और

१. मतिश्रुतावधि मनःपर्ययकेवलज्ञानानि ज्ञानम्, 'तत्प्रमाणे' त. सू. १-६-१० ।

२. मतिश्रुतावधयो कार्यश्च, वही १-३१ ।

३. नैगमसंग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द समाभिरूढव-भूता नयाः ।' वही, १-३१ ।

४. तत्प्रमाणे, 'आद्ये परोक्षम्' प्रत्यक्षमन्यत् -- वही-१, १०, ११, १२ ।

५. तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् 'प्रत्यक्षमन्यत् -- त. सू. १, १८, १२ ।

६. मति श्रुत आदि पाँच सम्प्रज्ञानों का भेद आगमिक है। स्वभावज्ञान और विभावज्ञान के भेद से ज्ञानोप-योग के दो भेदों का आ० कुन्दकुन्द का निरूपण

(नियमसार, गा० १०) भी आगमिक है। कुन्दकुन्द प्रवचनसार (गा० २१, २२, ३०, ४०) में प्रत्यक्ष और परोक्ष शब्दों का प्रयोग किया गया है। पर वहाँ इन शब्दों का पदार्थ के विशेषण रूप में है। हाँ, इसी ग्रंथ में आगे (गा० १८ में) अवश्य परोक्ष और प्रत्यक्ष के लक्षण बतलाते हुए उन्हें ज्ञान का विशेषण बनाया गया है। पर प्रमाण के भेद के रूप में उनका प्रतिपादन नहीं है।

७. लघीय, १-२-५ प्रमाण परी० पृ० २८, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, संस्करण १९७७ ।

८. जैनतर्कशास्त्र में अनुमान-विचार, पृ० ६६, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, संस्करण १९६६ ।

छह (भाट्ट भीमांसक स्वीकृत) भेदों का समावेश उसके उक्त प्रमाणद्वय (प्रत्यक्ष और परोक्ष) में ही हो जाता है। तत्त्वार्थसूत्रकार^१ जब मति स्मृति संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान) चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) को भी प्रमाणान्तर होने का संकेत करते हुए उन्हें मतिज्ञान कहते हैं और उनका इन्द्रिय मन पूर्वक होने के कारण परोक्ष में अन्तर्भाव करते हैं तो उनकी यहां निश्चय ही तार्किक दृष्टि लक्षित होती है। उनकी इस दृष्टि से प्रकाश लेकर पूज्यपाद ने^२ न्यायदर्शन आदि में पृथक् प्रमाण के रूप में स्वीकृत, उपमान, आगम आदि प्रमाणों को परसापेक्ष होने से परोक्ष में अन्तर्भाव कर लिया है और तत्त्वार्थ-सूत्रकार के प्रमाणद्वय का समर्थन किया है। अकलंक ने^३ भी उनके प्रमाणद्वय की ही सम्पुष्टि की है। साथ ही नये आलोक में प्रत्यक्ष-परोक्ष की परिभाषाओं और उनके तार्किक भेदों का भी प्रतिपादन किया है। उत्तरकाल में तो आ० गूढपिच्छ का आधार लेकर अकलंक ने जो प्रमाणनिरूपण किया उसी पर विद्यानन्द^४, माणिक्यनन्दि^५ आदि तार्किक चले हैं।

अनुमान के (पक्ष, हेतु और उदाहरण) तीन अवयवों से सिद्धि :

तत्त्वार्थसूत्र में कुछ सिद्धान्तों की सिद्धि अनुमान (युक्ति) से की गयी है। उन्होंने अनुमान प्रयोग के तीन अवयवों पक्ष, हेतु और उदाहरण से मति, श्रुत और अवधि इन तीनों ज्ञानों को विपर्यय (अप्रमाण-प्रमाणाभास) सिद्ध करते हुए प्रतिपादित किया है।

१. पक्ष—मतिश्रुतावधयो विपर्यय च।

२. हेतु—सदसत्तोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धे।

३. उदाहरण—उन्मत्तवत्। —त. सू. १-३१-३२

अर्थात् मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान विपर्यय (मिथ्या अप्रमाण प्रमाणाभास) भी हैं, क्योंकि उनके द्वारा सत् (समीचीन) और असत् (असमीचीन) का भेद न कर स्वेच्छा से उपलब्धि होती है, जैसे उन्मत्त (पागल पुरुष) का ज्ञान। उन्मत्त व्यक्ति विवेक न रखकर माता

को स्त्री और स्त्री को माता कह देता है। उसी प्रकार, मति, श्रुत और अवधि (विभङ्ग) ज्ञान भी सत्-असत् का भेद न कर कभी काचकामलादि के वश वस्तु का विपरीत (अन्यथा) ज्ञान करा देते हैं। अतः ये तीन ज्ञान मिथ्या-ज्ञान भी कहे जाते हैं।

तत्त्वार्थसूत्रकार के इस प्रतिपादन से स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र में न्यायशास्त्र भी समाहित है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उनके समय में भी तीन ही अनुमानावयव वस्तु सिद्धि में प्रचलित थे, उपनय और निगमन को अनुमानावयव स्वीकार नहीं किया जाता था या उनका जैन सस्कृति में विकास नहीं हुआ था। तत्त्वार्थसूत्रकार के उत्तरवर्ती आचार्य मम्मत्भद्र ने भी देवागम (प्राप्त-मीमांसा) में उक्त तीन अवयवों से ही अनेक स्थलों पर वस्तुसिद्धि की है।

तत्त्वार्थसूत्रकार का तीन अवयवों से वस्तु-सिद्धि का एक उदाहरण और यहाँ प्रस्तुत है। तत्त्वार्थसूत्र के दशवें अध्याय के पाचवें सूत्र में मुक्तजीव के ऊर्ध्वगमन को सयुक्तिक सिद्ध करते हुए तत्त्वार्थसूत्रकार ने लिखा है—

१ पक्ष—तदनन्तर (युक्ता) ऊर्ध्वगच्छत्या लोकांतात्।

२. हेतु पूर्वप्रयोगात् असंगत्वात् बन्धच्छेदात् तथागति परिणामाच्च।

३. उदाहरण—आविद्धकुशलचक्रवत्, व्यपगत लेपा-लांयुवत् एरण्डबीजवत् अग्निशिखावच्च।

—त. सू. १०-५, ६, ७।

अर्थात् द्रव्यकर्मों और भावकर्मों से छूट जाने के बाद मुक्तजीव लोक के अन्तः पर्यन्त ऊपर को जाता है, क्योंकि उसका ऊपर जाने का पहले का अभ्यास है, कोई सग (परिग्रह) नहीं है, कर्मबन्धन नष्ट हो गया है और उसका ऊपर जाने का स्वभाव है। जैसे कुम्हार का चाक, लेप रहित तूमरी, एरण्ड का बीज और अग्नि की ज्वाला। मुक्त जीव के ऊर्ध्व गमन को सिद्ध करने के लिए सूत्रकार ने चार हेतु दिये और उनके समर्थन के लिए चार उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।^६ इस तरह अनुमान से सिद्धि

१. त. सू. १, १३, १४।

२. सर्वार्थसि० ५-११।

३. लघीय० १/३।

४. प्रमाण परीक्षा, पृ. २८। ५. परीक्षा मु० ३-१, २।

६. अनुपदिष्टहेतुकमिदमुर्ध्वगमनं कथमध्यसातुं शक्यमिति ? अत्रोच्यते। आह हेत्वर्थः पुष्कलोऽपि दृष्टान्त समर्थनं गन्तरेणाभिप्रेतार्थसाधनाय नालमिति उच्यते सर्वार्थसिद्धिः १०-६, ७ की उत्पातिकाए।

या विवेचन करना न्यायशास्त्र का अभिधेय है। यद्यपि साध्य-बिनाभावी एक हेतु ही विवक्षित अर्थ की सिद्धि के लिए पर्याप्त है, उसे सिद्ध करने के लिए अनेक हेतुओं का प्रयोग और उनके समर्थन के लिए अनेक उदाहरणों का प्रतिपादन आवश्यक है। किन्तु उस युग में न्याय-शास्त्र का इतना विकास नहीं हुआ था। वह तो उत्तरकाल में हुआ है। इसी से अकलंक, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि आदि न्यायशास्त्र के आचार्यों ने साध्य (विवक्षित अर्थ) की सिद्धि के लिए पक्ष और हेतु इन दो ही अनुमान का अंग माना है^१। उदाहरण को भी उन्होंने नहीं माना, उसे अनावश्यक बतलाया है। तात्पर्य यह कि तत्त्वार्थसूत्रकार के काल में पक्ष अर्थों की सिद्धि के लिए न्याय (युक्ति-अनुमान) को आगम के साथ निर्णय-साधन माना जाने लगा था। यही कारण है कि उनके कुछ ही काल बाद हुए स्वामी समन्तभद्र ने^२ युक्ति और शास्त्र दोनों को अर्थ के पथार्थ प्ररूपण के लिए आवश्यक बतलाया है। उन्होंने यहाँ तक कहा है कि बीर जिन इसलिए आप्त है क्योंकि उनका उपदेश युक्ति और शास्त्र से अवरुद्ध है। तत्त्वार्थ-सूत्र के उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उसमें न्यायशास्त्र के बीज समाहित है, जिनका उत्तरकाल में अधिक विकास हुआ है।

तत्त्वार्थसूत्र के पाचवें अध्याय के पन्द्रह और सोलहवें सूत्रों द्वारा जीवों का लोकाकाश में असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश के अवगाह प्रतिपादन किया गया है। यह प्रतिपादन भी अनुमान के उक्त तीन अवयवों द्वारा हुआ है। पन्द्रहवाँ सूत्र पक्ष के रूप में और सोलहवाँ सूत्र हेतु तथा उदाहरण के रूप में प्रयुक्त है^३। 'जीवों का अवगाह लोकाकाश के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश में है, क्योंकि उनमें प्रदेशों का संहार (संकोच)

और विसर्प (विस्तार) होता है, जैसे—प्रदीप; दीपक को जैसा आश्रय मिलता है उसी प्रकार उसका प्रकाश हो जाता है। इसी तरह जीवों को भी जैसा आश्रय प्राप्त होता है वैसे ही उसमें समव्याप्त हो जाते हैं।

सत् में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की सिद्धि :

द्रव्य का लक्षण तत्त्वार्थसूत्र में आगमानुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की युक्तता को बतलाया है। यहाँ प्रश्न उठा कि उत्पाद, व्यय अनित्य (भ्रान्ते जाने) रूप है और ध्रौव्य (स्थिरता) नित्यरूप है।

वे दोनों (अनित्य और नित्य, एक ही सत् में कैसे रह सकते हैं ? इसका उत्तर सूत्रकार ने हेतु का प्रयोग करके दिया है। उन्होंने कहा कि मुख्य (विवक्षित) और गौण (अविवक्षित) की अपेक्षा से इन दोनों की एक ही सत् में सिद्धि होती है। द्रव्याश की विवक्षा करने पर उसमें नित्यता और पर्यायाश की अपेक्षा से कथन करने पर अनित्यता की गिद्धि है। इस प्रकार, युक्तिपूर्वक सबका उत्पाद व्यय, ध्रौव्य रूप नयात्मक या अनेकान्तात्मक सिद्ध किया गया गया है।^४

इस तरह तत्त्वार्थसूत्र हमें धर्म, दर्शन और न्याय तीनों का सम्पूर्ण ज्ञान कराने वाला जैन वाङ्मय का अद्वितीय ग्रंथ है। गम्भिरः इसी में उसकी महिमा एवं गरिमा का गान करते हुए उत्तरवर्ती आचार्यों ने कहा^५ है कि इस तत्त्वार्थसूत्र का जो एक भी बार पाठ करता है या सुनता है उसे एक उपवास करने जितना फल प्राप्त होता है। तत्त्वार्थसूत्र की इस महिमा को देखकर आज भी समाज में उसका पठन-पाठन सबसे अधिक प्रचलित है और पर्यूपण (दशलक्षण) पर्व में तो उस पर व्याख्यान भी दिये जाते एवं सुने जाते हैं। इत्यलम्।

□□□

१. एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गोदाहरणम्-परीक्षा० ३-३७
न्यायवर्ति. का. ३८१ अकलंक ग्रं.। पत्रपरी. पृ. ६।

२. 'युक्तिशास्त्राविरोधिका' देवागम (आप्पमो.) का ६।

३. असंख्येयभागादिषु जीवानाम् (अवगाहः) प्रदेश संहार
विसर्पाभ्याम् प्रदीपवत्। - त. सू. ५, १५' १६।

४. ननु इदमेव विरुद्धं तदेव नित्यं तदेव नित्यगति। यदि

नित्यं व्ययादयाभावादनित्यताव्याघातः। अथानित्यमेव
स्थित्य भावन्नित्यता व्याघातः इति? नैत सिद्धय-कुतः?

५. आपितानपित सिद्धे ५-३२।

६. स. सि. ५, ३२।

७. दशाध्याये परित्यज्यते तत्त्वार्थं पठिते सति।

फलं स्यादुपवासस्य भाषितं सूत्रि पुङ्गवैः॥

— अज्ञात व्याख्याकारकृत

जैन पुराणों में समता

□ श्री देवीप्रसाद मिश्र

प्रारम्भ में बौद्ध और जैन धर्म को वर्ण-व्यवस्था तथा जातिवाद स्वीकार न होने के कारण वे उसका विरोध करते थे। बौद्ध धर्म अपने इस सिद्धान्त का पालन करते हुए दृढ़ रहा, परन्तु कालान्तर में जैनो ने इस देश की मुख्य धारा में बहते हुए एक समन्वित सामाजिक व्यवस्था को जन्म दिया, जिसमें ब्राह्मणों के स्थान पर क्षत्रियों को प्रमुखता दी गई है। इसी को मान कर उन्होंने पुराणों की रचना करके यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि उनके सभी त्रिवर्ण्यशालाका-पुरुष क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए थे। प० फूलचन्द्र जी का विचार है कि जैन-आगम-साहित्य में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था नहीं है।^१ परन्तु यह मत ग्राम्य है, क्योंकि जैन-आगमों में बभ्रु, खत्तिय, वइस्स तथा सुह नाम के चार वर्णों का उल्लेख मिलता है, जो क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र हैं।^२

जैन सूत्रों के अनुसार कर्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की उत्पत्ति होती है।^३ इसी प्रकार का विचार जैन पुराणों में भी मिलता है। लोग अपने योग्य कर्मों को करते थे, वे अपने वर्ण की निश्चित आजीविका छोड़कर दूसरे की आजीविका को ग्रहण नहीं करते थे, उनके कार्यों

में वर्ण-संकरता नहीं थी और उनके विवाह, जाति-संबंध एवं व्यवहार आदि सभी कार्य वर्णानुसार होते थे।^४ महा-पुराण के अनुसार, पहले वर्णव्यवस्था नहीं थी, परन्तु कालान्तर में आजीविका के आधार पर चातुर्वर्ण्य व्यवस्था हुई।^५ रविषेणाचार्य ने जाति व्यवस्था का खण्डन किया है।^६ पद्मपुराण में किसी भी जाति को निन्दनीय नहीं बताया गया है। सभी में समानता का दर्शन कराके गुण को कल्याणक माना है। यही कारण है कि व्रती चाण्डाल को गणधरादि देव ब्राह्मण कहते हैं।^७ रविषेणाचार्य ने ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल के प्रति समता का दृष्टिकोण अपनाया है।^८ जैन पुराणों में सभी के प्रति समता का भाव दिखाया गया है। इसीलिए श्री गणेश मुनि ने कहा है कि पहले वर्णव्यवस्था में ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं था। जिस प्रकार चार भाई कोई काम आपस में बांटकर आपस में सम्पादित करते हैं, उसी प्रकार चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था भी थी। कालान्तर में इस व्यवस्था के साथ ऊँच-नीच का सम्बन्ध जुड़ गया, जिससे विशुद्ध सामाजिक व्यवस्था में भावात्मक हिसा का सम्मिश्रण हो गया।^९ जैन पुराणों के अनुसार, चारों वर्णों का विभाजन आजी-

१. प० फूलचन्द्र : वर्ण, जाति और धर्म, काशी १९६३, पृ० १९७।

२. डा० जगदाशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, १९६५, पृ० २२३।

३. उत्तराध्ययनसूत्र, २५.३३।

४. यथास्व स्वीकृतं कर्म प्रजादधुरसकरम्।

विवाहजातिसंबन्धव्यवहारश्च तत्तमम्॥

—महापुराण, १६.१८७।

५. मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।

वृत्तिभेदाहितद्वेदाच्चातुर्विध्यमिहाप्नुते॥

महापुराण, ३८.४५;

तुलनीय—चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

—गीता, ४.१३।

६. पद्मपुराण, ११.१९५-२०२।

७. न जातिर्गहिता काचिद्गुणाः कल्याणकारणम्।

व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

—पद्मपुराण, ११.२०३; महापु०, ७४.४८८-४९५;

तुलनीय—महाभारत, शान्तिपर्व, १८६.४-५।

वरांगचरित, २५.११।

८. पद्मपुराण, ११.२०४।

९. गणेश मुनि, 'प्रागैतिहासिक व्यवस्था का मूल रूप',

जिनवाणी, जयपुर १९६८, वर्ष २५, अंक १२, पृ. ६।

ब्रिका के आधार पर हुआ है।^१ यही कारण है कि जैन पुराणों में लोगों को अपनी-अपनी आजीविका सम्यक् ढंग से प्रतिपादित करने की व्यवस्था की गई है। यदि कोई ऐसा नहीं करता था तो उसे दण्ड देने की भी व्यवस्था की गई है, ताकि इससे वर्ण-संकरता को रोका जा सके।^२

जैनाचार्यों ने सभी को समानता के आधार पर रखा है। उन्होंने सभी के साथ समान न्याय की व्यवस्था की है। यही कारण है कि ब्राह्मणों को जो विशेषाधिकार मिला था, उसका पतन हुआ और समानता के आधार पर समाज का पुनर्गठन किया गया। यदि ब्राह्मण चोरी करते हुए पकड़ा जाता था तो उसे देश से निकाल देने की व्यवस्था की गई थी।^३

उस समय कन्याओं का जन्म माता-पिता के लिए अभिशाप था, परन्तु जैन पुराणों में सामाजिक समता के आधार पर उनको ऊपर उठाया गया है। इस कारण उन्होंने (जिनसेन ने) व्यवस्था की है कि कन्याओं का जन्म प्रीति का कारण होता है।^४ इसी प्रकार का विचार कालिदास ने भी व्यक्त किया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ कुमारसम्भव में कन्या को कुल का प्राण कहा है।^५ जैनाचार्यों ने पुत्र एवं पुत्री को समान माना है। इसीलिए पिता दोनों को समान रूप से पढ़ाते थे।^६ उस समय बिना भेद-भाव के लड़के और लड़कियाँ साथ-साथ अध्ययन किया करते थे।^७ जैनाचार्य जिनसेन ने लड़कों के समान लड़-

कियों को भी समस्त विद्याओं एवं कलाओं की शिक्षा देने की व्यवस्था की है।^८ जिनसेन ने पिता की सम्पत्ति में पुत्री को बराबर भाग का अधिकारी बताया है।^९

स्त्रियों को समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था और उनके साथ समता का व्यवहार होता था। स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार की आचार्यों ने कटु आलोचना की है।^{१०} इसीलिए स्त्रियों को भी पुरुष के समान स्वर्ग का अधिकार दिया है।^{११}

जैनाचार्यों ने परिवार में पति-पत्नी में परस्पर समानता के आधार पर सौहार्दता स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। जीवनरूपी नौका पति-पत्नी के सहयोग से चलती है। किसी को कम या अधिक समझने पर जीवन-नौका भँवर में पड़कर दुर्गति को प्राप्त होती है। इसीलिए हमारे मनीषियों ने दोनों में समानता स्थापित करने का प्रयास किया है। पद्मपुराण में कहा गया है कि स्त्री-पुरुष का जोड़ा साथ ही साथ उत्पन्न होता था और आयु व्यतीत करके प्रेम-बन्धन में आबद्ध रहते हुए साथ ही साथ मृत्यु को प्राप्त होता था।^{१२} एक और पत्नी को पति की अर्धांगिनी^{१३} कहा गया है, तो दूसरी और उसे पति का विश्वास-पात्र मंत्री, मित्र एवं प्रिय शिष्या बताया गया है।^{१४}

पत्नी के बिना घर को शून्य^{१५} एवं जंगल^{१६} बताया गया है। मनु ने तो यहाँ तक कहा डाला है कि जहाँ पर

१. महापुराण, ३८.४६; पद्मपुराण, ११.२०१; हरिवंश-पुराण, ७.१०३-१०५; तुलनीय—विष्णुपुराण, १.६.३-५; वायुपुराण, १.१६०-१६५।
२. हरिवंशपुराण, १४.७; महापुराण, १६.२४८।
३. महापुराण, ७०.१५५; तुलनीय—हरिवंशपुराण, २७.२३-४१।
४. महापुराण, ६.८३।
५. भगवत्शरण उपाध्याय, गुप्तकाल का सांस्कृतिक इतिहास, वाराणसी १९६९, पृ. २२१।
६. महापुराण, २६.११८।
७. पद्मपुराण, २६.५-६; तुलनीय—बृहदारण्यकोपनिषद्, ६.२.१; छान्दोग्योपनिषद्, ५.३।
८. महापुराण, १६.१०२।

९. पुरुषश्च सविभागाहोः सम पुत्रौ समाशर्कः।

—महापुराण, ३८.१५४; तुलनीय—आवश्यकचूर्ण, २३२; उत्तराध्ययनसूत्र २, पृ. ८९।

१०. हरिवंशपुराण, १६.१६; पद्मपुराण, १५.१७३।

११. पद्मपुराण, ८०.१४७; महापुराण, १७.१६९।

१२. युगममुत्पद्यते तत्र पत्न्यानां त्रयमायुषा।

प्रेमबन्धनबद्धश्च म्रियते युगलं समम् ॥

—पद्मपुराण, ३.५१।

१३. तैत्तिरीयसंहिता, ६.१.८.५; ऐतरेयब्राह्मण, १.२.५;

शतपथब्राह्मण, ५.२.१.१०।

१४. गृहिणी सचिवः सखी मित्रः प्रिय शिष्या ललिते कला-कलाविधौ।—रघुवंश, ८.८७।

१५. महाभारत, १२.१४४.४। १६. वही १२.१४४.६।

स्त्रियों की पूजा होती है वहाँ पर देवता निवास करते हैं।^१ इसलिए महापुराण में कहा गया है कि पति-पत्नी से सुशोभित होता है।^२

जैनाचार्यों ने वेश्याओं को सामाजिक धारा से जोड़ने का प्रयास किया है। समाज में वेश्याओं को हीन दृष्टि से देखा जाता था, परन्तु समाज में सुधार करके उन्होंने इनकी स्थिति में परिवर्तन किया। इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप वसन्तसेना नामक वेश्या ने अपना पेशा छोड़कर विवाह किया और अपनी माँ के घर से पति के यहाँ आकर अपनी सास की सेवा करते हुए ग्रन्थों का पालन करने लगी।^३ वेश्याएँ विवाह करके गृहस्थी बसाने लगी और सामाजिक धारा में योगदान देने लगीं। वेश्याओं के साथ विवाह करने पर किसी को समाज से बहिष्कृत नहीं किया जाता था। इससे यह ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों ने वेश्याओं की स्थिति सुधारने और उन्हें समाज में सम्मानजनक स्थान दिलाने तथा उनके साथ विवाह करने को प्रोत्साहन दिया। जिस प्रकार आज कल हरिजन कन्या के साथ विवाह करने पर सरकार की ओर से विभिन्न प्रकार का प्रोत्साहन दिया जाता है, सम्भवतः उस समय भी वेश्याओं के साथ विवाह करने पर इसी तरह का कोई प्रोत्साहन दिया जाता रहा होगा।

जैनाचार्यों ने समाज में आर्थिक असमानता को दूर करने के लिए समानता स्थापित करने का प्रयास किया है। जैन पुराणों के अनुशीलन में यह तथ्य प्रकाश में आता है कि उस समय सभी को न्यायपूर्वक आजीविका करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता था। जिनसेनाचार्य ने कहा है कि इस ससार में मनुष्य की इच्छायें अनन्त हैं

और उन इच्छाओं की पूर्ति के साधन अत्यल्प हैं। अतएव समस्त इच्छाओं की पूर्ति होना असम्भव है। इसलिए अत्यन्त आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति करके ही सन्तोष करना चाहिए। अतः विवेक एवं न्यायपूर्वक चयन किये गये धन से इच्छापूर्ति करनी चाहिए।^४ जैनाचार्यों ने कहा है कि यदि कोई मनुष्य अपनी इच्छापूर्ति अन्याय-मार्ग का आश्रय लेकर करता है तो उसे महान् कष्ट उठाना पड़ता है। अतएव न्यायपूर्वक धनार्जन करना ही जीवन को सुखी एवं सन्तुष्ट बनाने का एकमात्र मार्ग है।^५ कामनाओं की पूर्ति का साधन अर्थ है और अर्थ धर्म से मिलता है। इसलिए धर्मोचित अर्थ-अर्जन से इच्छा-नुसार सुख की प्राप्ति होती है तथा इससे मनुष्य प्रसन्न रहते हैं।^६ अतएव धर्म का उल्लंघन न कर धन कमाना, उसकी रक्षा करना तथा योग्य पात्र को देना ही मुख्य लक्ष्य होना चाहिए।^७

जैनाचार्य जिनसेन ने समाज में वर्ग-संघर्ष को रोकने के लिए श्रम का विभाजन किया है।^८ उन्होंने ऐसी व्यवस्था की थी कि सभी अपने-अपने पेशे में लगकर कुशलता का परिचय दें और कार्य में निपुणता लाकर देश को आगे बढ़ावे। इसीलिए महापुराण में एक दूसरे की आजीविका में हस्तक्षेप का निषेध किया गया है।^९

अतः हम देखते हैं कि जैनाचार्यों ने जैन पुराणों के माध्यम से समाज के विभिन्न क्षेत्रों में समता स्थापित करने का प्रयास किया है। समाज से विशेषाधिकारों एवं असमानताओं को दूर करके समन्वय की धारा प्रवाहित की है।

□ □ □

१. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

तत्रोतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥

— मनुस्मृति, ३.५६;

तुलनीय—जायसो यत्र पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

यत्र तास्तु पूज्यन्ते विनश्यत्वाक्षुतद्गृहम् ॥

— भविष्यपुराण, ४.११७.४।

२. महापुराण, ६.५६। ३. हरिवंशपुराण, २१.१७६।

४. न्यायोपाजितवित्तकामघटनः...

— महापुराण, ४१.१५८।

५. ...वृत्तिश्च न्यायो लोकोत्तरो मतः।

— महापुराण, ४२.१४;

तुलनीय—गृहपुराण, १.२०५.६८।

६. धर्मादिष्टार्थसम्पत्तिस्ततः कामसुखोदयः।

स च संप्रीतये पुंसां धर्मात् सैषा परम्परा ॥

— महापुराण, ५.१५।

७. स तु न्यायोऽनतिश्रान्त्या धर्मस्यार्थसमर्जनम्।

रक्षणं वर्धनं चास्य पात्रे च विनियोजनम् ॥

— महापुराण, ४२.१३।

८. महापुराण, २६.२६।

९. वही, १६. १८७।

स्वाध्याय परम तप है

□ श्रीमती रूपवती 'किरण', जबलपुर

समता की निर्मल गंगा :

आज के युग में कल्पवृक्ष की भांति विज्ञान के बढ़ते हुए चरण भव को सतापकारी तृष्णा के अधाह मागर में डुबा चुके हैं। आर्त मानव व्याकुलता से प्रतीक्षा रत है उन उपायों के लिए, जो मानव के उद्वेग को शांत कर तृप्ति दे सकें। उसे निश्चय ही गया है कि शारीरिक सुख उसे तृप्त करने में सर्वथा अममर्थ है। मानव सामग्री के विस्तृत मरुस्थल में मानसिक अशांति से तप्त राग-द्वेष की आंच में चने की भांति भुनता हुआ छटपटा रहा है, समता के सीकरों के लिए जो तत्काल शांति प्रदान कर सकते हैं। उसे यह ज्ञात नहीं कि समता की निर्मल गंगा की प्रज्वलित धारा उसी के अंतस् में प्रवाहित है। उस पवित्र तृषाहारिणी सरिता का उदगम वह स्वयं है और वह पिपासित हो यत्र-तत्र भटक रहा है। यह कंसा आश्चर्य है कि जिसके गर्भ में अनंत औषधियां पल रही हों, वही हिमांचल रुण रहे? मानव को अपनी विशाल निधि की खोज करना है। भयंकर दरिद्रता से मुक्ति पाना है तो सतर्क हो स्वाध्याय करना होगा, सतत स्वाध्याय। स्वाध्याय ही वह सुगम उपाय है जो आत्मा के गुप्त अबूझे भंडार के रहस्यों को खोल कर समस्त आवि-व्याधि-उपाधि को हरण कर लेता है। इसके प्रभाव से संसार में होने वाला आनुषंगिक फल ऋद्धि-सिद्धियां अनियंत्रित आचरणों में लोटती हैं।

'स्व' में केन्द्रीभूत हों :

स्वाध्याय जीवन का आवश्यक अंग है। इसके बिना मनुष्य पशु के सदृश है, बल्कि पशु कहकर भी पशु का अपमान करना है। स्वाध्याय करते समय मन की क्रिया के अनुरूप वचन व शरीर की क्रिया भी होती है, अर्थात् तीनों का समन्वय भी हो जाता है। कदाचित् तीनों में

विभिन्नता हो तो पढ़कर भी बुद्धिमय नहीं होता, मनन-चितन तो असंभव ही है। अध्ययन में अतिरिक्त विकल्प नहीं रह सकते। एकाग्रता से मन-वचन-काय पर नियंत्रण अनायास ही हो जाता है। अन्य पदार्थों से समता की डोर टूट जाती है। चेतना, जो अब तक आकर्षणों में बह रही थी, अपने में लीट आती है। आत्मा का 'स्व' में केन्द्रीभूत हो विराम लेना आत्मविशुद्धि का कारण है। जैन दर्शन का केन्द्र आत्मा ही है। आत्मा का लक्ष्य स्वस्थित होना है। स्वाध्याय से 'स्व' के प्रति चिन्ता बढ़ती है, जो आत्मा की खोज करके ही शांत होती है एवं पा जाने पर अभूतपूर्व तृप्ति मिलती है।

मोह-ममता के गहन अवकार में भटकता प्राणी आत्मिक शांति को विस्मृत कर अपना प्रतिक्षण हास कर रहा है। स्वाध्याय ज्ञान-किरणों के द्वारा आलोक-दान करता है, ताकि व्यक्ति अपनी सामर्थ्य से परिचित हो आत्म शक्ति को पूर्णतः विकसित करने की क्षमता प्राप्त कर सके।

स्वाध्याय क्यों ?

स्वाध्याय क्यों ? और किसका ? साधारणतः स्वाध्याय पढ़ने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अक्षरात्मक ज्ञान तो प्रत्येक व्यक्ति को करना आवश्यक है। इसके बिना विशद् ग्रंथों का पारायण नहीं किया जा सकता। विश्व में अनेक विषय हैं। किसी भी विषय की गहन अध्ययन के बिना धारणा नहीं होती। यह भी सम्भव नहीं कि एक व्यक्ति समस्त विषयों का अध्ययन कर पारंगत हो सके। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ही व्यक्ति विषयों का अध्ययन-मनन करता है। कोई भी कार्य किसी विशेष उद्देश्य को लेकर किया जाता है। सुख-प्राप्ति का उद्देश्य संसार के समस्त प्राणियों का सदृश है। अनेक प्रकार से

अध्ययन-शील रहने पर भी प्राणी को अभीष्ट की प्राप्ति नहीं हुई।

आत्मा अनंत गुणों का भंडार है। ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण या लक्षण है। इसके द्वारा ही आत्मा को ग्रहण किया जा सकता है तथा अन्य गुण भी ज्ञान के द्वारा ग्रहण होते हैं। ज्ञान चराचर समस्त ज्ञेय का विषय बनाता है।

ज्ञान अज्ञान में अंतर :

प्रयोजन सिद्धि के लिए ज्ञान-अज्ञान की परिभाषा भली भाँति विदिन हो जाना उचित है। जो प्रयोजन को सिद्ध करे वह ज्ञान, शेष सब अज्ञान है। ज्ञान का पारंपरिक फल निर्मल केवल-ज्ञान की प्राप्ति है। जहाँ ज्ञान में कुछ भी मिश्रण नहीं, केवल ज्ञान ही ज्ञान है। यह सुनिश्चित है कि ज्ञान के साथ अन्य लौकिक सदा अनुषंग रूप से होती ही है, परन्तु ज्ञानी को अन्तःप्राप्ति के सुख के समक्ष धन-संपत्ति वृणवत् तुच्छ प्रतिभासित होती है।

यू तो ज्ञान के अभाव में अज्ञानों को भी विशेष सपदा, ऋद्धि-सिद्धि आदि उपलब्ध हो जाती है, पर शाश्वत आनंद की प्राप्ति नहीं होती। समय पाकर सामग्री विनष्ट हो जाती है, क्योंकि क्षण-भंगुरता उसका स्वभाव है। यदि ज्ञान के सद्भाव में भी मात्र वैभव प्राप्त हो तो ज्ञान-अज्ञान में अंतर ही क्या रहा? ज्ञान का विशिष्ट या अतिरिक्त फल शाश्वत मुक्ति की उपलब्धि है।

अज्ञानी ज्ञान से वैभव आदि फल की अभिलाषा रखते हैं। असृष्ट से विष-प्राप्ति की इच्छा करते हैं। सत् में असत् को खोजते हैं। अज्ञान सपने की भाँति विषैला है। इसके दर्शन से कषायों की ऐंठन होती है। दंशित प्राणी निविष होने के लिए संसार-रूपी कच्चे कूप का जल पीने का उपक्रम करते हैं। परन्तु विषय भोगों की अनवरत वर्षा से वृष्णा के दलदल में फिमल-फिसल कर गिर जाते हैं। अज्ञानी का सारा पुरुषार्थ पदार्थाश्रित रहता है, जब कि ज्ञानी का पुरुषार्थ आत्मस्थित होने के लिए होता है।

कषाय अज्ञान में पनपती है। विवेकपूर्वक ज्ञान की

क्रिया व वैराग्य से स्वग्रहण होता है। अन्य पदार्थ के ग्रहण की वृत्ति छूट जाती है। अतएव कषाय निराश्रित हो क्रमशः कृश होती जाती है और आत्मा की स्वच्छता निखरने लगती है।

स्वाध्याय से आत्मगुणों की अभिवृद्धि :

ज्ञान में ज्ञान की स्थिरता हेतु स्वाध्याय विशेष आवश्यक है। स्वाध्याय के क्षणों में व्यक्ति अनेक चिन्ताओं से उन्मुक्त हो जाता है। दत्तचित्त हुए बिना स्वाध्याय नहीं हो सकता। इससे 'स्व' अध्ययन की प्रेरणा, मार्गदर्शन मिलता है। आत्म-निरीक्षण की वृत्ति, अनुसंधान कर गुणों को अभिवृद्धि एवं दोषों का परिमार्जन करती हुई प्रगति पथ पर चल पड़ती है। युगों-युगों से चली आ रही भूलों का उन्मूलन कर आत्मविशुद्धि कर कल्याण किया जा सकता है। आत्मकल्याण में सलग्न व्यक्ति अन्य प्राणियों के कल्याण में भी पूर्णतः सतर्क रहता है, अर्थात् बाधक नहीं बनता। उसके विचारों में सरलता, सहिष्णुता आ जाती है तथा आचरण सात्विक-सीमित कर वह आत्म-गुणों की समृद्धि में रत रहता है।

कला 'स्व' में विराम लेने की :

ज्ञान ज्योति प्रत्येक आत्मा में सदैव दीप्त है, जिसके द्वारा विश्व के पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं। निरंतर स्वाध्याय कर स्वयं को भी प्रकाशित किया जा सकता है। ज्ञान ज्योति उदीप्त हो सकती है। आकर्षण-विकर्षणों से हटकर अपने में संयत रहना अत्यंत कठिन कार्य है। स्वाध्याय के बल पर 'स्व' में विश्राम करने का अभ्यास हो सकता है।

चेतना 'स्व' के प्रति समर्पित हो :

प्रथम तो हमें यही ज्ञात नहीं कि शरीर के पार भी कोई इससे बिलक्षण वस्तु है। कदाचित् आत्मा नामक वस्तु का अस्तित्व मान भी लिया तो उसकी ओर की अभिरुचि जागी नहीं। समस्त परिचय शरीर व शरीर सम्बन्धी अन्य पदार्थों से ही रहा है। जो वस्तु आज तक प्रत्यक्ष परिचय में नहीं आई, मन का मोड़ उस ओर होता नहीं। यद्यपि उसका अनुभव हमें प्रतिक्षण हो रहा है,

तथापि हम उस पर ध्यान नहीं देते। ध्यान दिये बिना समीप में रखी वस्तु भी दूर हो जाती है। जब तक हम अपने प्रति पूर्णतः समर्पित न हों, तब तक आनन्दानुभूति असंभव है।

उपलब्धियों का सदुपयोग अनिवार्य :

यह प्राकृतिक नियम है कि प्राप्त वस्तु का दुरुपयोग किया जावे तो कालांतर में वह वस्तु अप्राप्य हो जाती है। ज्ञानार्जन की अनुकूलता वर्तमान में प्राप्त है, उसका समुचित लाभ नहीं लिया तो ज्ञान-प्राप्ति दुर्लभ हो जायगी। द्रव्यश्रुत ही भावश्रुत में निमित्त कारण है।

स्वाध्याय का महत्त्व :

स्वाध्याय की अचिन्त्य महिमा है। इसके आनुषंगिक फल, ऋद्धि-सिद्धि बिना प्रयत्न स्वयमेव मिलते हैं। श्रमण संस्कृति में गृहस्थ व साधु दोनों के आवश्यक षट्कर्मों में स्वाध्याय भी अनिवार्य कर्म है। चलन मन की गति अवरुद्ध करने के लिए ध्यान के पश्चात् स्वाध्याय ही ऐसा महत्वपूर्ण कार्य है, जहाँ विभिन्नता समाप्त हो मन, वाणी, कर्म समन्वित हो जाते हैं। संयम की आच में आत्मा को तपाये बिना उसे स्वभाव के अनुकूल नहीं ढाला जा सकता है।

स्वाध्याय परम तप है :

चैतन्य आत्मा जिससे अपने में चैतन्य हो उठे, अर्थात् ज्ञान के प्रकाश से जगमगा उठे, वह तप है। तप के बाह्य और अर्भ्यंतर दो भेद रूप हैं। दोनों प्रकार के तप आत्मा का अनुसरण करते हैं। जन्म-मरण के असाध्य रोग से छुटकारा पाना हो तो तप को अंगीकार करना ही होगा। तप से कर्म-शृंखला टूट-टूटकर बिखरने लगती है। स्वाध्याय परम तप है। द्रव्यश्रुतका अध्ययन स्वाध्याय नामक बाह्यतम व 'स्व' अध्ययन कर भावश्रुत (आत्मा) की अनुभूति अंतरंग तप है। इससे सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान सम्यक्-चारित्र्य की उपलब्धि होती है। स्वाध्याय कर आत्मशुद्धि का सतत प्रयास होना कार्यकारी है। यदि आत्म-विशुद्धि न हुई तो स्वाध्याय का क्या मूल्य ?

स्वाध्याय के प्रकार :

स्वाध्याय मुख्यतः पाँच प्रकार है—तत्त्वार्थसूत्र में सूत्र है 'वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाभ्यां धर्मोपदेशः।' यथा—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आभ्यास, धर्मोपदेश।

वाचना—वीतराग मार्ग पर अग्रसर होने में जो ग्रंथ सहायक हो उनका पठन-पाठन करना वाचना है।

पृच्छना—शका समाधान के अर्थ विशेष ज्ञानियों से विनयपूर्वक प्रश्न करना पृच्छना है।

अनुप्रेक्षा—अध्ययन से ज्ञात किये पदार्थों का बारंबार चिंतन करना अनुप्रेक्षा है। आत्मा जगत् के क्षणजीवी पदार्थों से विरत हो आत्मगुणों में अनुरक्त होता है। हृदय वीतरागता से एकरस हो जाता है।

आभ्यास—निर्दोष उच्चारण कर पाठ को रटना तथा उस परिपाटी पर चलना आभ्यास है।

धर्मोपदेश—मोक्षमार्गी धर्म का उपदेश देना धर्मोपदेश है।

ये पाँचो स्वाध्याय के अंग हैं, ज्ञानवर्धन में कारण हैं। यथार्थतः स्व-अध्ययन करना अथवा 'स्व' में तन्मयता स्वाध्याय की अद्वितीय कला का फल है। वक्ता-श्रोता दोनों ज्ञानार्जन के पवित्र अभिप्राय हेतु स्वाध्याय करें-करावे। यदि श्रोता कुतर्क करे या वक्ता के अपमान का अभिप्राय रखकर प्रश्न करे तो ज्ञान की अभिवृद्धि का पावन उद्देश्य नष्ट हो जाता है, एवं वक्ता अपन सम्मान, यश आदि के लालच से प्रवचन या धर्मोपदेश करे तो वह प्राप्य ज्ञान का सदुपयोग न कर अपनी महान् क्षति कर रहा है। अतः सरलचित्त हो समता भाव से स्वाध्याय कर ज्ञानवर्धन तथा तदनुकूल ज्ञानाचरण करना योग्य है।

ज्ञान की उपादेयता :

ज्ञान उपादेय है, क्योंकि वह सत्त्व, निर्जरा, मोक्ष का कारण है। संसार में श्रमण कराने वाले आसन्न बंधरूप अज्ञान का तथा उसे समाप्त करने का उपाय ज्ञान से ही विदित होता है। स्वाध्याय-भेद विज्ञान का जनक है। ज्ञान आत्म स्वभाव होने से प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान प्राप्ति का इच्छुक रहता है। यह बात अलग है कि अविवेक के (शेष पृ० १२७ पर)

चन्द्रावती की जैन प्रतिमाएं : एक परिचयात्मक सर्वेक्षण

□ श्री विनोद राय

भारतीय कला के क्षेत्र में जैन साहित्य व कला का प्रमुख स्थान है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जैन यति व विद्वान् प्रारम्भ से ही भारतीय कला व संस्कृति को पाषाणों, चित्रकला व साहित्य में भूर्त रूप दे कर परिष्कृत समाज की रचना में अभूतपूर्व योगदान किये हैं। भारत के प्रत्येक क्षेत्र, ग्राम, तहसील व जिलेवार सर्वेक्षण की आवश्यकता है जिससे कि जैन संस्कृति व कला के अज्ञात मार्गों में समा रहे नवीनतम स्रोतों—शिलालेख, ताम्रपत्र, साहित्य का पता लगाया जा सके। इससे न केवल जैन कला, साहित्य व संस्कृति को ही जीवन प्राप्त होगा बल्कि भारतीय कला व साहित्य के इतिहास में भी नवीन आयाम जुड़ेंगे। यद्यपि राजस्थान सरकार अपने विशेष प्रयासों से इस दिशा में किये जा रहे कार्यों को प्रोत्साहन दे रही हैं तथा राजस्थान के प्रत्येक संग्रहालय में महावीर कक्ष की स्थापना की गई है, लेकिन फिर भी इस प्रकार के सांस्कृतिक इतिहास व पुरातत्त्व से सम्बन्धित कार्यों के सर्वेक्षण हेतु एक विशेष प्रकोष्ठ की स्थापना की जानी चाहिए और इस हेतु एक मण्डल की स्थापना होनी चाहिए तथा एक निश्चित घनराशि की भी व्यवस्था की जानी चाहिए। इससे शोधार्थी प्रोत्साहित होंगे और शोध के क्षेत्र में नये-नये अध्याय जुड़ते रहेंगे। विश्व के कला इतिहास में जैन वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला एवं साहित्य का प्रमुख स्थान है।

लेखक ई० सन् १९६८ से १९७२ तक राजकीय संग्रहालय, माउण्ट आबू में कार्यरत रहा। आबू रोड रेलवे स्टेशन से ६ कि.मी. दूर आबू रोड-अहमदाबाद रेलवे लाइन पर स्थित जिला सिरोही, तहसील आबू रोड में चन्द्रावती नामक प्राचीन ग्राम है जिसके खण्डहर आज भी विद्यमान है। खण्डहरों में स्थित प्रतिमाओं की सूची बनाने का सोभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है; अधिकांश प्रतिमाओं के

फोटोग्राफ एवं उन पर क्रमांक डालने का कार्य राजस्थान पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग, जयपुर द्वारा पूर्ण हो चुका है। यहाँ पर शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन प्रतिमाएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हुई हैं। अभी और उत्खनन की आवश्यकता है जिससे अनेक खण्डहरों में दबी हुई प्रतिमाएँ अज्ञान भूगर्भ से बाहर आवेंगी जो जैन वास्तुकला, मूर्तिकला के अभूतपूर्व नमूने होंगे। जैन ग्रंथ 'तीर्थमाला' के अनुसार यहाँ पर १८०० जैन मन्दिर थे। चन्द्रावती के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों ने बहुत ही शोधपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री का संकलन व सम्पादन किया है जिसमें कर्नल टाड, गौरीशंकर हीराचन्द्र श्रोभा, एच० पी० शास्त्री, यू० पी० शाह, दशरथ शर्मा, ठाकुर भगत सिंह, श्री विजय शंकर श्रीवास्तव इत्यादि के नाम प्रमुख हैं। यहाँ पर कतिपय जैन प्रतिमाओं का परिचय उदाहरणार्थ दिया जा रहा है। आशा है कि शोध विद्यार्थी इस ओर विशेष ध्यान देंगे। ये प्रतिमाएँ मध्य काल की हैं।

१. पंजीयन क्रमांक सी-६ जैन चतुर्विंशति तीर्थंकर—इस प्रतिमा में चौबीस तीर्थंकरों को उत्कीर्ण किया गया है। यह ११वीं-१२वीं शताब्दी की है। सफेद संगमरमर से निर्मित इस प्रतिमा का साइज २४ इंच × १५ इंच है।

२. पंजीयन क्रमांक सी-७६, मस्तक विहीन जैन तीर्थंकर प्रतिमा—इसके वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न विद्यमान है। इसकी पहचान शीतलनाथ से की जाती है। यह सफेद संगमरमर की है। इसका साइज २२ इंच × २४ इंच है। निगेटिव नम्बर ४९७२ (पी-२)।

३. पंजीयन क्रमांक सी-७८, जैन प्रतिमा का सिंहासन—सिंहासन पर सिंह व गज अंकित है। इस पर ११वीं-१२वीं शताब्दी का देवनागरी लिपि में लेख भी उत्कीर्ण है। इसका साइज १६ इंच × १३ इंच है। निगेटिव नम्बर ४९७० (पी २)।

४. पंजीयन क्रमांक सी-११६, जैन प्रतिमा का सिंहासन—इसके निचले भाग में गज-सिंह अंकित हैं। मध्य में शतदल कमल व वृषभ अंकित हैं। यह सफेद सगमरमर की है। इसका साइज १० इंच × २४ इंच है। निगेटिव नम्बर बी ५६६ (पी १०)।

५. पंजीयन क्रमांक सी-१२०, जैन प्रतिमा का सिंहासन—इस पर भी गज-सिंह अंकित है। इसके मध्य में आसनस्थ देवी प्रतिमा है जिसके नीचे शतदल कमल अंकित है। यह सफेद सगमरमर की है और इसका साइज

१० इंच × २४ इंच है। निगेटिव नम्बर बी ६०० (पी १०)।

६. पंजीयन क्रमांक सी-१४५, आसनस्थ जैन तीर्थंकर—चतुर्भुजी यह प्रतिमा खंडित अवस्था में है। यह सलेटी पत्थर की है। इसका साइज ३० इंच × १६ इंच है। निगेटिव नम्बर ए बी बी ६१६ (पी १२)।

७. पंजीयन क्रमांक सी-१७६, जैन प्रतिमा का परिकर—यह सलेटी पत्थर की है। इसका साइज २१ इंच × २५ इंच है। निगेटिव नम्बर बी ६३६ (पी १४)।



(पृष्ठ १२५ का शेषांश)

संस्कारों से युक्त विषयानुरक्त प्राणी निष्प्रयोजन अध्ययन में निरत रहता है। आत्मानुरागी यथार्थ दिशा में गतिशील होता है तो वही ज्ञान सम्यग्ज्ञान बन व्यक्ति का अवलंबन दे भव पार करा देता है। ज्ञान दुख से निवृत्ति करा सुख सागर में अवगाहन कराता है।

रूढ़िवाद, अधविश्वासों के घेरे से निकल, विज्ञान के चमत्कारों पर मुग्ध न हो, सम्यग्ज्ञान के द्वारा स्व पर कल्याण की सद्भावना जन-जन के मन में जग जाये तो युद्ध की गति अवरुद्ध की जा सकती है।

कृपया ध्यान दें :

जैन समाज अपनी आने वाली नई पीढ़ी पर ध्यान दे, जो उसकी उत्तराधिकारिणी है, उत्तरोत्तर आचार-विचार हीन होती जा रही है। समाज मन्दिरों के नव-निर्माण को रोक, ज्ञान की उपासना हेतु ज्ञान मन्दिरों का निर्माण करे। वहां ज्ञान-दान की सुन्दर व्यवस्था हो। अल्प-वयस्क बालकों से लेकर समाज का प्रत्येक व्यक्ति उनमें अध्ययन कर सके। ज्ञान कल्याणकारक है। अतः ज्ञान का

विकास होना चाहिए। सम्यग्ज्ञान होने पर सामग्री के सान्निध्य में ज्ञानी उन्मत्त नहीं होता एवं अनेक सांसारिक अभावों के होते हुए भी वह परम शांति का अनुभव करता है। इसका एक ही कारण है वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान। जिमने स्वद्रव्य, अपनी आत्मा व अन्य चेतन-अचेतन रूप पर द्रव्य के स्वरूप को ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष कर लिया है वह शाश्वत को छोड़ अशाश्वत को ग्रहण करने की अभिलाषा क्यों करेगा? और जब इच्छा ही नहीं होगी तो व्याकुलता का फिर कौन-सा कारण है? व्यग्रता का अभाव हो तो आनंद है। जहां आनंद है वहां शांति है।

मन को झिझोड़ने वाला अज्ञान चैन नहीं लेने देता। अज्ञान दूर हो एव घट-घट में ज्ञान ज्योति प्रदीप्त होकर जगमगाये। सद्ज्ञान के अभाव में व्यक्ति ठूठ के सदृश है जो फल-फूल-पत्रादि के अभाव में कोरा ही रह जाता है। यदि हम नई पीढ़ी को ज्ञान की हरियाली न दे सके तो समाज में जैनदर्शन के विद्वान् शून्यवत् रह जायेंगे। व्यक्ति को अध्यात्मिक ज्ञान की नितात आवश्यकता है, अतः स्वाध्याय अनिवार्य है। □ □ □

मोक्ष का मार्ग

रत्नत्रयं न बहूः अप्याणं मृत्युं अणदवियन्मि ।

तन्हा तत्तियमइयो होबि ह मोक्खस्स कारणं आवा ॥

—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती

रत्नत्रय आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में नहीं होता है, इसलिए उस रत्नत्रय सहित आत्मा ही निश्चय से मोक्ष का मार्ग है।

कलचुरिकालीन जैन शिल्प-सम्पदा

□ डॉ० शिवकुमार नामदेव

राजनीतिक दृष्टिकोण से प्राचीन भारतीय इतिहास में कलचुरि नरेशों का वैशिष्ट्यपूर्ण स्थान है। छठी शती ई० से लेकर अठारहवीं शती ई० तक इन नरेशों ने भारत के उत्तर अथवा दक्षिण किसी न किसी भू-भाग पर शासन किया। भारतीय इतिहास के अतीत को गौरवयुक्त बनाने में इन नरेशों ने महत्वपूर्ण योगदान किया है। इस काल की हिन्दू, बौद्ध एवं जैन देवी-देवताओं तथा सुर-मुन्दरियों की मूर्तियाँ कलापूर्ण हैं।

यद्यपि अधिकांश कलचुरि शासक शैव मतानुयायी थे, परन्तु उन्होंने एक आदर्श हिन्दू नृपति की भाँति धार्मिक स्वतंत्रता की नीति का अनुगमन किया। उनके उदार एवं लोकमुखी दृष्टिकोण से राज्य में हिन्दू, बौद्ध एवं जैन धर्म स्वतंत्र रूप में पल्लवित हुए। यही कारण है कि जहाँ कलचुरि नरेशों द्वारा संरक्षित धर्म की मूर्तियाँ एवं देवालय प्राप्त होते हैं वहाँ जैनधर्म की प्रतिमाओं का भी बाहुल्य है।

विवेच्य युगीन जैन शिल्पकला से सम्बन्धित सुन्दर एवं भावयुक्त मूर्तियाँ मध्यप्रदेश के जबलपुर, विलासपुर, रायपुर, रीवा, शहडोल आदि जिलों से उपलब्ध हुई हैं। ये प्रतिमाएँ इस बात की साक्षी हैं कि विवेच्य काल में इन भूभागों पर जैनधर्म का व्यापक प्रभाव था।

कलचुरिकालीन जैन प्रतिमाओं को हम प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन के दृष्टिकोण से चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) तीर्थंकर प्रतिमाएँ, (२) शासनदेवियाँ, (३) श्रुत देवियाँ, (४) अन्य चित्रण।

तीर्थंकर प्रतिमाएँ

कलचुरि काल की उपलब्ध तीर्थंकर प्रतिमाएँ आसन एवं स्थानक दोनों मुद्राओं में हैं। तीर्थंकरों की स्वतन्त्र प्रतिमाओं के प्रतिरिक्त द्वितीयक प्रतिमाएँ भी मिली हैं।

आसन मूर्तियाँ—तीर्थंकरों की आसन प्रतिमाओं में आदिनाथ, चन्द्रप्रभ, शातिनाथ एवं महावीर की ही प्रति-

माएँ मिली हैं। इनमें आदिनाथ की प्रतिमाएँ सर्वाधिक हैं। ये कारीतलाई, तेवर, मल्लार, रतनपुर आदि से प्राप्त हुई हैं।

आदिनाथ की ६ ½ फुट ऊँची एक प्रतिमा कारीतलाई से प्राप्त हुई है। यह १०-११वीं सदी ई० की है। इसे एक उच्च चौकी पर पद्मासन में ध्यानस्थ अवस्था में दिखाया गया है। दुर्भाग्य से इस प्रतिमा का मस्तक, दक्षिण हस्त एवं बायाँ घुटना खंडित हैं। हृदय पर श्रीवत्स का प्रतीक एवं मस्तक के पीछे प्रभावमण्डल है। प्रभावमण्डल के ऊपर एक सुन्दर त्रिछत्र है। उसके दोनों पार्श्वों में एक-एक महावतयुक्त हस्ति उत्कीर्ण है। छत्र के ऊपर दुन्दुभिक एवं हस्तिपों के नीचे गुगल विद्याधर हैं, जो नभमार्ग से पुष्पवृष्टि कर रहे हैं। विद्याधरों के नीचे दोनों पार्श्वों में भगवान् के परिचारक सौधर्मन्द्र एवं ईशानेन्द्र हाथों में चँवर लिये खड़े हैं।

प्रतिमा की अलंकृत चौकी पर भगवान् ऋषभनाथ का लालन वृषभ चित्रित है। वृषभ के नीचे श्रीर चौकी के ठीक मध्य में धर्मचक्र तथा उसके दोनों श्रीर एक-एक सिंह हैं। सिंहासन के दाहिने पार्श्व में शासनदेव गोमुख एवं वाम पार्श्व में शासनदेवी चक्रेश्वरी ललितासन मुद्रा में हैं।

इसी स्थल से प्राप्त ऋषभनाथ की अन्य प्रतिमाएँ उपरिवर्णित प्रतिमा की ही भाँति हैं। एक प्रतिमा ३ फुट ६ इंच ऊँची है और उसके सिंहासन पर सिंहों के जोड़े के साथ हस्तिपों का भी एक जोड़ा प्रदर्शित किया गया है। कारीतलाई की ऋषभनाथ की ये प्रतिमाएँ श्वेत बलुये प्रस्तर की हैं।

जबलपुर के हनुमानताल के किनारे स्थित दिगम्बर जैन मंदिर में ऋषभदेव की एक अतीव सुन्दर प्रतिमा सुरक्षित है। यह मूर्ति त्रिपुरी से लाई गई है। आदिनाथ की यह प्रतिमा पद्मासनस्थ है। यह परिकर युक्त है तथा इसकी प्रभावमण्डल की रेखाएँ अति सूक्ष्म हैं। प्रभावमण्डल

के मध्य में छत्र-दण्ड है। छत्र-दण्ड के ऊपर वतुलाकार त्रिल्लत्र है जो लगभग २ फुट ८ इंच ऊँचा है। इसके ऊर्ध्व भाग में वैभव के प्रतीक दो हस्ती अभिषेक करते हुए दिखाये गये हैं। हस्तियों के शूर्वाकर्ण के उठे हुए भाग, उनके गाल की खिची हुई रेखाएँ एवं चक्षु के ऊपर का खिचाव कला की उच्चता के द्योतक हैं। परिकर पर हस्ति पद्म पर आधृत है। छत्र के नीचे दोनों पार्श्वों में यक्ष एवं चार अम्सराएँ गगन-विहार करती हुई अंकित हैं। पुष्पधारी गधवों का अंकन भी सुन्दर है। परिचारक के नीचे दोनों पार्श्वों में नारियो की खड़ी मूर्तियाँ हैं जिनके अंग-प्रत्यंग आभूषणों से अलंकृत हैं।

कलचुरिकालीन सपरिकर पद्मासनस्थ जिन प्रतिमाओं में यह योग्य है। शिल्प की दृष्टि से इतना सुन्दर और उत्कृष्ट परिकर अन्यत्र दुर्लभ है। अष्टप्रतिहार्य, यक्ष-यक्षिणी, उपासक दर्पण एवं नवग्रहों जैंगे जैनकला में गाधारणन पाये जाने वाले तत्त्वों के साथ-साथ मूर्तिकार ने इसमें कुछ अजैन तत्त्वों का भी समावेश किया है।

द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ की प्रतिमाएँ गीवाँ एवं सिंहपुर (शहडोल) से उपलब्ध हुई हैं। इनमें तीर्थंकर को ध्यानमुद्रा में दिखाया गया है। मस्तक के पीछे प्रभा-मण्डल एवं त्रिशक्ति का प्रतीक (इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया) त्रिल्लत्र है। आसन के नीचे पादपीठ पर उनका लालन हस्ति तथा यज्ञ-यक्षी (महायज्ञ एवं रोहिणी) अंकित हैं।

आठवे तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की प्रतिमा रतनपुर से उपलब्ध हुई है। यह भी ध्यानमुद्रा में है। मस्तक के पीछे आभामण्डल एवं त्रिल्लत्र है। त्रिल्लत्र के ऊपर दुर्दुभिक अंकित है। छत्र के दोनों पार्श्वों में एरावत हस्ति तथा हस्ति के नीचे पुष्पमालाएँ लिये विद्याधर अंकित हैं। तीर्थंकर के दक्षिण पार्श्व में सौधर्मन्द्र एवं वाम पार्श्व में ईशानेन्द्र हैं। कीर्तिमुख युक्त पादपीठ पर उनका लालन चन्द्र तथा श्रावक-श्राविका हैं। चन्द्रप्रभ के यक्ष-यक्षी (श्याम एवं ज्वालामालिनी) का यथास्थान अंकन है।

शातिनाथ की १२वीं सदी ई० की एक प्रतिमा जबलपुर संग्रहालय में सुरक्षित है। पादपीठ पर दो सिंहों के मध्य में उनका लालन हिरण अंकित है। यक्ष गण्ड और यक्षी महामानसी भी अंकित किये गए हैं।

बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की १०वीं सदी की एक

प्रतिमा धुबेला संग्रहालय में है। ध्यानमुद्रा में अवस्थित इस प्रतिमा के मस्तक के ऊपर एक छत्र है। छत्र के दोनों ओर एक-एक हस्ति तथा उनके ऊपर तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ हैं। ये लघु तीर्थंकर प्रतिमाएँ संख्या में २२ हैं, इनमें पार्श्वनाथ एवं महावीर का अंकन नहीं है। पादपीठ पर उनका लालन शंख है। यक्ष-पत्नी (गोमेष एवं श्रुबिका) का यथास्थान अंकन है।

त्रिपुरी में नेमिनाथ की एक खंडित प्रतिमा प्राप्त हुई है। किन्तु अवशिष्ट भाग उसकी पहचान के लिए पर्याप्त है। इसमें बायी ओर पुरुष (यक्ष) और दायी ओर स्त्री (यक्षी) तथा मध्य में एक वृक्ष की डाल पर धर्मचक्र के समान गोलाकार आकृति उत्कीर्ण है। यक्ष-यक्षी के विभिन्न अंगों पर सुचिपूर्ण आभूषण हैं। आम के दो पत्तों के बीच चौकीनुमा आसन पर भगवान् नेमिनाथ ध्यानस्थ हैं। दोनों ओर लङ्गामनस्थ एवं ध्यानस्थ जिन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। कलात्मक दृष्टि से यह प्रतिमा उस समय की उत्कृष्ट जैन प्रतिमाओं में है। मुख-मुद्रा मुग्धता, नैसर्गिक सौन्दर्य एवं सजीवता में ओत-प्रोत है और शिल्पी के परिनिष्ठित कौशल की द्योतक है।

भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ अन्य तीर्थंकरों की तुलना में सर्वाधिक हैं। ये प्रतिमाएँ अड़मार, मल्लार (विलामपुर), कारीतलाई (जबलपुर), सिंहपुर (शहडोल) एवं शहपुरा (मण्डला) आदि स्थलों से प्राप्त हुई हैं।

उपलब्ध प्रतिमाओं में कारीतलाई से प्राप्त तथा महन्त घासीराम संग्रहालय, रायपुर में संगृहीत एक प्रतिमा ३ फुट ६ इंच ऊँची है। पार्श्वनाथ प्रतिमा का यह चतुर्विंशति पट्ट है : इसमें मूलनायक पार्श्वनाथ को ध्यानस्थ अवस्था में दिखाया गया है। उनके नेत्र अधनिमीलित हैं तथा उनकी दृष्टि नासाग्र पर स्थित है। उनकी ठुड़ी नुकीली, कान लम्बे एवं केश घुंघराले एवं उष्णीषबद्ध हैं। हृदय पर श्रीवत्स चिह्नान्वित है।

पार्श्वनाथ को सर्प पर विराजमान दिखाया गया है। सर्प की पूँछ नीचे लटक रही है तथा उसका सप्तकण छत्र तीर्थंकर के मस्तक के ऊपर छाया किये हुए है। सप्तकण छत्र के ऊपर कल्पद्रुम के लटकते हुए पत्ते और उनके ऊपर दुर्दुभिक हैं। फण के दोनों ओर महावतयुक्त गज उत्कीर्ण हैं। महावतों के शीर्ष भाग खंडित हैं। गजकों

नीचे दोनों पाश्वर्कों में एक-एक विद्याधर पुष्पमाला धारण किये हुए हैं। तीर्थंकर के दायें-बायें सौधर्मोद्भूत एवं ईशानेन्द्र चैत्र धारण किये हुए खड़े हैं। प्रतिमा के तीन ओर की पट्टियों पर अन्य तीर्थंकरों की लघु आकृतियाँ हैं। दाहिनी ओर की पट्टी पर ६ एवं बाईं ओर की पट्टी पर ८ प्रतिमाएँ हैं। शेष ६ तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ ऊपर की आड़ी पट्टी पर निर्मित थीं, जो अब खंडित हो गई हैं। इस प्रकार मूल-नायक को मिलाकर इसमें २४ तीर्थंकर हैं। प्रतिमा की चौकी पर दो सिंहों के मध्य में धर्मचक्र है। सिंहों के पास धरणेन्द्र एवं पद्मावती बैठे हैं। उनके मस्तक पर भी सर्प-फण है। यह प्रतिमा १०-११वीं सदी ई० की है।

जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर की ग्रामन प्रतिमाएँ कारीतलाई एवं लखनादौन (सिवनी) से प्राप्त हुई हैं। कारीतलाई से प्राप्त प्रतिमा में तीर्थंकर सिंहासन पर ध्यानस्थ बैठे हैं। उनके केश घुंघराले तथा उष्णीषबद्ध हैं तथा हृदय पर श्रीवत्स चिह्न अंकित है। प्रतिमा का तेजोमण्डलयुक्त ऊपरी भाग तथा वाम पार्श्व खंडित है। तीर्थंकर के दक्षिण पार्श्व की पट्टी पर उनके परिचारिक सौधर्मोद्भूत खड़े हैं तथा अन्य तीर्थंकरों की चार पद्मासनस्थ प्रतिमाएँ हैं। उच्च चौकी के मध्य में धर्मचक्र के ऊपर महावीर का लाछन सिंह अंकित है। लाछन के दोनों पाश्वर्कों में एक-एक सिंह चित्रित है। धर्मचक्र के नीचे एक स्त्री बैठी हुई है जिसके चरणों में पड़े रहने का आभास होता है। महावीर का यक्ष मातंग अजलिबद्ध खड़ा है किन्तु यक्षी सिद्धायिका चैत्र लिये हुए है। दोनों ओर पूजक भी प्रदर्शित किये गए हैं।

कलचुरिकालीन लखनादौन से प्राप्त महावीर की इस प्रतिमा के गुच्छकों के रूप में प्रदर्शित केशविन्यास उष्णीष-बद्ध है। उनकी दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर स्थित है। प्रशान्त नयन, सुन्दर भीहे, अनूठी नासिका के नीचे मन्द-स्मित ओष्ठ में ऐसा प्रतीत होता है मानो भगवान् महावीर की मृतवाणी जैसे स्फुटित होना ही चाहती है। सुगठित चिबुक, चेहरे की भव्यता एवं गरिमापूर्ण रचनाकुशल शिल्पी के सन्ने हाथों की परिचायक है। प्रतिमा के कर्ण लम्बे हैं जिन पर अंकित कर्णफूल अति शोभायमान हो रहे हैं। ग्रीवा की त्रिरैखा, सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्-चरित्र को प्रदर्शित करती है। सबसे ऊर्ध्व भाग पर त्रिछत्र

हैं जो त्रिशक्ति का प्रतीक है। त्रिछत्र में मोतियों की पाँच लटकनें हैं जो पंचतत्त्वों से परे त्रिकाल ज्ञान की परिचायक हैं। त्रिछत्र के नीचे सृष्टि के प्रतीक तीन पद्मों से गुम्फित त्रिछत्र है। मस्तक के पीछे आकर्षक प्रभामण्डल धर्मचक्र के रूप में है।

स्थानक मूर्तियाँ—कलचुरिकालीन तीर्थंकरों की स्थानक प्रतिमाएँ अल्प मात्रा में प्राप्त हुई हैं। उपलब्ध प्रतिमाओं में शातिनाथ की दो एवं महावीर की एक प्रतिमा है। कारीतलाई से तीर्थंकर की एक अन्य प्रतिमा उपलब्ध हुई है परन्तु लाछन के अभाव में उसकी पहचान संभव नहीं है।

कारीतलाई से प्राप्त शातिनाथ की एक प्रतिमा लगभग ३ फुट ७ इंच ऊँची है। यह कायोत्सर्गमुद्रा में खड़ी है। प्रतिमा का मस्तक खंडित है। हृदय पर श्रीवत्स का चिह्न, मस्तक के पीछे प्रभामण्डल, मस्तक के ऊपर त्रिछत्र एवं पुष्पमालाओं से युक्त विद्याधर तथा तीर्थंकर के दायें-बायें परिचारक इन्द्र आदि हैं। पादपीठ पर इनका लाछन मृग उत्कीर्ण है। चौकी पर यक्ष-यक्षी (गण्ड और महामानमी) हैं।

वहरीबंद में प्राप्त प्रतिमा १३ फीट ऊँची है। स्थानीय लोग इसे खनुग्रा देव के नाम से पूजते हैं। श्याम पाषाण में निर्मित इस प्रतिमा पर एक लेख है जिसका भावार्थ यह है कि यह प्रतिमा महामांताधिपति गोलहण देव राठौर के समय में बनी, जो कलचुरि राजा गयकर्णदेव के अधीन वहाँ का शासक था। गयकर्ण का काल १२वीं सदी ई० है। अतः इस प्रतिमा का काल १२वीं सदी ई० हुआ।

भगवान् महावीर की ४ फुट ४ इंच × १ फुट ६ इंच आकार की एक प्रतिमा जबलपुर से प्राप्त हुई है जो आज-कल फिलाडेल्फिया म्यूजियम आफ आर्ट संग्रहालय में है। १०वीं सदी ई० में निर्मित श्याम बादामी बलुआ प्रस्तर से निर्मित महावीर की यह नग्न प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में है। हृदय पर श्रीवत्स चिह्न अंकित है। मूर्ति के नीचे दो लघु पार्श्वरक्षक एवं उनके सामने एक-एक भक्त घुटने के भार पर बैठे हैं। महावीर के शीर्ष के प्रत्येक पार्श्व पर गधर्व का अंकन है। तीर्थंकर मस्तक के ऊपर त्रिछत्र है। छत्र के किनारे दो हस्ति अंकित हैं। मूर्ति में अंकित सिंह के कारण यह प्रतिमा महावीर की ज्ञात होती है।

द्वितीयक प्रतिमाएँ—कलचुरिकालीन तीर्थंकर प्रतिमाओं की आसन एवं स्थानक मुद्रा में द्वितीयक प्रतिमाएँ भी हैं। इनमें स्थानक प्रतिमाएँ अधिक हैं। अधिकांश प्रतिमाएँ कागिनलाई से प्राप्त हुई हैं तथा वे श्वेत बलुया प्रस्तर से निर्मित हैं।

कारीतलाई से प्राप्त द्वितीयक प्रतिमाएँ कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। इनमें से प्रत्येक में दो-दो तीर्थंकर कायोत्सर्ग अथवा ध्यानमुद्रा में अंकित हैं। उनकी दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर केन्द्रित है। तीर्थंकरों के साथ अष्टप्रतिहार्यों के अतिरिक्त उनके शासनदेवो तथा लांछन का अंकन है।

उपलब्ध प्रतिमाएँ ऋषभनाथ एवं अजितनाथ, अजितनाथ एवं संभवनाथ, पुष्पदेव एवं शीतलनाथ, धर्मेनाथ एवं शातिनाथ, मल्लिनाथ एवं मुनिसुव्रतनाथ तथा पार्श्वनाथ एवं नेमिनाथ की हैं।

शासनदेवियाँ

कलचुरि कला में जैन शासनदेवियों की प्रतिमाएँ स्थानक एवं आसन दोनों मुद्राओं में प्राप्त हुई हैं।

आसन प्रतिमाएँ—आसन प्रतिमाओं में अंबिका, चक्रेश्वरी, एवं पद्मावती की प्रतिमाएँ प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त सोहागपुर (सहडोल) से कुछ अन्य शासनदेवियों की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनका समीकरण लांछन के अभाव में संभव नहीं है।

देवी अंबिका तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षिणी है। यह सिंहारूढ़ एवं हाथों में आभ्रगुच्छ, पुष्पगुच्छ, शिशु एवं अंकुश लिए हुये चित्रित की जाती है। इसके आभ्रगुच्छ प्रतीक के कारण ही इसे आम्नादेवी कहा जाता है।

कलचुरिकालीन अम्बिका की प्रतिमाओं में रायपुर संग्रहालय में संरक्षित, कारीतलाई से प्राप्त प्रतिमा कलात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। सफेद छोट्टेदार रक्त बलुया प्रस्तर से निर्मित यह प्रतिमा ललितासन मुद्रा में सिंहारूढ़ है। अम्बिका का वाहन सिंह ही है। द्विभुजी इस प्रतिमा के दाहिने हाथ में आभ्रलुम्बि है एवं बायें हाथ से वह अपने कनिष्ठ पुत्र प्रियशंकर को पकड़े हुए है। प्रियशंकर उसकी गोद में बैठा हुआ है। अम्बिका का ज्येष्ठ पुत्र शुभंकर अपनी माता के दाहिने पाद के निकट बैठा हुआ है। अम्बिका का मुस्कराता हुआ मुख सौंदर्यपूर्ण है। मस्तक

के ऊपर स्थित आभ्रवृक्ष वाला भाग खंडित है। प्रतिमा का केशविन्यास सुन्दर है। सर्वाभरण भूषित इस प्रतिमा के दोनों पार्श्वों में एक-एक परिचारिकाएँ खड़ी हैं। दक्षिण पार्श्व की परिचारिका अपने वाम हस्त में अधोवस्त्र पकड़े है, उसके दक्षिण हस्त में सम्भवतः पद्म है। प्रतिमाविज्ञान की दृष्टि से यह मूर्ति १०वीं सदी की ज्ञात होती है।

तेवर के बालसागर नामक सरोवर के मध्य में स्थित एक आधुनिक मंदिर में एक उत्कृष्ट अभिलिखित शिलापट्ट सुरक्षित है। यह अनंकृत स्तम्भों द्वारा तीन कक्षों में विभक्त है। मध्यवर्ती कक्ष में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की चतुर्भुज यक्षी पद्मावती पद्मामन में आसीन है। उसके ऊपरी दोनों हाथों में सनाल पद्म और बाएँ निचले हाथ में पूर्ण कलश है। निचला दायाँ हाथ अभय मुद्रा में है। मस्तक के ऊपर सात फणों से युक्त नाग उत्कीर्ण है जो पार्श्वनाथ का लांछन है। शेष दो कक्षों में विविध आयुध लिए चतुर्भुजी यक्षिण्या उत्कीर्ण है। निचले भाग पर १०वीं शती ईसवी की नागरी में 'श्री वीरनन्दि आचार्येन प्रतिमाया करापिता' लेख उत्कीर्ण है। इससे पता चलता है कि इस पट्ट का निर्माण आचार्य वीरनन्दि ने कराया था।

सोहागपुर की दो मूर्तियों में से प्रथम मूर्ति सुपाश्व अथवा भगवान् पार्श्वनाथ (कलिका या पद्मावती) से संबंधित है क्योंकि देवी के मस्तक पर विराजित जिन प्रतिमा के मस्तक के ऊपर सर्पछत्र है। देवी के मस्तक पर भी सर्पछत्र है। द्वादशभुजी इस प्रतिमा के वामहस्तों में चक्र, वज्र, परशु, अग्नि, शर तथा छठा हस्त वरदमुद्रा में प्रदर्शित है। दक्षिण हस्तों में धनु, अंकुश, पाश, दंड, पद्म तथा एक हाथ खंडित है।

स्थानक प्रतिमाएँ—जैन शासन देवी की स्थानक प्रतिमाएँ अल्पमात्रा में मिली हैं। इनमें कारीतलाई से प्राप्त तथा रायपुर संग्रहालय में सुरक्षित अंबिका की प्रतिमा महत्वपूर्ण है।

अंबिकादेवी आभ्रवृक्ष के नीचे एक सादी चौकी पर त्रिभंगमुद्रा में खड़ी है। द्विभुजी प्रतिमा के दाहिने हाथ में आभ्रलुम्बि है एवं बाएँ हाथ में वह कनिष्ठ पुत्र प्रियशंकर को गोद में उठाये है, ज्येष्ठ पुत्र शुभशंकर पैरों के निकट खड़ा है। आभ्रवृक्ष पर नेमिनाथ की छोट्टी-सी पद्मासनस्थ प्रतिमा है। वृक्ष के दोनों ओर खड़ी एक-एक विद्याधरी

पुष्पवृष्टि करती दिखाई गई है। यक्षिणी का वाहन सिंह उसके पैरों के पीछे है।

श्रुत देवियाँ

जैन देवी-देवताओं में ज्ञान की अधिष्ठात्री सरस्वती देवी का विशिष्ट स्थान है। दिगम्बर संप्रदाय के अनुसार इसका वाहन मयूर एवं श्वेताम्बर संप्रदाय के अनुसार हंस है।

कलचुरि कला में श्रुत-देवियों की प्रतिमाएँ अत्यल्प हैं। कारीतलाई से सरस्वती की एक मूर्ति मिली है जो रायपुर संग्रहालय में सुरक्षित है। प्रतिमा अत्यन्त खडित है। देवी का मस्तक और हाथ खडित है। प्रभामण्डल पूर्ण एवं स्पष्ट है। ललितासनारूढ देवी के तन पर विभिन्न आभूषण हैं। चतुर्भुजी देवी के दक्षिण निचले एवं वाम ऊर्ध्व हस्त में धोणा है। दोनों ओर विद्याधर है।

अन्य चित्रण

इसके अन्तर्गत सर्वतोभद्रिका एवं सहस्र जिनविम्ब का वर्णन किया गया है। एक सर्वतोभद्रिका प्रतिमा कारीतलाई से प्राप्त हुई है। इसका शीर्ष भाग शिखरयुक्त है तथा इसके चारों ओर एक-एक तीर्थंकर पद्मासन में ध्यानस्थ बैठे हैं। चार तीर्थंकरों में से केवल पार्श्वनाथ ही स्पष्ट-रूपेण पहिचाने जा सकते हैं। अन्य तीन सम्भवतः ऋषभनाथ, नेमिनाथ एवं महावीर हैं, क्योंकि सर्वतोभद्रिका प्रतिमाओं में चार विशिष्ट तीर्थंकरों के चित्रण की ही परम्परा है।

रायपुर संग्रहालय में कारीतलाई से प्राप्त एक स्तम्भाकृति शिल्पखण्ड पर सहस्र जिनविम्ब उत्कीर्ण है। यह जैन ग्रन्थों में वर्णित सहस्रकूट जिनचैत्यालय का प्रतीक है। इसके चारों ओर छोटी-छोटी बहुत-सी जिन प्रतिमाएँ

अंकित हैं। सभी जिनप्रतिमाएँ पद्मासनस्थ हैं तथा वे सहस्र की संख्या में हैं। सभी के मस्तक के पीछे पद्माकृति एवं तेजोमंडल है।

कलचुरिकालीन मूर्तियों के समस्त उदाहरणों का सर्वेक्षण यह सिद्ध करता है कि इनके रूपायन में शिल्पकारों ने सुनिश्चित परम्परा और मान्य प्रतिमालक्षण का अनुगमन किया है।

डाहल क्षेत्र की कला उच्चकोटि की है। महाकोशक की कला में रतनपुर क्षेत्र की कला में रूढ़िवादिता अधिक एवं मौलिकता कम है। यहाँ की कला में हमें मौलिकता एवं चारुता तथा भावाभिव्यक्ति के वैसे दर्शन नहीं होते जैसे त्रिपुरी एवं उसके निकटवर्ती क्षेत्रों की कला में होते हैं।

दक्षिण कोशल के शिल्पी एक विशेष प्रकार के काले प्रस्तर का प्रयोग करते थे। यहाँ की मूर्तियों के ओष्ठ पूर्वापेक्षा लम्बे और पतले हैं। मुखमण्डल की गोलाई और लम्बाई के मान में भी अन्तर मिलता है।

त्रिपुरी शैली की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं जैसे—मूर्ति का मुखमण्डल गोल न होकर अंडाकार है। ठुड्डी कुछ उभरी और नुकीली है। भौंहों, पलकों एवं नासिका से अंकन में कुछ नुकीलापन है। ओष्ठ, वक्षस्थल, कटिप्रदेश इत्यादि के अंकन में कलाकार ने सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है।

विवेच्य गुप्तिन शिल्पकला में यद्यपि रूप-रम्यता के साथ सामान्य से सामान्य बातों को प्रकट करने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है तथापि इस मूर्तिकला पर गुप्तकालीन कला का प्रभाव निश्चित रूप से दृष्टिगोचर होता है। कलचुरिकालीन जैन प्रतिमाओं में चढ़ेलों की अपेक्षा अधिक सौकुमार्य, उत्तम अगविव्यास एवं सुन्दर भावों की अभिव्यक्ति के साथ-साथ शरीरगत एवं भागवत लक्षण उत्कृष्ट हैं। कला में मौलिकता के दर्शन भी होते हैं।

विशालकीर्तिरचित प्रक्रियासार कौमुदी

□ श्री अग्ररचन्द नाहटा, बीकानेर

जैन साहित्य अपनी विशालता और विविधता की दृष्टि से भारतीय साहित्य में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि जैन धर्मानुयाइयों की संख्या वैदिक सनातनी हिन्दुओं की अपेक्षा बहुत कम है। इतनी अल्प संख्या वाले जैन समाज का इतना विशाल साहित्य निर्माण और संरक्षण बहुत ही उल्लेखनीय रहा है। जैनों का प्राथमिक साहित्य प्राकृत भाषा में है। विक्रम की पहली-दूसरी शताब्दी में जैन विद्वानों ने संस्कृत में भी लिखना प्रारम्भ किया, पर यह बहुत ही उल्लेखनीय है कि जैनों का प्राथमिक संस्कृत साहित्य भी बहुत प्रौढ़ है। महामना उमास्वाति, सिद्धमेन, समन्तभद्रादि रचित संस्कृत साहित्य हमका प्रबल प्रमाण है। इसके दो प्रधान कारण हैं। पहला तो यह है कि बहुत से जैनाचार्य और विद्वान् ब्राह्मण परम्परा से आये, अतः संस्कृत भाषा पर उनका अच्छा अधिकार रहा। दूसरा कारण है समकालीन विद्वानों से टक्कर लेना। कारण, इस समय का वातावरण दार्शनिक विषयों पर गंभीर चर्चा व राजसभाओं में प्रतिष्ठा प्राप्तियर्थ संस्कृत भाषा व जैनैतर साहित्य पर भी अच्छा अधिहार होना आवश्यक था।

विश्व में संस्कृत के समान व्याकरणादि की दृष्टि से कोई भी भाषा इतनी प्रौढ़ और समृद्ध नहीं है। पाणिनी-व्याकरण के बाद तो संस्कृत बहुत चुरत व कड़े नियमों में আবद्ध हो गई, वैदिक संस्कृत से कुछ अलग-सी पड़ गई। संस्कृत भाषा में साहित्य रचना करने के साथ-साथ जैन विद्वानों को व्याकरण, कोश आदि विषयक ग्रन्थ बनाना भी आवश्यक हो गया, अतः सर्वप्रथम जैनेन्द्र व्याकरण, फिर शाकटायन व्याकरण की रचना पूज्यवाद और शाकटायन द्वारा हुई। जैन व्याकरण ग्रन्थ की पूर्णता कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र द्वारा हुई। वैसे छोटे-बड़े सैकड़ों ग्रन्थ जैन विद्वानों ने व्याकरण विषयक लिखे हैं। उनमें कुछ तो जैनेतर व्याकरण ग्रन्थों की टीकाओं के रूप में हैं और कुछ मौलिक हैं। इस विषय में कतिपय जैन विद्वानों के निबन्ध पहले भी प्रकाशित हुए हैं पर गत वर्ष में श्री कालूगणी जन्म शताब्दी महोत्सव समिति, छापर द्वारा

संस्कृत-प्राकृत जैन व्याकरण और कोश की परम्परा नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसमें जैन संस्कृत व्याकरण ग्रन्थों पर कई विद्वानों के निबन्ध छपे हैं। इस ग्रन्थ के पृष्ठ १२७ में सारस्वत व्याकरण की टीकाओं में प्रक्रिया वृत्ति का परिचय देने हुए डा० जानकी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है : "अरतरगच्छी मुनि विशालकीर्ति ने सत्रहवीं शती में प्रक्रियावृत्ति की रचना की, बीकानेर में श्री अग्ररचन्द नाहटा के संग्रह में इसकी हस्तलिखित प्रति है।"

डा० जानकीप्रसाद द्विवेदी को इस रचना की कोई प्रति नहीं मिली, इसीलिये केवल इतना-सा उल्लेख किसी अन्य आधार से कर दिया। जब कालूगणी शताब्दी का आयोजन हो रहा था, तब सरदारशहर के डा० छगनलालजी शास्त्री ने मुझसे पूछा कि सारकौमुदी नामक जैन व्याकरण ग्रन्थ की क्या आपको जानकारी है? तो मैंने उन्हें अपने संग्रह की विशालकीर्तिरचित प्रक्रियासारकौमुदी की प्रतियों का विवरण भेज दिया।

आचार्य तुलसी ने कालूगणि के जीवनवृत्त के पृष्ठ ४१ पर लिखा है कि आर्यवर (कालूगणि) ने यह अनुभव किया कि सिद्धान्तचन्द्रिका का पूर्वार्द्ध अपर्याप्त है। सारस्वत का उत्तरार्द्ध भी अपर्याप्त है। अतः वे अपने शिष्यों को सारस्वत का पूर्वार्द्ध और सिद्धान्तचन्द्रिका का उत्तरार्द्ध पढ़ाते थे। कुछ वर्षों बाद उनके मन में इसका विकल्प खोजने की प्रेरणा जागी। प्रयत्न शुरू हुआ। मुनि मगनमल जी बहुत दूरदर्शी, सूक्ष्मबुद्धि के धनी थे। वे यतियों के उपाश्रय में जाते, उनके पुस्तक भंडार देखते और जो हस्त-लिखित ग्रन्थ प्राप्त होते, उन्हें ले आते। उन्होंने हस्त-लिखित ग्रन्थों का महत्वपूर्ण संग्रह किया। उनमें अनेक दुर्लभ ग्रन्थ हैं। लिपि-सौंदर्य की दृष्टि से भी वे बहुत महत्वपूर्ण हैं। कुछ श्रावकों ने भी यतियों के पुस्तक भंडारों से अनेक ग्रन्थ खरीदे। इस प्रकार जैन साधुओं और श्रावकों के पास हस्तलिखित ग्रन्थों का एक अच्छा संग्रह हो गया।

कालूगणि को सारकौमुदी की एक प्रति प्राप्त हुई। उसे पाकर आचार्यवर को संतोष हुआ।

भाद्रा में मुनि चम्पालालजी को विशाल-कीर्तिगणिकृत शब्दानुशासन-अष्टाध्यायी की एक प्रति मिली, वे उसे प्राप्त कर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उस ग्रन्थ को आचार्यवर को भेंट किया। आचार्यवर ने उसे देव आश्चर्य मिश्रित हर्ष प्रकट किया और उस उपलब्धि के लिए उन्हें साधुवाद दिया।

इस ग्रन्थ के पृष्ठ ४६ में तुलसीगणि ने लिखा है कि विशाल-शब्दानुशासन के परिभाषासूत्र सरल थे, हेमशब्दानुशासन से कठिन। पं० रघुनन्दनजी दोनों को पढ़ाते थे। आचार्यवर भी दोनों को देखते रहते थे। उनकी यह धारणा बन गई कि हेमशब्दानुशासन के सूत्र कठिन हैं, उसका प्रक्रिया ग्रन्थ भी प्राप्त नहीं है इसलिए विशाल-शब्दानुशासन में ही आवश्यक सशोधन कर उसे अध्ययन में प्रयुक्त करना चाहिए।

मुनि चौथमलजी आचार्यवर की इस इच्छा की सृष्टि में लग गए। वे विशाल-शब्दानुशासन के अध्ययन में लगे। पं० रघुनन्दनजी का उन्हें सहयोग मिला। विशाल शब्दानुशासन के परिष्कार का कार्य प्रारम्भ हो गया।

विशाल शब्दानुशासन को परिष्कृत करने का उपक्रम चला था, पर उसमें इतना परिवर्तन हो गया कि एक नया ही व्याकरण ग्रन्थ बन गया। उसका नाम भिक्षुशब्दानुशासन रखा गया। मुनि चौथमलजी ने भिक्षुशब्दानुशासन के प्रक्रिया ग्रन्थ के रूप में कालकौमुदी की रचना की। पंडितजी ने भिक्षुशब्दानुशासन का पद्यबद्ध लिगानुशासन तैयार किया। न्यायदर्पण, उणादिपाठ, धातुपाठ और गणपाठ भी तैयार हो गया। इस प्रकार देखते-देखते महाकाव्यकरण सर्वांग परिपूर्ण हो गया।

यहाँ इतना लंबा उद्धरण देने का आशय यह है कि जैन संप्रदाय का व्याकरण संबंधी कार्य सारकौमुदी और विशाल-शब्दानुशासन पर आधारित है। इनमें से विशाल-शब्दानुशासन की प्रति के विषय में मैंने मुनि नथमलजी से पूछताछ की, पर उसकी प्रति का पता नहीं चला। नाम को देखते हुए वह विशालकीर्ति की ही विशाल रचना है। विशाल-कीर्ति की सारकौमुदी की प्रति का विवरण डा० नथमलजी टाटिया द्वारा प्राप्त किया। हमारे संग्रह की प्रक्रियासारकौमुदी की तीन हस्तलिखित प्रतियों से

मिलान करके देखा तो दोनों रचनाएं एक ही सिद्ध हुईं। इस महत्वपूर्ण जैन व्याकरण ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियाँ बहुत ही कम प्राप्त हैं। हमारे संग्रह की प्रतियाँ १८वीं शती के पूर्वार्द्ध की लिखी हुई हैं। अंतिम तीसरी प्रति के अंत में लिखा है—“वा० हेमहर्षगणिभिः। वा० यशोलाभ गणिभ्यप्रदत्तया ॥३॥”

प्रथम प्रति समास प्रक्रिया के अंत में लिखा है—इत्याचार्य श्री सागरचंद्र सूरि संतानीय वाचनाचार्य श्री विशालकीर्तिगणि विरचितायां प्रक्रियासार कौमुद्या समास प्रक्रिया।

वाचनाचार्य श्री यशोलाभ गणीनामंतेवासी पं० वृत्ति-सुंदर मुनि वाचनार्थ ॥ स्यादि प्रक्रिया समाप्ता सार कौमुद्यामिति ॥१ वृत्ति।

बीच की न० २ प्रति द्विवक्त प्रक्रिया की है। सभी प्रतियों में इस रचना का नाम “प्रक्रियासारकौमुदी” लिखा हुआ मिनता है एवं प्रारम्भिक मंगलाचरण श्लोक में भी यही नाम है, अतः सारकौमुदी यह नाम पूरा नहीं है। इसी कारण जब मुझसे सारकौमुदी के विषय में पूछा गया तो मैंने लिखा कि इस नाम का तो कोई ग्रंथ नहीं, पर प्रक्रिया-सारकौमुदी की प्रति तो हमारे यहाँ है। हमारे संग्रह की तीनों प्रतियाँ उदहीभक्षित हैं और प्रथम प्रति में तो प्रारम्भिक पत्रों का काफी अंश खंडित है। इस रचना का आदि और अंत इस प्रकार है—

आदि—श्री सर्वज्ञ समानभ्य, गौतमाहि मुनीन् गुरुन्।

सारस्वतानां कुर्मः प्रक्रियासारकौमुदीम् ॥१॥

अंत्य प्रशस्ति—अनंतत्वन् शक्यन्ते, शब्दा सर्वेऽनुशासितुम्।

अस्माभिरुक्ताः संक्षिप्य, बालव्युत्पत्तिसिद्धये ॥१॥

अव्याकृतानि सूत्राणि ग्रंथ बाहुल्य भीतितः।

सूत्रानुक्रम वृत्ती तु व्याकरिष्यामि तान्यसहम् ॥२॥

असद् वचस्तप्तोहन्त्री, सचचकोर प्रमोददा।

विशालकीर्तिगणिभिः प्रक्रियेभं प्रकाशिता ॥३॥

ज्ञानप्रमोदमाक् सस्थाज्ञप्राप्त श्री शारदावरः।

विशालकीर्ति योऽधीते प्रक्रियासारकौमुदीम् ॥४॥

जयति सकलभूतिविश्वविख्यात कीर्तिः,

सुरगिरी समधीर स्तजितानङ्ग वीरः।

विदित निखिल भावः श्री महावीर देवः,

सुदलित दुरितोद्यः प्रीणितः प्राणि सचः ॥५॥

(शेष पृष्ठ १३६ पर)

प्रमाणप्रमेयानुप्रवेश : एक महत्वपूर्ण कृति

□ श्री शीतलचन्द्र जैन, वाराणसी

जैन सिद्धान्त भवन, आरा की 'प्रमाणप्रमेयानुप्रवेश' शीर्षक पाण्डुलिपि को श्रद्धेय डा० दरबारीलाल जी कोठिया के यहाँ देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। डा० कोठिया जी ने वह पाण्डुलिपि मुझे दे दी और कहा कि इसका सम्पादन आप करें। इसके लिये वे मुझे निरन्तर प्रेरणा भी करते रहे। पर समय न मिलने से मैं उसकी ओर पूरा ध्यान न दे सका। इधर गत अगस्त माह के अन्तिम सप्ताह में अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद् के तत्वावधान में गोकुलचन्द्र जी द्वारा 'अनुसंधान एवं सम्पादन प्रशिक्षण शिविर' का आयोजन किया गया। उसमें मुझे उसके सम्पादन के लिये और अधिक उत्साह मिला। फलस्वरूप इस ग्रन्थ का सम्पादन की दृष्टि से अध्ययन करने का मुझे सुअवसर प्राप्त हुआ।

ग्रन्थ का अन्तः परिचय

यह लघुकाय ग्रन्थ न्याय विषय का है। इसमें पङ्कदर्शनों के प्रमाण और प्रमेयों का सुन्दर और सरल संस्कृत भाषा में परिचय कराया गया है। ग्रन्थ का प्रारम्भ एक मंगल श्लोक से हुआ है, जिसमें अन्तर्गततुष्टय में युक्त तीर्थंकर को नमस्कार किया गया। वह मंगल श्लोक इस प्रकार है—

सादन्त समाध्यात व्यक्तान्तर्गततुष्टयम्।

त्रैलोक्ये यस्य साम्राज्यं तस्मै तीर्थंकरे नमः॥

मध्य मंगल

ग्रन्थ के मध्य में भी शुभचन्द्रदेव और माणिक्यनन्दि आचार्य को नमस्कार किया गया है। मध्य मंगल श्लोक इस प्रकार है—

जयतिशुभचन्द्रदेवः कङ्कणपुण्डरीकवनमातण्डः।

चन्द्रत्रिङ्गूरो राट्ठान्त पयोविपारगोबुधविनुतः॥

नमो माणिक्यनाथाय नाकनाथाचिताग्रये (दिबः)।

ग्रन्थ के अन्त में एक पुष्पिका वाक्य है जिसमें लिखा है कि 'इदं पुस्तकं परिधाविनामसम्बित्सरे दक्षिणायणे श्रीष्मन्नां निज आषाढमासे कृष्णपक्षे दशम्याम् गुरुवारे दिवाद्यशघटिकाया वेणुपुरस्थितपत्नेचारी मठस्य श्री पत्यर्चक गौड सारस्वत ब्राह्मण विद्वद्कर्मी वेदभूति वामननामशर्मण पंचमात्मजः केशवनामशर्मणा लिखितमितिसमाप्तमित्यर्थः, श्वास्तु'।

उक्त पुष्पिका वाक्य से प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ

को केशव नामक ब्राह्मण विद्वान् ने लिखा है। पुष्पिका वाक्य के पूर्व पङ्कदर्शन समुच्चय की 60 कारिकाएँ भी उल्लिखित हैं। प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार को इस ग्रन्थ के लिखने की प्रेरणा पङ्कदर्शन समुच्चय से प्राप्त हुई है क्योंकि शैली भी उसी प्रकार की अपनाई गई है।

प्रतिपरिचय

ग्रन्थ की इस प्रति में 13 × 6 इंच साइज के कुल 20 पत्र हैं। एक पत्र में एक और 10 पंक्तियाँ तथा एक पंक्ति में 32 अक्षर हैं। लिखावट शुद्ध है।

विषय परिचय

ग्रन्थ में जैन, बौद्ध, चार्वाक, नैयायिक-वैशेषिक, सांख्य और मीमांसक इन छह दर्शनों के प्रमाण-प्रमेयों का परिचय कराया गया है। ग्रन्थकार ने 'इति पङ्कदर्शनप्रमाणप्रमेय संग्रहः' इस प्रकार उल्लेख कर स्पष्ट भी कर दिया।

जैनदर्शन

सर्वप्रथम आर्हतमत का प्रतिपादन करते हुये स्वामी समन्तभद्राचार्य के प्रमाण के लक्षण का अनुसरण किया गया है। लिखा है कि—'तावदर्हणोऽप्रतिहतशासनस्य तत्त्वज्ञान प्रमाणम्। तद् द्विविधं प्रत्यक्षं परोक्षञ्च। स्पष्टमाद्यमस्पष्टमन्यत्। त्रिधा च गकलोत्तर-प्रत्यक्ष परोक्ष-भेदात्। करणक्रमव्यवधानापोढ सकलप्रत्यक्षम्। क्रमविवत करणक्रमव्यवधानापोढ विकलप्रत्यक्षम्। इन्द्रियमनो-व्यापाराभिगृहेतराश्रयिषे परोक्षम्।'।

आगे नय का स्वरूप एवं उसके भेदों और सप्तमंगी का विवेचन किया गया है। अन्त में द्रव्य, अस्तिकाय और पदार्थ को प्रमेय कहा है। लेखक ने इसमें एक जगह जैन-दर्शन के प्रति कितनी महत्वपूर्ण बात कही है कि "अस्माभिर्बुधनैस्सविवेकमहापर्वतारहेरुमततत्त्वशिखरजिनपुरनिवा-भिर्जनलोकेरयं इष्टनिवृत्तिनगरीगगनमार्गः।"

वैशेषिक दर्शन

इस दर्शन में मान्य प्रमाण के दो भेदों का उल्लेख करते हुये लिखा है कि "प्रत्यक्षलैंगिके प्रमाने। तत्रेन्द्रिय मनोर्यसन्निकर्षादुत्पन्ना बुद्धिः प्रत्यक्षम्। आत्मेन्द्रियेणन्द्रियं मनसा मनोर्येन यदा प्रसज्यते तदोत्पन्ना स्पष्ट-प्रतिभासरया बुद्धिरेव प्रमाणम्।" द्रव्य, गुण, कर्मावि प्रमेयों का भी परिचय क्रमशः कराया गया है।

न्याय-दर्शन

नैयायिकों के मोलह पदार्थों का विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है। प्रमाण का लक्षण करते हुये प्रतिपादन किया गया है कि—

“तत्रार्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम् । तच्चतुर्धा । तद्यथा प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ।”

इसी तरह अन्य पदार्थों का इसमें प्रतिपादन है।

सांख्य दर्शन

इस दर्शन के पच्चीस तत्त्वों का उल्लेख करते हुये फिर प्रमाणों का परिचय कराया गया है। अन्त में उसके प्रमेयों का निरूपण किया गया है।

मीमांसा दर्शन

मीमांसा दर्शन के प्रमाण-प्रमेयों का परिचय कराते हुये लिखा है कि—“मीमांसकप्रवादे प्रमाणानि प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्यभावाः ।” इसके बाद छहों प्रमाणों के स्वरूप का विवेचन मीमांसाश्लोकवार्तिक तथा शाबरभाष्य को आधार बना कर लिया गया है। पश्चात् मीमांसक दर्शन में स्वीकृत प्रयोगों का भी दिग्दर्शन कराया गया है।

बौद्ध दर्शन

इस दर्शन के चारों दार्शनिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का सुन्दर विवेचन है। मोक्ष में वैमत्य होने के कारण लिखा है कि—“वैभाषिक, सौलान्तिक योगाचारमाध्यमिकाः चत्वारो बौद्धाः । तेषु त्रयाणां मोक्षकल्पना । माध्यमिकस्य नेतदस्ति, सर्वशून्यत्वात् ।”

चार्वाक दर्शन

इस दर्शन के प्रमाण-प्रमेय का पूरा विवेचन करते हुए कहा है कि—“चार्वाकराद्धान्ते प्रत्यक्षमेव प्रमाणम् । तदपि भूतविकारविशेषमनाधिगताधाधिगमलक्षणम् । पृथिव्या-प्तेजोवायुरिति प्रमेयम् ।”

ग्रन्थकार की विशेषता यह है कि वह टीम-टिम के बिना ही उस दर्शन के मान्य प्रमाण और प्रमेय का संक्षेप में ही कथन करता है, ताकि तत् तत् दर्शन का प्राथमिक जिज्ञासु उस दर्शन के प्रमाणों और प्रमेयों से परिचित हो जाये।

उक्त ग्रन्थ के अन्तः परीक्षण से ज्ञात होता है कि ग्रन्थ यद्यपि लघुकाय है फिर भी भारतीय दर्शन में विद्वानों की दृष्टि में जो स्थान हरिभद्र सूरिकृत षड्दर्शन समुच्चय का है, वही स्थान न्याय के छात्रों में इस प्रमाणप्रमेयानुप्रवेश का होना चाहिये। इस लेख के माध्यम से यह जानकारी

चाहता है कि इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपियाँ जिन ग्रन्थालयों में हों उनके व्यवस्थापक महानुभाव हमें उमकी मूचना करने की अवश्य कृपा करें। प्राप्त पाण्डुलिपि कुछ स्वलिप्त और अशुद्ध जान पड़ती है। अतएव हमारा प्रयास है कि इस ग्रन्थ का सुन्दर सम्पादन, संशोधन और हिन्दी रूपान्तर अन्य अनेक प्रतियों को सामने रख कर किया जाय। आशा है कि उत्तर तथा दक्षिण के सरस्वती-भवनो के अध्यक्ष महोदय हमारे इस प्रयास में अवश्य ही सहयोग करेंगे।

स्याद्वान महाविद्यालय,
भदनी, वाराणसी

(पृष्ठ १३४ का शेषांश)

उपर्युक्त प्रशस्ति व पुष्पिका संस्पष्ट है कि विशाल-कीर्ति वाचनाचार्य पद से विभूषित थे। वे खरतरगच्छ की सागरचंद्रमूरि शाखा की परंपरा के विद्वान् मुनि ज्ञान-प्रमोद के शिष्य थे। खरतरगच्छ साहित्यसूची के अनुसार प्रक्रियासारकौमुदी की एक प्रति स्व० श्री जिन चारित्रमूरि संग्रह में भी है। इनकी दूसरी रचना सारस्वतप्रकाश की २८ पत्रों की प्रति नरदारशहर के गर्धैयाजी के संग्रह में है।

विशालकीर्ति के शिष्य क्षेमहंसरचित चदनमलयागिरि चौ० सं० १७०४ मे माचौर में रचित प्राण है। विशाल-कीर्ति के गुरुभ्राता गुणनदन की कई रचनाएँ सं० १६६५ से १६६७ तक की प्राप्त हुई हैं। विशालकीर्ति के गुरुज्ञान-प्रमोद की वाग्मयालकार वृत्ति एक महत्वपूर्ण प्रसिद्ध रचना है। विशालकीर्ति का समय सत्रहवीं शती का उत्तरार्द्ध निश्चित है।

उनकी जिस विशाल शब्दानुशासन नामक महत्वपूर्ण रचना का उल्लेख तुलसीगण ने किया है उसकी हस्त-लिखित प्रति की खोज आवश्यक है। प्रक्रियासारकौमुदी की हमारे संग्रह की ३ प्रतियों की पत्र संख्या क्रमशः ६०-५८-५६ कुल ११७ है। प्रति पृष्ठ १५ पंक्तियाँ व प्रति पक्ति में ४८ अक्षर हैं। इससे रचना का परिमाण ५२०० श्लोक के लगभग होता है। विशालशब्दानुशासन का परिमाण प्रति मिलने से ही ज्ञात हो सकता है।

विशालशब्दानुशासन की प्रति कहीं और किसके पास है, इस पर आचार्य तुलसीजी प्रकाश डालें एवं इसका महत्व प्रकट करें तो अच्छा हो। □ □



साकार भाल्लव : श्री साहूजी राष्ट्रकवि रामवारी सिंह वितकर एवं श्री सीताराम सेकसरिया के साथ



राष्ट्र के सर्वोच्च पुरस्कार के प्रतिष्ठापक श्री साहूजी
 [प्रथम पुरस्कार समर्पण के अवसर पर डा० सत्युषातिथ्य एवं पुरस्कार विजेता मलयालम कवि श्री गंकर कुरुप के साथ]